वैदिक-छन्दोमीमांसा

युधिष्ठिर मीमांसक

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला सं०—३०

वैदिक-छन्दोमीमांसा

[संशोधित-परिवर्धित संस्करण]

लेखक—

पं० युधिष्ठिर मीमांसक

द्वितीयवार १००० प्रति

श्रावण २०३६ वि०
जुलाई १९७९ ई०

मूल्य १२-००

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण रक्षा तथा प्रचार, तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा

प्रकाशकः—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

मुद्रकः—

सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

लेखक का निवेदन

[प्रथम-संस्करण]

वेद के विद्वानों पाठकों और स्वाध्यायशील महानुभावों के करकमलों में "वैदिक छन्दोमीमांसा" ग्रन्थ उपस्थित कर रहा हूँ। वैदिक छन्दःशास्त्र का विषय अतिगम्भीर और बहुत विस्तृत है। प्राचीनकाल में वैदिक छन्दः-सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ विद्यमान थे। वे प्रायः कराल काल के चक्र में लुप्त हो गये। इस समय उनमें से कतिपय ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के ही नाम विद्यमान संस्कृत-वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं।[1]

इस समय निम्न आठ ऐसे छन्दोग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें वैदिक छन्दों का प्रपञ्च उपलब्ध होता है—

१—ऋक्प्रातिशाख्य	शौनक-प्रोक्त
२—ऋक्सर्वानुक्रमणी	कात्यायन-प्रोक्त
३—निदानसूत्र	पतञ्जलि-प्रोक्त
४—उपनिदानसूत्र	गार्ग्य-प्रोक्त
५—शाङ्खायन श्रौत	शाङ्खायन-प्रोक्त
६—ऋगर्थदीपिका-अन्तर्गत छन्दोऽनुक्रमणी[2]	वेङ्कटमाधवकृत
७—छन्दःसूत्र	पिङ्गल-प्रोक्त
८—छन्दःसूत्र	जयदेव-प्रोक्त

इन आठ ग्रन्थों में से प्रथम ६ ग्रन्थों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय अन्य-अन्य हैं, इनमें प्रसंगात् वैदिक छन्दों के लक्षण और प्रपञ्च दर्शाये हैं। केवल

---

१. द्र०—यही ग्रन्थ, पृष्ठ ५९—६६।

२. वेङ्कट माधवकृत-ऋगर्थदीपिका (ऋग्भाष्य) के अन्तर्गत निरूपित स्वर आदि ८ विषयों की अनुक्रमणियां 'ऋग्वेदानुक्रमणी' के नाम से पृथक् प्रकाशित की हैं। इनकी विस्तृत हिन्दी-व्याख्या श्री पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि, आचार्य, पाणिनि विद्यालय, (रा० ला० क० ट्रस्ट) बहालगढ़ ने की है। इनमें वेदविषयक अत्यन्त गूढ़ एवं महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है।

अन्तिम दो ग्रन्थ ही ऐसे हैं, जो विशुद्ध रूप से छन्दोविषयक हैं। इन दोनों में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त एक शुक्लयजुर्वेदीय 'सर्वानुक्रमणी' नामक ग्रन्थ और भी है, जिसके पञ्चम अध्याय में वैदिक छन्दों का निर्देश उपलब्ध होता है। याजुष सर्वानुक्रमणी अप्रामाणिक (जाली) ग्रन्थ है। कात्यायन के नाम पर यह विक्रम की ११वीं शती के बाद लिखा गया है।[1] इसका पञ्चमाध्याय तो निश्चित ही इस कल्पित ग्रन्थ का अवयव नहीं है।[2] वह तो उत्तरकाल में ऋक्सर्वानुक्रमणी से अक्षरशः लेकर जोड़ दिया गया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के पाठ में, जो कि यहाँ असम्बद्ध अंश था, उसमें प्रकृत ग्रन्थ के अनुकूल परिवर्तन भी नहीं किया गया। याजुष सर्वानुक्रमणी के इस प्रकरण में एक सूत्र है—

तान् अनुक्रामन्त एव उदाहरिष्यामः।

याजुष सर्वानुक्रमणी में इस अध्याय के अनन्तर मन्त्रों के किन्हीं छन्द आदि का निर्देश नहीं है। अतः यहां उदाहरिष्यामः भविष्यार्थक क्रिया असंबद्ध है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में पहले छन्दों के लक्षण लिखे हैं, तथा तत्पश्चात् ऋङ्मन्त्रों के ऋषि-देवता-छन्दों का निर्देश किया हैं। अतः वहाँ भविष्यार्थक क्रिया युक्त है। इससे स्पष्ट है कि इस याजुष सर्वानुक्रमणी का छन्दोनिर्देश अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। इसलिए हमने इसका निर्देश करना व्यर्थ समझा है।

शुक्ल याजुष सर्वानुक्रमणी के व्याख्याता अनन्त देव ने छन्दोलक्षण-बोधक पांचवें अध्याय की व्याख्या करते हुए इस अध्याय को भविष्यदर्थक क्रिया के कारण ही प्रक्षिप्त माना है। द्रष्टव्य—पृष्ठ ३४४, काशी सं०।

शुक्ल यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट ने इस अनुक्रमणी का कहीं निर्देश

---

१. आ० पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासुकृत 'यजुर्वेद-भाष्य-विवरण' की भूमिका तथा हमारा वेदसंज्ञामीमांसा अर्थात् 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' विषयक निबन्ध (द्र०—'वैदिक सिद्धान्त-मीमांसा' संस्कृत, १३९–१५५; हिन्दी, पृष्ठ १५६–१७८)।

२. इस ग्रन्थ के चार सौ वर्ष पुराने कई हस्तलेख हैं, जिनमें चतुर्थ अध्याय के अन्त में ग्रन्थ-समाप्ति उपलब्ध होती है। ऐसे ही दो हस्तलेख गोंडल के राजवैद्य श्री माननीय जीवाराम कालिदास जी (वर्त्तमान में—श्री श्रीचरणतीर्थ जी) के अद्भुत संग्रह में हैं।

नहीं किया है। इसका सब से प्रथम निर्देश सायणाचार्यकृत काण्व-संहिता के उपोद्घात में मिलता है। वह लिखता है—येऽपि यजुषां छन्द इच्छन्ति तैः कात्यायनोक्तसर्वानुक्रमणिकायां पञ्चमाध्यायमभ्यस्य तत्तन्मन्त्र-छन्दोऽनुसन्धेयम्। द्र०—वेदभाष्यभूमिकासंग्रह, पृष्ठ ११४, चौखम्बा सं० सी० काशी।

सायणाचार्य की भूल—सायणाचार्य ने याजुष (गद्य) मन्त्रों के छन्दोज्ञान के लिए सर्वानुक्रमणी के पञ्चमाध्याय का अभ्यास करने का निर्देश किया है। परन्तु पञ्चमाध्याय में यजुः (गद्य) मन्त्रों के छन्दों का निर्देश ही नहीं है। वहां तो ऋक् (पद्य) मन्त्रों के छन्द लिखे हैं।

हमने इस ग्रन्थ में यथासम्भव प्रत्येक छन्दोलक्षण के उदाहरण देने का प्रयास किया है। वैदिक छन्दों के उदाहरणों के लिए अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रमणी, और स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य आकर-ग्रन्थवत् हैं। इन दोनों में अतिप्राचीन परम्परा का परिपालन किया गया है।[1] आर्च मन्त्रों में "पादः" अधिकार से पूर्ववर्ती दैवी आसुरी आदि छन्दों का मुक्तकण्ठ से निर्देश किया है। उत्तरकालीन संकीर्णता (आर्चमन्त्रों में दैवी आदि छन्दों का व्यापार नहीं होता) का इनमें दर्शन भी नहीं होता।

इस ग्रन्थ में छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता अध्याय प्रमुख स्थान रखता हैं। वेदार्थ में 'छन्दःशास्त्र उपयोगी है, यह विषय चिरकाल से विस्मृतप्राय है। इस पर हमने प्रथम बार लिखने का साहस किया है। इस लिए अनेक विद्वानों को यह अटपटासा लगेगा, परन्तु गंभीरता से अनुशीलन करने पर इसकी यथार्थता का बोध स्वयं हो जायेगा।

आर्चछन्दोविषयक विशेष मन्तव्य

ऋग्मन्त्रों में पादव्यवस्था अर्थानुरोध से होती है। इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के होने पर भी वर्त्तमान छन्दोनिर्देशों में वह व्यवस्था उपपन्न नहीं होती। अर्थानुरोध से पादव्यवस्था के लिए निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह है—कितने अक्षरों का पाद कितने अक्षरों तक घट सकता है, और कितने अक्षरों तक बढ़ सकता

---

१. इसके लिए देखिये—इसी ग्रन्थ का १६ वां अध्याय—दैवी आदि छन्दों के व्यापारक्षेत्र।

है ।[१] इस सिद्धान्त के द्वारा अर्थानुरोधी पादव्यवस्था बड़ी सुगमता से उपपन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, शौनक द्वारा पादादि में दर्शाये सर्वानुदात्त पद भी पादान्त में चले जाते हैं ।[२] स्वरशास्त्र के नियमों का भी उल्लंघन नहीं होता। इसलिए वेदार्थ में छन्दःशास्त्र का साहाय्य लेते समय निदानसूत्र के उक्त सिद्धान्त का आश्रय अवश्य लेना चाहिए। यह महत्वपूर्ण निर्देश निदान-सूत्र के अतिरिक्त कहीं भी उपलब्ध नहीं होता ।

सामान्य छन्दःशास्त्र

ऊपर जितने उपलब्ध छन्दःशास्त्रों का उल्लेख किया है । उनमें केवल पिङ्गल-प्रोक्त छन्दोविचिति ही सर्वसाधारण है ।[३] अन्य ग्रन्थ प्रायः तत्-तत् संहिता विशेषों से, और वह भी याज्ञिक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं ।[४] इस-लिए वेद के वास्तविक छन्दों का (जिनके नामश्रवण से मन्त्रगत संख्या का परिज्ञान हो जाये) निर्देश करने के लिए वर्तमान पिङ्गल छन्दःसूत्र का आश्रयण ही उपयोगी है ।[५]

वास्तविक छन्दोनिर्देश

उपर्युक्त छन्दोनिर्देशक ग्रन्थों में जितने छन्दोलक्षण लिखे हैं, उनसे वेद के सम्पूर्ण मन्त्रों के यथार्थ छन्दों का पूर्ण परिज्ञान नहीं होता। इसलिए इन शास्त्रों के लक्षणों को प्रायिक समझना चाहिए। केवल छन्दःशास्त्र ही प्रायिक नहीं है, अपितु समस्त शास्त्र प्रायिक हैं। शास्त्रकार मार्ग निर्देशमात्र करते हैं, साकल्येन प्रवचन नहीं करते। वस्तुतः कर भी नहीं सकते। यदि साकल्येन प्रवचन करें, तो प्रत्येक शास्त्र वर्तमान आकार से कई सौ गुना बृहद् बन जाये। एक शास्त्र का भी अध्ययन एक पुरुषायुष में समाप्त न हो। अतः शास्त्रकार सुहृत् होकर संक्षेप से शास्त्रप्रवचन करते हैं, जिससे मार्ग-

---

१. निदानसूत्र, पृष्ठ १। २. द्र०—ऋक्प्रातिशाख्य अ० १७, तथा प्रकृत ग्रन्थ, पृष्ठ २५३—२५६।

३. या षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः । तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत् ।। निदानसूत्रभूमिका, पृष्ठ २५ में उद्धृत ।

४. द्र०—इसी ग्रन्थ का १८ वां अध्याय।

५. इसीलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में पिङ्गलसूत्र के अनुसार ही छन्दोनिर्देश किया है।

प्रदर्शन हो, जाये और अध्येता अपनी बुद्धि से सोचने-समझने में समर्थ हो सकें। इसलिये यच्छास्त्रकारेण नोक्तं न तत् साधु (शास्त्रकार ने जिस बात का साक्षात् निर्देश नहीं किया, वह अशुद्ध है) सिद्धान्त अशुद्ध है। शास्त्रकारों के मार्गों का अनुसरण करते हुए यथार्थता को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

विघ्न-परम्परा

इस ग्रन्थ के आरम्भ करने से लेकर इस भूमिका की समाप्ति-पर्यन्त इतने विघ्न आये, जिनकी कोई सीमा नहीं। इस काल में मैं प्रायः रुग्ण ही रहा। गत दिसम्बर से इस वर्ष के मई के अन्त तक ६ मास खाट पर ही पड़ा रहा। उसके बाद भी कुछ ही स्वस्थ हुआ कि मुझे महर्षि दयानन्दस्मारक टंकारा के अनुसंधान-विभाग का भार संभालना पड़ा। वहाँ भी प्रायः अर्ध-स्वस्थ ही रहा। इस कारण इस ग्रन्थ के कई अध्यायों में संक्षेप से लिखना पड़ा। कुछ विषयों पर लिखना स्थगित करना पड़ा।

इस बीच इस ग्रन्थ का श्रेष्ठतम अध्याय, नहीं-नहीं, इसका आत्मस्वरूप १८ वां अध्याय वेदवाणी-कार्यालय वराणसी में इधर-उधर हो गया। मुझे इस घटना से बड़ा धक्का लगा। कई दिन तक कार्य में मन ही नहीं लगा। मैंने सोचा कि इसको पुन: लिखना मेरे लिए असम्भव है, अत: इसके बिना ही ग्रन्थ समाप्त करू देना होगा। परन्तु प्रभु की महती कृपा हुई, यह अध्याय प्राप्त हो गया। अन्यथा इसका खेद मुझे जन्मभर रहता।

इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने बैठा ही था कि अपनी पुत्री की अत्यधिक रुग्णता का समाचार पाकर मुझे टंकारा से देहली आना पड़ा। जो भूमिका मैं टंकारा में बैठकर शान्तिपूर्वक ग्रन्थों के साहाय्य से लिख सकता था, वह मैं नहीं लिख सका। इतना ही नहीं, ये पंक्तियां भी मैं इन्फ्लुएञ्जा से पीड़ित होने की अवस्था में ही लिख रहा हूँ।

इन विघ्न-बाधाओं के आने पर भी यह ग्रन्थ कथंचित् पूर्ण होकर प्रकाशित हो, रहा है, इसका मुझे महान् सन्तोष है।

अन्त में अपने अज्ञान के कारण तथा उपर्युक्त विघ्न बाधाओं के कारण एकचित्तता के अभाव से इस ग्रन्थ में जो कुछ अन्यथा लेखन हुआ हो, न्यूनता रही हो, उस सबके लिये विद्वानों से क्षमा चाहता हुआ। निवेदन करना चाहता हूँ कि उन्हें जहां-कहीं ऐसी वस्तु उपलब्ध हो, लिखने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में वह न्यूनता पूर्ण की जा सके।

धन्यवाद

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का सारा श्रेय श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिकारियों को है। बिना उनके सहयोग के ग्रन्थ का लिखा जाना भी प्रायः असंभव-सा ही था। इसके लिए उनका जितना धन्यवाद करूँ, स्वल्प है।

कागज की दुर्लभता के समय ज्योतिष प्रकाश प्रेस के स्वामी श्री पण्डित बालकृष्ण जी शास्त्री ने उत्तम कागज का प्रबन्ध करके और सुन्दर रूप में छापने का महान् प्रयत्न किया है। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आशा करता हूँ कि आगे भी सदा इसी प्रकार सहयोग प्रदान करके अनुगृहीत करते रहेंगे॥

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
४६४३ रेगरपुरा, गली ४०
करोल बाग, देहली
सं० २०१६ आश्विन शुक्ला ७

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक
अध्यक्ष—अनुसन्धान-विभाग
महर्षिदयानन्दस्मारक, टंकारा (सौराष्ट्र)

—:०:—

द्वितीय-संस्करणं

वैदिक छन्दोमीमांसा का प्रथम संस्करण लगभग ८—१० वर्ष से अप्राप्य था। दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई मंहगाई के कारण इसका छपना रुका रहा। अब जिस समय यह ग्रन्थ छप रहा है, कागज और छपाई की महर्घता आकाश को छू रही है। फिर भी इसकी मांग अधिक होने से इसे कथंचित् छपवाया जा रहा है। जिस समय इसका प्रथम संस्करण छपा था, उस समय की अपेक्षा आज कागज और छपाई का मूल्य ५-६ गुना बढ़ गया है। अतः ग्रन्थ के मूल्य में वृद्धि होनी स्वाभाविक है। ऐसे गम्भीर शास्त्रीय ग्रन्थों की बिक्री बहुत स्वल्प होती है। फिर भी रामलाल कपूर ट्रस्ट की नीति के अनुसार इतना ही मूल्य रखा गया है, जिससे लागत वापस प्राप्त हो जाये।

द्वितीय संस्करण में यथास्थान संशोधन वा परिवर्धन किया गया है। ग्रन्थ का प्रथम परिशिष्ट 'मन्त्राणामाधिदैविकार्थविज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्' सर्वथा नया है।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

वैदिक छन्दो-मीमांसा

की

विषय-सूची

—:o:—

वैदिक-छन्दोमीमांसा

मन्त्रार्थविज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्

[मन्त्रों के अर्थ जानने में छन्दों की सहायता]

तेषां यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्

[उन मन्त्रों में से जिनमें अर्थ के अनुरोध से पादों की व्यवस्था हो, वह ऋक् कहाती है।]

—जैमिनि

मनुष्यैर्वेदार्थ-विज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्त[कल्प]छन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम्।

[मनुष्यों को वेदार्थ के विशेष ज्ञान के लिये व्याकरण अर्थात् अष्टाध्यायी और महाभाष्य का अध्ययन करना चाहिये। तदनन्तर निघण्टु-निरुक्त, [कल्प,] छन्द और ज्योतिष वेदाङ्गों का।]

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः ।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः ।
छन्दोऽनुक्रमणी तस्माद् ग्राह्या सूक्ष्मेक्षिकापरैः ॥

[ऋचाओं के प्रतिपाद कुछ अवान्तर अर्थ होते हैं। उन अवान्तर अर्थों का बुद्धि से प्रकल्पित समुदायरूप ऋगर्थ होता है। इसलिये सूक्ष्मेक्षिका से अर्थ करनेवालों को छन्दोऽनुक्रमणी का आश्रय लेना चाहिये।]

—वेङ्कट माधव

वैदिक-छन्दोमीमांसा

प्रथम अध्याय

छन्दः पद के अर्थ और उसके लक्षण

छन्दःशास्त्र का स्थान—संस्कृत-वाङ्मय में छन्दःशास्त्र एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संसार के समस्त वाङ्मय में प्राचीन और मूर्धाभिषिक्त वेद का यह साक्षात् उपकारक है। इसलिये वेद के अर्थज्ञान में साक्षात् उपकारक षडङ्गों[1] में इसे अन्यतम स्थान प्राप्त है। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा[2] के आर्च पाठ[3], तथा चरणव्यूह परिशिष्ट के अनुसार छन्दःशास्त्र

---

१. क—बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। निरुक्त १।२०। बिल्मग्रहणाय=वेदार्थग्रहणायेति व्याख्यातारः।

ख—अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। सायण, ऋग्भाष्य का उपोद्घात, षडङ्गप्रकरण।

ग—मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्त[कल्प]छन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम्। स्वामी दयानन्द सरस्वती—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका; ऋग्वेदभाष्य, भाग १, पृष्ठ ३६८ (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क०); तथा—वेदव्याख्यानानि (= वेदा व्याख्यायन्ते यैस्तानि) वेदाङ्गाख्यानि। पृष्ठ ३७०।

२. पाणिनीय शिक्षा दो प्रकार की उपलब्ध होती है ·सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक। इनमें सूत्रात्मक शिक्षा ही पाणिनि-प्रोक्त है, श्लोकात्मक नहीं। इसकी विस्तृत विवेचना के लिये "साहित्य" (पटना) वर्ष ७, अंक ४, पौष सं० २०१३ में प्रकाशित हमारा 'मूल पाणिनीय शिक्षा' लेख देखिये। मूल-पाणिनीय शिक्षा के लिये देखिये हमारे द्वारा संपादित 'शिक्षा-सूत्राणि' संग्रह।

३. श्लोकात्मक शिक्षा के भी दो मुख्य पाठ हैं—आर्च और याजुष। आर्च पाठ में ६० श्लोक हैं, और याजुष में ३५।

वेद का यावत् उपकारक है[1]। वेदार्थ का महत्त्वपूर्ण प्रासाद इसी शास्त्र के ऊपर प्रतिष्ठित है।[2] इसलिये इस शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के बिना वेद के सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति असम्भव है[3], यह कहना अत्युक्ति नहीं है।

विद्या-स्थान—छन्दःशास्त्र केवल वेद का उपकारक ही नहीं, अपितु अन्य वेदाङ्गों के समान यह स्वतन्त्र विद्या-स्थान भी है।[4] काव्य-वाङ्मय का तो यह प्राण है। इसके ज्ञान के विना न केवल नवीन काव्य-सर्जन ही असम्भव है, अपितु वैदिक और प्राचीन लौकिक काव्यों में अप्रतिहत गति भी अशक्य है। अतः इसके ज्ञान के विना कवि के सूक्ष्मतम अभिप्रायों तक पहुँचना तो बहुत दूर की बात है।[5]

---

१. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। पा० शिक्षा आर्च पाठ ४१, चरणव्यूह यजुर्वेद खण्ड।

२. सायण ने 'एतेषां च वेदार्थोपयोगिनां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्' लिखकर 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' श्लोक उद्धृत किया है। विशेष विवेचना के लिये देखिये इसी ग्रन्थ का 'छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' नामक अध्याय।

३. इसकी विशद विवेचना अगले 'छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' शीर्षक अध्याय में करेंगे।

४. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ याज्ञ० स्मृति १।३॥ तुलना करो—तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्, स्वार्थसाधकं च। निरुक्त १।५॥ अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च शिक्षा ह्येताश्चतुर्दश॥ वायु पुराण ६१।७८॥

५. यहां उन प्राचीन काव्यग्रन्थों से अभिप्राय है, जिनकी रचना के काल में संस्कृत लोकव्यवहार की भाषा थी। और कवि काव्य-रचना में अर्थ की यथार्थ अभिव्यक्ति का ही ध्यान रखते थे। केवल छन्दः-पूर्ति उनका लक्ष्य नहीं होता था। अत एव प्राचीन कवि-सम्प्रदायानुसार वेद के समान लोक में भी एक दो अक्षरों के न्यूनाधिक्य से छन्दोभङ्ग नहीं माना जाता था। उनके न्यूनाधिक अक्षरों के बोध के लिये वैदिक छन्दों के समान लौकिक छन्दों में भी निचृद्-विराट् तथा भुरिक्-स्वराट् विशेषणों का प्रयोग होता था। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

उपेक्षित शास्त्र—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्या का प्रतिपादक होने पर भी यह शास्त्र चिरकाल से उपेक्षा का पात्र बना रहा है। जो विद्वान् नूतन काव्य-सर्जन के लिये इस शास्त्र का अभ्यास करते हैं, वे भी प्रायः 'वृत्तरत्नाकर' 'छन्दोमञ्जरी' आदि अर्वाचीन लघुग्रन्थों का अवलोकन करके अपने को कृत-कृत्य समझ लेते हैं। पिङ्गल आदि प्राचीन आचार्यों के शास्त्रों का, जिनमें वैदिक और लौकिक उभयविध काव्यों के छन्दों का अनुशासन है, पढ़ने-पढ़ाने का प्रयास ही नहीं करते। विद्वानों की इस उपेक्षा के कारण इस शास्त्र के प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो गये। इतना ही नहीं, आचार्य पिङ्गल के सुप्रसिद्ध छन्दःशास्त्र पर भी गिनती के चार पाँच विद्वानों के ही व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें भी अभी तक एकमात्र हलायुध की व्याख्या प्रकाश में आई है।

ग्रन्थ का प्रयोजन—हमारा इस ग्रन्थ को लिखने का प्रधान प्रयोजन यही है कि विद्वान् लोग इस शास्त्र के वास्तविक महत्त्व से परिचित हों। इस शास्त्र के प्रति जो उपेक्षा का भाव है, उसको दूर करें। छन्दोविद्या पुनः अपने महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त करे। वेदार्थ में इस शास्त्र का उपयोग न करने से जो अनर्थ हो रहा है, उसका दूरीकरण हो। और इस शास्त्र के आश्रय करने से वेदार्थ में जो वैशिष्ट्य और सूक्ष्मता उद्भूत होती है, उसका सम्यक् प्रकटीकरण किया जाय।

छन्दः पद के अर्थ

लौकिक और वैदिक वाङ्मय में छन्दः पद विविध अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा—

वैदिक वाङ्मय में—वैदिक वाङ्मय में छन्दः पद के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—

१—सूर्य—तैत्तिरीय ब्रा० ३।२।९।३ में लिखा है—

छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः।

अर्थात्—छन्द निश्चय ही व्रज (बाड़ा) है गोस्थान।

यहां गोशब्द रश्मियों का वाचक है। रश्मियों का स्थान बाड़ा सूर्य ही है।[1]

२—सूर्यरश्मि—ब्राह्मण ग्रन्थों में सूर्य की रश्मियों के लिये भी छन्दः पद का प्रयोग असकृत उपलब्ध होता है यथा—

१. द्र०—यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। ऋ० १।१५४।६॥

अन्नं वाव पशवः, तान्यस्मा [प्रजापतये] अच्छदयँस्तानि यदस्मा अच्छदयँस्तस्माच्छन्दांसि । शत० ८।५।२।१॥

अर्थात्—अन्न ही पशु हैं, उन्होंने प्रजापति को आच्छादित किया। जो इसको आच्छादित किया, इससे इनको छन्द कहते हैं।

शतपथ के इस प्रकरण में प्रजापति शब्द से आदित्य ही अभिप्रेत है। आदित्यरूपी प्रजापति को आच्छादित करनेवाले पशु अथवा अन्न रश्मियां ही हैं। इसका स्पष्टकरण अगले ब्राह्मण में इस प्रकार किया है—

एष वै रश्मिरन्नम् । शत० ८।५।३।३॥

अर्थात्— यह निश्चय से रश्मि ही अन्न है।

ऐतरेय ब्रा० २।१८ में छन्दों को प्रजापति का अङ्ग कहा है—

प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि ।

इससे स्पष्ट है कि प्रजापति=आदित्य के साथ संबन्ध रखनेवाले आधिदैविक छन्द उसकी अङ्गभूत रश्मियां ही हैं।

वैदिक रहस्य का पुराणों में स्पष्टीकरण—उक्त वैदिक रहस्य का स्पष्टीकरण पुराणों में इस प्रकार किया है—

छन्दोभिरश्वरूपैः । वायु ५२।४५॥
छन्दोरूपैश्च तैरश्वैः । मत्स्य १२५।४२॥
छन्दोभिर्वाजिनरूपैस्तु । वायु ५१।५७॥ मत्स्य १२४।४॥
हयाश्च सप्त छन्दांसि । विष्णु २।८।७॥

पुराणों के इन वचनों से स्पष्ट है कि सूर्य के प्रसिद्ध सात अश्व रश्मियां ही छन्द हैं। इतना ही नहीं, पुराणों में सूर्य के इन सात अश्वों के लिये गायत्री आदि नामों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा—

सप्ताश्वरूपाश्छन्दांसि वहन्ते नामतो धुरम् ।
गायत्री चैव त्रिष्टुप् च अनुष्टुब्जगती तथा ॥
पङ्क्तिश्च बृहती चैव उष्णिक् चैव तु सप्तमम् ॥
वायु ५१।६४,६५॥

मत्स्य पुराण में इसका पाठ इस प्रकार है—

सप्ताश्वरूपाश्छन्दांसि वहन्ते वायुरंहसा ॥४६॥
गायत्री चैव त्रिष्टुप् च जगत्यनुष्टुप् तथैव च ।
पङ्क्तिश्च बृहती चैव उष्णिगेव तु सप्तमः ॥४७॥ अ० १२४॥

विष्णु पुराण (द्वितीयांश ७।८) में इस प्रकार लिखा है—

हयाश्च सप्त छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु ।
गायत्री च बृहत्युष्णिग्जगती त्रिष्टुबेव च ।।
अनुष्टुप् पङ्क्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवेः ।।

इनका भाव यही है कि सूर्य के सात अश्व अथवा सप्तविध रश्मियां ही गायत्री आदि नामों से व्यवहृत होती हैं । गायत्री अथवा श्येन का स्वर्गलोक से पृथिवी पर सोमाहरणसम्बन्धी वैदिक कथाओं का रहस्य भी इसी में निहित है ।

सूर्यरश्मि के अर्थ में छन्दः पद का प्रयोग ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है । यथा—

श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती । ऋ० १।९२।६।।

अर्थात्—श्री (=प्रकाश) के लिये छन्द के समान [उषा] मुस्कराती है प्रकाश करती हुई ।

३—सप्त धाम—माध्यंदिन संहिता १७।७९ की व्याख्या करते हुए शतपथ ९।२।३।४४ में लिखा हैं—

छन्दांसि वा अस्य [अग्नेः] सप्त धाम प्रियाणि ।

अर्थात्—छन्द ही निश्चय से इस [अग्नि] के सात धाम प्रिय हैं ।
ये सात धाम कौनसे हैं, यह अनुसन्धेय है ।

४—अग्नि की प्रिया तनू—तैत्तिरीय संहिता ५।२।१ में तित्तिरि का प्रवचन है—

अग्नेर्वै प्रिया तनू छन्दांसि ।

अर्थात्—अग्नि की प्रिय तनू ही छन्द हैं ।

वैदिक साहित्य में इसी प्रकार अनेक अर्थों में छन्दः पद का प्रयोग मिलता है ।

५—वेदविशेष—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में यजु ३१।७ का व्याख्यान करते हुए छन्दांसि का अर्थ अथर्ववेद किया है ।[1]

---

१. (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च ।.........वेदानां गायत्र्यादिछन्दोन्विततया पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीति अवधेयम् । 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' वेदोत्पत्ति-प्रकरण ।

लौकिक वाङ्मय में—कोशग्रन्थों में छन्दः पद के निम्न अर्थ उपलब्ध होते हैं—

क—छन्दः पद्येऽभिलाषे च । अमर ३।३।२३२॥

ख—गायत्री प्रमुखं छन्दः ।२।७।२२॥

ग—इच्छासंहितयोरार्षे छन्दो वेदे च छन्दसि ।

काशिका १।२।३६ में उद्धृत ।

घ—गायत्रीप्रभृतिच्छन्दो वेदेच्छयोरपि । शाश्वत ४०२॥

ङ—छन्दः पद्येच्छयोः श्रुतौ । हैम, अनेकार्थ ५८३।

च—छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराद्याचाराभिलाषयोः ।

मेदिनी, सत्रिक २२ ।

इन वचनों के अनुसार 'छन्दः' पद निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—

१—गायत्री आदि पद्य
२—वेद
३—आर्ष=ऋषिप्रोक्त ग्रन्थ
४—संहिता=सन्धि
५—इच्छा=अभिलाषा
६—स्वैर=अनियन्त्रित आचार

इस प्रकार छन्दः पद वैदिक और लौकिक वाङ्मय में अनेक अर्थों में प्रयुक्त देखा जाता है। अतः प्रकृत ग्रन्थ में 'छन्दः' पद का क्या अर्थ अभिप्रेत हैं, यह बताना आवश्यक है ।

प्रकृत ग्रन्थ में अभिप्रेत अर्थ— इस ग्रन्थ में छन्दः पद का अर्थ गायत्री आदि निबद्ध पद्य-गद्य रचनाविशेष ही अभिप्रेत है ।

छन्दः पद के अर्थ में एक महती भ्रान्ति—कोशों के जितने वचन पूर्व उद्धृत किये हैं, उनमें छन्दः पद का अर्थ 'पद्य' लिखा है। लोक में भी यह प्रायः पद्य अर्थ में ही प्रसिद्ध है। इसी कारण अनेक आचार्य यजुः (=गद्य-बद्ध)मन्त्रों को छन्द नहीं मानते हैं । यथा—

यजुषामनियताक्षरत्वाद् एकेषां[1] छन्दो न विद्यते ।

द्र०—शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी[1] के आरम्भ में ।

---

१. एकेषाम् पद के व्याख्यान में व्याख्याकारों का मतभेद है—

(क) अनन्तदेव—एकेषामित्युक्तत्वात् केषाञ्चिन्मते यजुषामपि छन्दोऽस्तीनि प्रतीयते । काशी संस्क० पृष्ठ ३ । विशेष विवरण पृष्ठ ७ पर देखें ।

(ख) अज्ञातनामा व्याख्याकार—रसशाला औषधाश्रम, गोण्डल(सौराष्ट्र) के हस्तलेख संग्रह में शु० यजु की सर्वानुक्रमणी के अज्ञातनामा व्याख्याकार का

यजुषां च विशेषविहितं छन्दों न दृश्यते क्वचित् ।

गुण विष्णु, छान्दोग्य मन्त्रब्राह्मण-भाष्य, पृष्ठ ७ ।

यजुर्मन्त्राणां त्वपरिमिताक्षरोपेतत्वाच्छन्दोविभागो नास्ति ।

सायण, छान्दोग्य मन्त्रब्राह्मण-भाष्य, पृष्ठ ८ ।

हमारे विचार में यजुः (=गद्य) मन्त्रों में छन्द नहीं होता है. यह प्राचीन आर्ष परम्परा के विपरीत है । प्राचीन आचार्य वैदिक लौकिक दोनों प्रकार के गद्यों को छन्दोयुक्त मानते थे । यथा—

क— आचार्य दुर्ग (वि० ५वीं शती वा उससे पूर्व) निरुक्त ७।२ की वृत्ति में किसी लुप्त ब्राह्मण का वचन उद्धृत करता है—

नाच्छन्दसि वागुच्चरति इति ।

अर्थात्—छन्द[1] के विना वाक् उच्चरित नहीं होती है ।

ख—भरतमुनि (२८०० वि० पूर्व से पूर्ववर्ती) ने नाटयशास्त्र में लिखा है—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम् ।।१४।४५।।

अर्थात्—छन्द से रहित कोई शब्द नहीं, और शब्द से रहित कोई छन्द नहीं ।

ग—कात्यायन मुनि के नाम से प्रसिद्ध 'ऋग्यजुष परिशिष्ट' में लिखा है—

एक हस्तलेख (संग्रह संख्या १११) हमने वि० सं० २०१७ (सन् १९६०) में देखा था । उसमें लिखा है—"यजुषां तु अनियताक्षरत्वात् केषाञ्चिन्मते छन्दो नास्ति, केषाञ्चिन्मते यजुषामपि 'दैव्येकम्' 'आसुरी पञ्चदश' इत्यादि पिङ्गलोक्तं छन्दो भवति । अपरे तु व्यवस्थितविकल्पमिच्छन्ति । येषां यजुषां पिङ्गलोक्तं छन्दः सम्भवति तेषामस्त्येव । येषां तु न सम्भवति अधिकाक्षरत्वात् तेषां नास्त्येव ।"

(ग) शुक्ल यजुः सर्वानुक्रमणी जाली है । उवट के पश्चात् किसी व्यक्ति ने बनाकर कात्यायन के नाम पर मढ़ दी है । इस विषय में हम आगे कहेंगे ।

१. हिन्दी में 'छन्दस्' के लिये इसका पर्याय अकारान्त 'छन्द' पद प्रयुक्त है । इसके विषय में आगे लिखा जायेगा ।

छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद्विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन ॥५॥[1]

अर्थात्— ज्ञानी पुरुष के लिये सारा वाङ्मय छन्दोरूप है। क्योंकि छंद और पृच्छा (=जानने की इच्छा)[2] के बिना कोई शब्द प्रवृत्त नहीं होता।

घ—जयकीर्ति अपने छन्दोऽनुशासन में लिखता है—

छन्दोभाग्वाङ्मयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसां विना ।१।२॥

अर्थात्— सम्पूर्ण वाङ्मय छन्द से युक्त है, छन्द के बिना कुछ नहीं।

इन वचनों से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार गद्य भी छन्दोयुक्त होते हैं। पिङ्गल पतञ्जलि और गार्ग्य आदि आचार्यों ने एक अक्षर से लेकर १०४ अक्षर तक के छन्दों का विधान अपने-अपने शास्त्रों में किया है। वेद के याजुष गद्य मन्त्र छन्दों से युक्त हैं, यह वैदिक सम्प्रदाय में अद्य यावत् प्रसिद्ध है।

छन्दो-लक्षण

प्राचीन ग्रन्थों में 'छन्द' का लक्षण निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

१—कात्यायन मुनि ने ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में लिखा है—

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः ।२।६॥

अर्थात्—जो अक्षर का परिमाण है, वह 'छन्द' कहाता है।

२—अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण इस प्रकार दर्शाया है—

छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते । पृष्ठ १ ॥

अर्थात्—अक्षर-संख्या का अवच्छेदक (नियामक) छन्द' कहाता है।

यद्यपि छन्द के ये दोनों लक्षण वैदिक ग्रन्थों के हैं, पुनरपि इनसे इतना स्पष्ट है कि जिस छन्दोनाम के उच्चारण करते ही पद्य अथवा गद्य-बद्ध रचना विशेष के अक्षरों की संख्या का ज्ञान हो जाये, वह 'छन्द' कहाता है।

उक्त लक्षणों की मन्त्रानुसारिता—छन्द के उपर्युक्त दोनों लक्षण निम्न ऋङ्मन्त्र पर आश्रित हैं—

---

१. श्री पं० श्रीधर शास्त्री वारे (नासिक) द्वारा सम्पादित 'कातीयपरिशिष्टदशकम्,' पृष्ठ ९२।

२. प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्, धातुपाठ।

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः । ऋ० १।१६४।२४।।

अर्थात्—अक्षर (जाति में एकत्व) से ही सप्त वाणी=सप्त छन्दों का मान (परिमाण) होता है ।[1]

(इससे स्पष्ट है कि जिस छन्दोनाम के श्रवण से मन्त्रों की वास्तविक अक्षर-संख्या का बोध नहीं होता, वे गौण छन्द हैं । इस विषय की विवेचना आगे की जायेगी ।)

छन्दः का पर्याय अकारान्त छन्द शब्द—लौकिक संस्कृत वाङ्मय में अकारान्त 'छन्द' शब्द प्रायः स्वातन्त्र्य आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है । परन्तु ऋग्वेद ६।११।३ में अकारान्त 'छन्द' शब्द आधिदैविक 'छन्दस्' (सूर्य आदि की रश्मियों) के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । आधिदैविक छन्दों का वैदिक तथा लौकिक गायत्री आदि छन्दों से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस कारण आधिदैविक छन्दस् का पर्याय अकारान्त 'छन्द' शब्द भी गायत्री आदि छन्दों के लिये प्रयुक्त होता है ।

तैत्तिरीय आरण्यक में अकारान्त छन्द शब्द—तै० आ० १०।३३ में एक पाठ है –

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । अग्निर्देवता, ब्रह्म इत्यार्षम् गायत्रं छन्दम् ।[2]

रामायण का एक प्रयोग - वा० रा० युद्धकाण्ड ३६।४६ में एक पाठ इस प्रकार मिलता है –

नह्यस्य कश्चित्सदृशोऽतिशास्त्रे वैशारदे छन्दगतौ तथैव ।

अतः हिन्दी में प्रयुक्त अकारान्त 'छन्द' पद सकारान्त छन्दस् का तद्भव (अपभ्रंश) रूप नहीं है, अपितु शुद्ध संस्कृत शब्द है । तदनुसार हम भी इस ग्रन्थ में 'छन्दस्' के लिए 'छन्द' पद का भी प्रयोग करेंगे ।

इस अध्याय में हमने छन्दः पद के विविध अर्थों का निदर्शन और छन्दः का लक्षण दर्शाया है । अगले अध्याय में 'छन्दः' पद के निर्वचन और उनकी विवेचना' की जायेगी ।।

---

१. अक्षरेणैव सप्त वाणी वागधिष्ठितानि सप्त छन्दांसि मिमते निर्माणं कुर्वन्ति (मिमते मान्ति मातारः—पाठान्तरम्) ।……अक्षरैः पादाः परिमीयन्ते, परिमितैः पादैश्छन्दांसि । सायण ।

२. द्र०—तै० आ० आनन्दाश्रम (पूना) संस्करण, भाग २ में परिशिष्ट में मुद्रित पाठ, पृष्ठ ८५१ ।।

द्वितीय अध्याय

छन्दः पद के निर्वचन और उनकी विवेचना[1]

छन्दः पद का निर्वचन—प्राचीन वाङ्मय में 'छन्दः' पद का अनेक प्रकार का निर्वचन उपलब्ध होता है। यथा—

१—सामवेदीय दैवत ब्राह्मण में छन्दः पद का निर्वचन इस प्रकार लिखा है—

छन्दांसि छन्दयतीति[2] वा ।१।३।।

अर्थात्—छन्दः पद 'छन्द'[3] (=छदि) चौरादिक धातु से निष्पन्न होता है।

२—तैत्तिरीय संहिता ५।६।६।१ में—

ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

३—शतपथ ब्राह्मण ८।५।२।१ में—

यदस्मा अच्छदयँस्तस्माच्छन्दांसि।

४—छान्दोग्य उपनिषद् १।४।२ में—

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दोभिरच्छादयन्, यदेभिरच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

---

१. ब्राह्मण व्याकरण और विशेषत: निरुक्तशास्त्र में प्रदर्शित निर्वचनों के विषय में पाश्चात्य तथा तदनुयायी एतद्देशीय जनों ने बहुत अनर्गल प्रलाप किये हैं। इसलिये हमें इस प्रकरण को कुछ विस्तार से लिखना पड़ा है।

२. 'छन्दांसि' पद के बहुवचनान्त होने से यहां 'छन्दयन्ति' पाठ होना चाहिए।

३. सायण ने उक्त वचन के भाष्य में छन्दः पद का निर्वचन 'छद अपवारणे' धातु से दर्शाया है। यह ब्राह्मण के मूलपाठ से विपरीत होने से अशुद्ध है। आश्चर्य इस बात का है कि सायण ने धातुवृत्ति में चुरादिगण में 'छदि संवरणे' धातु का पाठ मानकर भी यह भूल कैसे की? वह लिखता है—'इदित्वाभावे छन्दःशब्दोऽपि न स्यादिति मैत्रेयाद्युक्त इदित्पाठ एव न्याय्यः'। धातुवृत्ति, पृष्ठ ३८१, चौखम्बा (काशी) संस्करण।

इन (२–४) उद्धरणों में छन्दः पद का निर्वचन 'छद' धातु से दर्शाया है।

५—निरुक्त ७।१२ में लिखा है—

छन्दांसि छादनात्।

अर्थात्—छन्दः नाम छादन=आच्छादन (ढांपने) के कारण है।

६—गार्ग्य ने उपनिदान सूत्र में लिखा है—

यस्माच्छादिता देवाश्छन्दोभिर्मृत्युभीरवः।
छन्दसां तेन छन्दस्त्वं ख्यायते वेदवादिभिः॥८।२॥

अर्थात्—जिस कारण मृत्यु से डरे हुए देवों ने [अपने को] छिपाया, इस कारण छन्दों का यही छन्दःपन वेदवादी ऋषियों से प्रकट किया जाता है।

७—उणादिसूत्र में छन्दः पद का साधुत्वनिदर्शक सूत्र इस प्रकार है—

चन्देरादेश्च छः। पञ्चपादी ४।२१९; दशपादी ९।७८॥

अर्थात्—चदि (चन्द) धातु से असि प्रत्यय होता है, और धातु के आदि वर्ण चकार को छकार हो जाता है।

८—जयदेव कृत छन्दःसूत्र का विवृतिकार हर्षट लिखता है—

चन्दति ह्लादं करोति दीप्यते वा श्रव्यतया इति छन्दः। २।१, पृ० ४॥

अर्थात् जो आनन्दित करता है, अथवा सुनने योग्य होने से दीप्त=प्रकाशित होता है, उसे छन्द कहते हैं।

इस व्युत्पत्ति में भी चदि आह्लादने दीप्तौ च धातु से छन्दः पद की निरुक्ति दर्शाई है।

९—पाणिनीय धातुपाठ की पश्चिमोत्तर शाखा का व्याख्याता क्षीरस्वामी (१२ वीं शती वि०) अमरकोश की व्याख्या में 'छन्दस्' और 'छन्द' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार लिखता है—

क—छन्दति छन्दः (छन्दस्)। २।७।२२; ३।३।२३२॥
ख—छन्दयति आह्लादयते छन्दः, अच्। ३।२।२०॥

इन व्युत्पत्तियों में क्षीरस्वामी ने 'छन्दस्' की व्युत्पत्ति भौवादिक छन्द (छदि) धातु से, तथा 'छन्द' की णिजन्त छन्द (छदि) धातु से दर्शाई है।

१०—सायण धातुवृत्ति में 'छन्दः' पद की निष्पत्ति छदि' धातु से मानता है।[1]

---

१. देखो—पृष्ठ १२ की टिप्पणी ३।

उपरिनिर्दिष्ट व्युत्पत्तियों के अनुसार 'छन्दः' पद निम्न धातुओं से निष्पन्न माना गया है—

क—छन्द (छदि) भौवादिक । संख्या ६, क ।

ख—छन्द (छदि) चौरादिक । संख्या १, १० ।

ग—छद चौरादिक । संख्या २, ६ ।

घ—चन्द (चदि) भौवादिक । संख्या ७, ८ ।

ङ—छन्द (अकारान्त) की छन्द (छदि) णिजन्त से । संख्या ६, ख ।

छन्दः पद की मूल प्रकृति

उपरिनिर्दिष्ट धातुओं में छन्दः पद की मूल प्रकृति छन्द (छदि) है। छद और चन्द (चदि) नहीं । छद धातु से छन्दः की निष्पत्ति में धातु की उपधा में नकार का उपजन (आगम) मानना पड़ता है, और चन्द (चदि) के चकार को छकार-आदेश । छन्द (छदि) धातु से निष्पत्ति मानने पर न उपजन की आवश्यकता है, न आदेश की । केवल प्रकृति प्रत्यय के संयोग से 'छन्दस्' पद निष्पन्न हो जाता है ।

इस पर कहा जा सकता है कि धातुपाठ में अपठित[1] धातु की कल्पना करने की अपेक्षा पठित धातु में उपजन वा विकार मानना अधिक न्यायसंगत है । अपठित नई धातु की कल्पना करने में अधिक गौरव है, और वह अप्रामाणिक भी है ।

छन्द (छदि) धातु की सत्ता में प्रमाण—यह सत्य है कि छन्द (छदि) धातु पाणिनीय धातुपाठ के प्राच्य पाठ[2] तथा जैन शाकटायन के अतिरिक्त अन्य किसी धातुपाठ में उपलब्ध नहीं होती । पुनरपि अपठित मात्र होने से उसका अपलाप अथवा अप्रामाण्य नहीं हो सकता । छन्द (छदि) धातु के अपठित होने पर भी उसके प्रयोग प्राचीन वाङ्मय में बहुत्र उपलब्ध हैं । यथा—

---

१. देखो—अगली टिप्पणी सं० २ ।

२. पाणिनीय धातुपाठ के मूलतः तीन पाठ हैं । एक प्राच्य (वाङ्ग) पाठ, दूसरा पाश्चिमोत्तर्य पाठ, और तीसरा दाक्षिणात्य पाठ । धातु-प्रदीपकार मैत्रेय प्राच्य पाठ की व्याख्या करता है, और क्षीरस्वामी पाश्चिमोत्तर्य पाठ की । दाक्षिणात्य पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ । सायण की धातुवृत्ति का धातुपाठ न प्राच्य पाठ के अनुकूल है, और न पाश्चिमोत्तर्य अथवा दाक्षिणात्य पाठ के । वह उसका अपना परिष्कृत पाठ है । विस्तार के लिये देखिये, 'रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित 'क्षीरतरङ्गिणी' की हमारी भूमिका', पृष्ठ १८ ।

१ — ऋग्वेद में छन्द (छदि)[1] धातु के अनेक प्रयोग देखे जाते हैं—

छन्तिस १।१६३।४॥ छन्त्सत् १।१३२।६; १०।३२।३॥
छन्दयसे ८।५०।५॥ छन्दयाते १०।२७।८॥
चच्छन्द ७।६३।३॥ छन्दुः १।५५।४॥

२ — यास्क ने निघण्टु ३।१४ में, तथा कौत्सव्य ने निघण्टु खण्ड ६ (पृष्ठ २) में अर्चतिकर्मा धातुओं में छन्दति पद पढ़ा है।

३—देवराज यज्वा ने ज्वलतिकर्मा धातुओं (निघण्टु १।१६) में ज्योतते का पाठान्तर छन्द्यते लिखा है।

४—दैवतब्राह्मण के पूर्वनिर्दिष्ट (संख्या १) उद्धरण में छन्दयति प्रयोग उपलब्ध होता है।

५—ब्रह्मोक्त याज्ञवल्य-संहिता अ० ८, श्लोक ३५१ में छन्द धातु का ल्युट् प्रत्ययान्त छन्दन पद प्रयुक्त है।

६—वायु पुराण ६७।६२ का पाठ है—"तं ब्रह्मा छन्दयामास दैत्यं तुष्टो वरेण तु"॥

७—स्कन्द स्वामी ऋग्वेद १।९२।६ की व्याख्या में 'छन्दः' पद का व्याख्यान करता हुआ निघण्टु (२।६) पठित कान्त्यर्थक 'छन्त्सत्' पद का निर्देश करके 'कामी' अर्थ करता है। इससे प्रतीत होता है कि स्कन्द स्वामी 'छन्दः' पद को 'छन्त्सत्' आख्यात की मूल प्रकृति 'छन्द' से निष्पन्न मानता है।[2]

८—काशिका वृत्ति १।३।४७ में उपच्छन्दन और उपच्छन्दयति पद प्रयुक्त हैं। जो 'छदि' धातु से ही निष्पन्न हो सकते हैं।

९—क्षीरस्वामी धातुपाठ की व्याख्या (क्षीरतरङ्गिणी) में 'छन्द' अथवा 'छदि' धातु का पाठ न मानकर भी अमर-टीका २।२२।२ तथा ३।३।२३१ में छन्दति तथा २।२।२० में छन्दयति पद का प्रयोग करता है। इससे स्पष्ट है

---

१. हमारे विचार में मूल धातु 'छन्द' है, इदित् 'छदि' नहीं। अत एव ऋ० १०।७३।९ में प्रयुक्त 'चच्छद्यात्' प्रयोग में यङ्लुगन्त 'चच्छन्द्' से विधिलिङ् में यासुट् के ङित्त्व के कारण 'अनिदिताम्'० (अष्टा० ६।४।२४) से नलोप हो जाता है। इदित् छदि धातु से नलोप नहीं हो सकता। ['चच्छद्यात्' में तुक् के नित्य होने से अभ्यासदीर्घत्व नहीं होता]।

२. छन्दः, छन्त्सदिति कान्तिकर्मसु पाठात् छन्दःशब्दोऽत्र कामिवचनः।

कि क्षीर स्वामी धातुपाठ (पश्चिमोत्तर पाठ) में छन्द अथवा छदि धातु का पाठ न होने पर भी इस धातु की स्वतन्त्र सत्ता मानता है।

१०—वङ्गनिवासी मैत्रेय रक्षित अपने धातुप्रदीप में छदि संवरणे धातु की व्याख्या करता है (पृष्ठ १३३)।

११—जैन आचार्य पाल्यकीर्ति अपने शाकटायन धातुपाठ में छदि संवरणे धातु को पढता है।[1]

१२—सायण चुरादिगण में छद संवरणे (क्षीर तरङ्गिणी १०।३७) के स्थान में छदि संवरणे पाठ मानता है।[2] तदनुसार णिच् पक्ष में छन्दयति और णिच् के अभाव पक्ष[3] में छन्दति प्रभृति प्रयोग उपपन्न होते हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि किसी समय संस्कृतभाषा में छन्द (छदि) धातु का निर्बाध प्रयोग होता था। इसलिये छन्द (छदि) धातु की विद्यमानता में छन्दः छन्द छन्दु और छन्दन प्रभृति पदों की मूल प्रकृति छन्द (छदि) धातु ही मानी जा सकती हैं, चन्द (चदि) प्रभृति नहीं।

ब्राह्मण और निरुक्त प्रभृति ग्रन्थों में 'छन्दः' पद का निर्वचन छद धातु से, और उणादिसूत्र में चन्द (चदि) से क्यों दर्शाया, इसकी विवेचना आगे की जाती है।

ब्राह्मण, निरुक्त तथा व्याकरण के निर्वचनों की विवेचना

ब्राह्मण, निरुक्त तथा व्याकरण के निर्वचन—ब्राह्मण, निरुक्त और

---

१. पाल्यकीर्ति ने चुरादिगण में 'छद संवरणे' (धातुसूत्र १०४७), और 'छद अपवारणे' (धा० सू० १२५६) पाठ का निर्देश करके धातुसूत्र १२१४ पर 'छदि संवरणे' धातु भी पढ़ी है (देखो – जैन शाकटायन लघुवृत्ति के अन्त में मुद्रित धातुपाठ)। सम्भव है पाल्यकीर्ति ने स्वयं दाक्षिणात्य होने के कारण पाणिनीय धातुपाठ के दाक्षिणात्य पाठ को प्रमुखता दी हो। ('छदि' धातु प्राच्य पाठ में भी है, यह हम पूर्व पृष्ठ १४ में लिख चुके)। आचार्य पूज्यपाद और हेमचन्द्र अपने धातुपाठ में प्रायः पाणिनि के पश्चिमोत्तर पाठ का ही अनुसरण करते हैं।

२. 'छदि' पाठ की साधुता में वह हेतु भी उपस्थित करता है। द्र०—धातुवृत्ति, पृष्ठ ३८१, काशी सं०।

३. चुरादिगणस्थ इदित् धातुओं में णिच् विकल्प से होता है, ऐसा वैयाकरणों का मत है। द्र० —धातुवृत्ति, पृष्ठ ३८७, काशी सं०।

व्याकरण-ग्रन्थों में अनेक पदों के ऐसे निर्वचन उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुसार प्रकृति-अंश (धातु वा प्रातिपदिक) में आदेश, आगम, लोप तथा वर्णविपर्यय आदि करने पड़ते हैं। यथा—

१. आदेश—(क) इन्द्र—तस्मादिन्धं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण। तै० ब्रा० २।२।१०।४॥

(ख) वध्य—हनो वा वध च। महा० ३।१।९० वार्तिक॥

(ग) कानीन—कन्यायाः कनीन च। अष्टा० ४।१।११६॥

२. आगम—(क) द्वारो जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा। निरुक्त ८।९॥

अथापि वर्णोपजनः द्वारः। निरुक्त २।२॥

(ख) मानुष, मनुष्य—मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च। अष्टा० ४।१।१६१॥

३. लोप—रञ्ज धातु से रञ्जेर्णौ मृगरमणे (अ० ६।४।२४ वार्तिक) से रजयति मृगान् में न-लोप। रजकरजनरज:सूपसंख्यानम् (अ० ६।४।२४ वार्तिक) से रजक, रजन, रजस् में न-लोप।

४. वर्णविपर्यय—निष्टर्क्य—कृतेराद्यन्तविपर्ययश्छन्दसि कृताद्यर्थः। यथा—कृतेस्तर्कः, कसेः सिकता, हिंसेः सिंहः। महाभाष्य ३।१।१२३॥

अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति…सिकता, तर्कु इति। निरुक्त २।१॥ सिंहः सहनात्, हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य। निरुक्त ३।१८॥

इन व्युत्पत्तियों में क्रमशः—

१—(क) 'इन्द्र' पद के ब्राह्मणोक्त निर्वचन में इन्ध् धातु के ध् को द् आदेश, और र् का आगम करना पड़ता है।

(ख) 'वध्य' शब्द के वार्तिककार कात्यायन के निर्वचन में हन धातु के स्थान में वध आदेश करना होता है।

(ग) 'कानीन' पद के पाणिनीय निर्वचन में कन्या के स्थान में कनीन आदेश करना पड़ता है।

२—निरुक्तकार यास्क की 'द्वार' पद की प्रथम निरुक्ति में जु धातु के ज् को द् आदेश, द्वितीय में द्रु धातु के र् का लोप, और तृतीय में वारि (वृ+णिच्) धातु के आदि में द् का आगम मानना पड़ता है। हमारा अभिप्राय यहां तृतीय निर्वचन में स्वीकृत आगम को उदाहृत करना है। निरुक्त २।२ के उद्धरण में भी 'द्वार' पद में [द्] वर्ण का उपजन=आगम माना है।

३—वार्तिककार कात्यायन ने रजयति, रजक, रजन और रजस् शब्दों को रञ्ज रागे धातु से निष्पन्न मानकर अनुनासिक का लोप दर्शाया है।

४—'निष्टक्यं' पद में पतञ्जलि ने निस् उपसर्गपूर्वक कृती छेदने धातु से यत् प्रत्यय, और कृत्=कर्त् के आद्यन्त क्-त् वर्णों का विपर्यय करके तृक्=तर्क् रूप माना है। इसी प्रकार कृत्(कर्त्)धातु से 'तर्कु', कस(=कसिता) से 'सिकता' और हिंस से 'सिंह' की व्युत्पत्तियां दर्शाई हैं। अर्थात् इनमें भी आद्यन्त-वर्ण-विपर्यय स्वीकार किया है। यास्क ने भी निरुक्त २।१ में तर्कु और सिकता पदों में, तथा निरुक्त ३।१८ में सिंह पद में इसी प्रकार आद्यन्त-विपर्यय दर्शाया है।

उक्त प्रकार के निर्वचन शब्द-निर्वचन नहीं—ब्राह्मण, निरुक्त, अष्टाध्यायी, वार्तिक-पाठ और महाभाष्य के उपरि निर्दिष्ट, तथा इस प्रकार के अन्य निर्वचन वस्तुतः शब्द-निर्वचन नहीं हैं,' अर्थ-निर्वचन अथवा अर्थ-प्रदर्शनमात्र हैं। इन्हें शब्द-निर्वचन कहना इन ग्रन्थकारों के साथ भारी अन्याय करना है। ये सभी ग्रन्थकार हमारी इस तथा आगे प्रदर्शित धारणा से पूर्ण विज्ञ थे। यद्यपि यास्क ने अथ निर्वचनम् का अधिकार करके उक्त निर्वचन दर्शाए हैं, पुनरपि ये शब्द-निर्वचन नहीं हैं, अर्थ-प्रदर्शनमात्र हैं।[1]

उक्त प्रकार के निर्वचनों का कारण—प्रश्न हो सकता है कि यदि उपरि-निर्दिष्ट तथा एतत्सदृश वे निर्वचन, जिनमें आदेश आगम लोप और वर्ण-विपर्यय करने पड़ते हैं, वास्तविक निर्वचन नहीं हैं, तो इन ग्रन्थों के प्रवक्ताओं ने इस प्रकार की असम्बद्ध कल्पनाएं क्यों कीं? इसका उत्तर यह है कि अति प्राचीन काल में, जब आदिभाषा (संस्कृतभाषा) अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध थी, उस समय उसमें धातुओं का बाहुल्य था। उत्तरोत्तर आदिभाषा में संकोच होने के कारण प्रयोगों में विचित्र अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। भाषा में किन्हीं मूल प्रकृतियों (=धातु-प्रातिपदिकों) के प्रयोग तो लुप्त हो गए; परन्तु उन लुप्त प्रकृतियों से निष्पन्न कृदन्त तथा तद्धितान्त प्रयोग भाषा में प्रयुक्त होते रहे। इसी प्रकार किन्हीं मूल प्रकृतियों (धातु-प्रातिपदिकों) का

---

१. हम आगे सप्रमाण दर्शायेंगे कि यास्क के निर्वचन शब्द-निर्वचन नहीं हैं, अपितु अर्थ-निर्वचन हैं। निरुक्तशास्त्र की रचना शब्द-निर्वचन के लिये नहीं हुई। उसका कार्यक्षेत्र केवल अर्थ-निर्वचन है। शब्द-निर्वचन व्याकरण का कार्यक्षेत्र है। हां, निरुक्तकार ने कहीं-कहीं वैयाकरणों के मतानुसार शब्द-निर्वचन भी दर्शाये हैं, जो अति स्वल्प हैं।

प्रयोग तो होता रहा। परन्तु उनसे निष्पन्न शब्दों का अभाव हो गया।[1] अतएव यास्क (निरुक्त २।२) लिखता है—

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते···विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।[2]

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते—दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः—उष्णम्, घृतम् इति।

अर्थात्—गत्यर्थक शव धातु के शवति आदि आख्यात रूप कम्बोज देश में ही प्रयुक्त होते हैं। उस [शव धातु] से निष्पन्न [कृदन्त] शव शब्द आर्यों में प्रयुक्त होता है (अर्थात्—आर्य शवति आदि आख्यातरूप नहीं बोलते, और कम्बोज देशवासी कृदन्त शव शब्द)। प्राग्देश (प्रयाग से पूर्व में दाति आदि आख्यात रूपों का व्यवहार होता है, परन्तु उत्तरदेश (पंजाब आदि) में 'दा' धातु से निष्पन्न दात्र शब्द प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार लोक में [आख्यातरूप में] प्रयुक्त, परन्तु वेद में अप्रयुक्त दम और साध धातु से निष्पन्न दमूना और क्षेत्रसाधा आदि कृदन्त प्रयोग वेद में उपलब्ध होते हैं। तथा वेद में [आख्यात रूप में] प्रयुक्त, परन्तु लोक में अप्रयुक्त उष दाहे, घृ क्षरणदीप्त्योः धातुओं से निष्पन्न कृदन्त उष्ण और घृत शब्द का लोक में निर्बाध प्रयोग होता है।

इस प्रकार आदि भाषा के ह्रास के कारण लोक में किन्हीं शब्दों की मूल प्रकृतियों (=धातु-नाम), और किन्हीं प्रकृतियों के विकारों (=कृदन्त-तद्धित रूपों) के लुप्त हो जाने पर भाषा में, विशेष करके उसके व्याकरण में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। यह अव्यवस्था भाषा के ह्रास के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इसलिए उस-उस काल के आचार्यों ने अपने-अपने समय में लुप्त-प्रकृति-निष्पन्न अवशिष्ट शब्दों की साधुता तथा अर्थ-निदर्शन के लिए स्वकाल

---

१. इस विषय को भले प्रकार जानने के लिये हमारा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' भाग १ पृष्ठ १९-४९ अवलोकन करें। वहाँ अनेक प्रमाण और उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट किया है।

२. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इनमें दो उदाहरण और जोड़े हैं। उसका पाठ है—'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनं आर्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।' महा० १।१। आ० १॥

में प्रयुक्त प्रकृतियों का अगत्या आश्रय लिया। कहीं-कहीं शब्द की मूल प्रकृति का लोक में प्रयोग होने पर भी उस प्रकृति का तन्निष्पन्न शब्द के अर्थ में प्रयोग न रहने के कारण उस अर्थ में प्रयुक्त होनेवाली अन्य प्रकृति से निर्वचन दर्शाया। यथा—इन्द्र पद की मूल प्रकृति इन्द (इदि) धातु पाणिनि के काल तक प्रयुक्त थी, पुनरपि पाणिनि से प्राचीन ब्राह्मणप्रवक्ता ने अपने समय में दीप्ति-अर्थ में इन्द (इदि) धातु के प्रयोग का प्रचलन न पाकर दीप्त्यर्थक इन्द्र पद के अर्थ-प्रदर्शन के लिए दीप्त्यर्थक 'इन्ध' धातु का आश्रय लिया।

व्याकरण और निरुक्त दो विद्याएं

कुछ दिनों से विद्या के अभाव के कारण व्याकरण और निरुक्त का प्रायः शब्दनिर्वचन ही प्रयोजन माना जाता है, परन्तु यह भूल है। शास्त्रों में १४ अथवा १८ विद्याओं की गणना में छहों वेदाङ्ग स्वतन्त्र विद्यास्थान माने गये हैं[1]। यदि व्याकरण और निरुक्त का एक ही प्रयोजन होता, तो ये दो स्वतन्त्र विद्यास्थान न माने जाते। समान प्रयोजन मानने पर निरुक्त व्याकरण का परिशिष्ट मात्र बन जाता है। परन्तु निरुक्त-प्रवक्ता यास्क ने निरुक्त शास्त्र को स्वतन्त्र विद्यास्थान कहा है। यास्क का वचन है—

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्, स्वार्थसाधकं च १।१५॥

अर्थात्— निरुक्त स्वतन्त्र विद्याग्रन्थ है, व्याकरणशास्त्र का पूरक है, और स्वप्रयोजन को सिद्ध करनेवाला है।[2]

इससे स्पष्ट है कि व्याकरण और निरुक्त का एक ही प्रयोजन नहीं है।

व्याकरण और निरुक्त के कार्यक्षेत्र का पार्थक्य यतः व्याकरण और निरुक्त दो पृथक् स्वतन्त्र विद्याएं हैं, इसलिये इनका कार्यक्षेत्र भी पृथक्-पृथक् ही होना चाहिये, न कि एक।

व्याकरण का कार्यक्षेत्र—पाणिनि ने अपने शास्त्र के प्रथम सूत्र अथ

---

१. वायु पुराण ६१।७८ में १४ विद्याएं इस प्रकार गिनाई हैं—'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।' अगले ७९ वें श्लोक में—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और सामवेद की गणना करके १८ विद्याएं दर्शाई हैं। यह गणना भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

२. निरुक्त व्याकरणशास्त्र का पूरक, और स्वप्रयोजन का साधक कैसे है? उसका स्वप्रयोजन क्या है? यह अगले प्रकरण से स्पष्ट होगा।

शब्दानुशासनम्' से अपने शास्त्र का प्रयोजन साधु शब्दों का अनुशासन=निर्वचन बताया है। शब्दों का निर्वचन अर्थ की उपेक्षा करके नहीं हो सकता। इसलिये व्याकरण-प्रवक्ता को शब्दों के अर्थों की भी अपेक्षा करनी पड़ती है। यतः व्याकरण का मुख्य प्रयोजन शब्द-निर्वचन होता है, अतः वह अर्थनिर्देश को प्रधानता नहीं देता। अनेकार्थक शब्द के किसी एक सामान्य अर्थ को निमित्त मान कर वह प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्द का निर्वचन कर देता है।

निरुक्त का कार्यक्षेत्र—निरुक्त का कार्य है—अर्थनिर्वचन। शब्द-निर्वचन निरुक्त का प्रयोजन नहीं है। प्राचीन आचार्य निरुक्तशास्त्र के इस प्रयोजन का प्रतिपादन बड़े स्पष्ट शब्दों में करते हैं। यथा—

१—निरुक्त वृत्तिकार दुर्ग (५०० वि० पू०)—आचार्य दुर्ग निरुक्त की वृत्ति में लिखता है—

तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानम् अर्थ-निर्वचनम्। व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम्। १।१५॥

अर्थात्—इसलिये स्वतन्त्र ही है यह निरुक्त विद्या का स्थान, अर्थनिर्वचन-शास्त्र। व्याकरण तो लक्षण=शब्दप्रधान[2] है।

२—प्रपञ्चहृदयकार का मत—प्रपञ्चहृदय ग्रन्थ का अज्ञातनामा लेखक लिखता है—

तान्यवयवप्रत्यवयवविभागपूर्वकं स्वरवर्णमात्रादिभेदेनार्थनिर्वचनाय निर्वचनानि। षडङ्ग-प्रकरण पृष्ठ २९।

अर्थात्—अवयव प्रत्यवयव के विभागपूर्वक स्वर-वर्ण और मात्रादि के भेद से अर्थ के निर्वचन के लिये निरुक्तशास्त्र के निर्वचन हैं।

३—सायण ऋग्भाष्य के उपोद्घात में निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन लिखता है—

एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निश्शेषेणोच्यन्त इति व्युत्पत्तेः। षडङ्ग-प्रकरण।

---

१. यह पाणिनि का ही सूत्र है। इसकी सप्रमाण विशद विवेचना हमने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १ पृष्ठ १४४-१४५ में की है।

२. 'लक्ष्यतेऽनेनार्थं इति' इस व्युत्पत्ति से लक्षण का अर्थ है शब्द, और लक्ष्य का वाच्य।

अर्थात्—प्रत्येक पद के सम्भावित अवयवार्थ वहां [निरुक्तशास्त्र में] निश्शेषरूप से कहे गए हैं।

निर्वचन शब्द का अर्थ ही 'अर्थान्वाख्यान' है—वस्तुतः निर्वचन शब्द का अर्थ अर्थान्वाख्यान ही है, शब्दान्वाख्यान नहीं। यथा—

४—अनन्तभट्ट भाषिकसूत्र ३।६ की व्याख्या में लिखता है—

निर्वचनं नाम अर्थस्यान्वाख्यानम्।

अर्थात्—निर्वचन शब्द अर्थान्वाख्यान (=अर्थ का कथन) का वाचक है।

५—निरुक्त का अन्तःसाक्ष्य—निर्वचन शब्द प्रधानतया अर्थान्वाख्यान का ही वाचक है। इसके लिये हम निरुक्त का अन्तःसाक्ष्य भी उपस्थित करते हैं। यथा—

क—निरुक्त में पचासों स्थानों पर शब्द का निर्वचन करके, और उदाहरणार्थ द्वितीय ऋक् उदाहृत करने से पूर्व लिखा मिलता है—

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

अर्थात् पूर्व-प्रदर्शित अर्थ को अधिक स्पष्टता से प्रकट करने के लिये उत्तरा ऋक् उपस्थित की जाती है।

निरुक्त में जहां-जहां तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय लिखा है, वहां निर्वचन का अर्थ अर्थान्वाख्यान के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। शब्दान्वाख्यान अथवा धातुनिर्देश की तो सम्भावना ही नहीं है।

ख—निरुक्त में अन्यत्र भी निर्वचन शब्द का प्रयोग 'अर्थान्वाख्यान' अर्थ में मिलता है। यथा—

अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति।७।२४॥

अर्थात्—द्वादशकपाल आदि में निर्दिष्ट कपाल संख्या से वैश्वानर शब्द के अर्थ के निश्चय में सहायता नहीं मिलती।

निर्वचन शब्द का अन्य अर्थ—यद्यपि निरुक्त में निर्वचन शब्द का अर्थ 'अर्थान्वाख्यान' ही है, तथापि निरुक्त के सहयोगी व्याकरणशास्त्र में निर्वचन-शब्द का अर्थ 'शब्दान्वाख्यान' अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश है।

एक शास्त्र में उभयार्थक का प्रयोग—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ग्रन्थकार किसी शब्द का पारिभाषिक अर्थ स्वयं लिख देते हैं, पुनरपि उस शब्द का प्रयोग स्व-अनभिप्रेत अर्थात् लोकप्रसिद्ध अथवा अन्यशास्त्र-प्रसिद्ध अर्थ में कर देते हैं। यथा—

क—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।१।१६२ में 'गोत्र' शब्द का 'पौत्र-प्रभृति अपत्य' अर्थ में संकेत[1] करके भी अष्टा० ४।२।३९ आदि[2] अनेक स्थानों में लोकप्रसिद्ध 'अनन्तर अपत्यरूप' अर्थ में भी गोत्र शब्द का व्यवहार किया है।

ख – इसी प्रकार बहुगणवतुडति संख्या (अष्टा० १।१।२३) सूत्र द्वारा कृत्रिम अथवा पारिभाषिक संज्ञा का विधान करके भी संख्याया अतिशदन्तायाः कन् (अष्टा० ५।१।२२) में लोकप्रसिद्ध एक द्वि आदि संख्या का भी ग्रहण माना है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकारों का कथन है—

उभयगतिः पुनरिह भवति। महाभाष्य १।१।२३।।

अर्थात् – व्याकरण में कृत्रिम अथवा पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में प्रसिद्ध शब्द कहीं-कहीं लोकप्रसिद्ध अर्थ का भी ग्रहण कराते हैं।

यथा व्याकरणे तथा निरुक्ते—जिस प्रकार व्याकरण में स्वपारिभाषिक संज्ञाओं से पारिभाषिक अर्थ के अतिरिक्त लोकप्रसिद्ध अर्थ का भी बोध होता है, उसी प्रकार निरुक्त में भी अर्थान्वाख्यान के लिये परिभाषित निर्वचन शब्द से कहीं कहीं शब्दान्वाख्यानरूप अर्थ का निर्देश भी उपलब्ध होता है। यथा—

तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। निरुक्त २।७।।

अर्थात्—यदि वे [समान] शब्द समान अर्थ के वाचक हों, तब उनका निर्वचन (शब्दान्वाख्यान=प्रकृति-निर्देश) समान होगा। यदि अर्थ भिन्न-भिन्न है, तो निर्वचन (प्रकृतिनिर्देश) भी भिन्न-भिन्न होगा।

इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि निर्वचन शब्द का अर्थ निरुक्त में शब्दान्वाख्यान (प्रकृतिनिर्देश) ही है। केवल शब्दान्वाख्यान अर्थ मानने पर पचासों स्थानों में प्रयुक्त 'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय' तथा 'अनिर्वचनं कपालानि' आदि वाक्यों में व्यवहृत 'निर्वचन' शब्द का कोई संगत अर्थ उपपन्न ही न होगा। अतः निरुक्त में निर्वचन शब्द के दोनों अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को मानने पड़ेंगे।

प्रश्न इतना ही है कि—निरुक्त में निर्वचन शब्द का मुख्य अर्थ क्या है—

---

१. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।। अ० ४।१।१६२।।

२. गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्य...... ।। अ० ४।२।३९।।

अर्थान्वाख्यान अथवा शब्दान्वाख्यान? पूर्व उद्धृत प्रमाणों के प्रकाश में हमारा विचार है कि निरुक्त में निर्वचन शब्द का मुख्य अर्थ अर्थान्वाख्यान ही है, शब्दान्वाख्यान नहीं। वह तो पर-तन्त्र अभिप्रेत गौण अर्थ है।

निरुक्त का वास्तविक नाम—अज्ञानवश हम जिस शास्त्र का निरुक्त नाम से व्यवहार करते हैं, उसका वास्तविक नाम तो निर्वचन-शास्त्र है।[1] निरुक्त शब्द निघण्टु का वाचक है।[2] अत एव समाम्नायः समाम्नातः (१।१) से आरम्भ होनेवाले ग्रन्थ के लिये प्राचीन ग्रन्थों में निरुक्तभाष्य[3] शब्द का व्यवहार होता है। निरुक्त-भाष्य के लिये निरुक्त पद का व्यवहार लाक्षणिक है।

यास्कीय निर्वचनों का स्पष्टीकरण

निरुक्त में एक शब्द के अनेक निर्वचन—यतः निरुक्त अथवा निर्वचन शास्त्र का मुख्य प्रयोजन शब्द के विभिन्न अर्थों का निदर्शन कराना है। अतः

---

१. 'अथ निर्वचनम् (२।१) का अर्थ है—यहाँ से 'निर्वचन' नामक शास्त्र का आरम्भ जानना चाहिये। तुलना करो—'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्'। महा० १।१।१॥

२. निघण्टु के लिये निरुक्त नाम का व्यवहार अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथा—'सुवर्णनामधेयेषु लोहशब्द आम्नातो निरुक्ते—लोहं कनकं काञ्चनमिति'। कौषीतकि गृह्य भवत्रात-विवरण, पृष्ठ ६९। कौत्सव्य निघण्टु के अन्त का पाठ है—'इति कौत्सव्यनिरुक्तनिघण्टुः समाप्तः। पृष्ठ ४२। सायण ने भी ऋग्भाष्य के उपोद्घात में षडङ्ग-प्रकरण में 'निघण्टु' के लिये निरुक्त शब्द का ही व्यवहार किया है। अगली टिप्पणी भी देखो।

३. निरुक्त के व्याख्याकार दुर्ग प्रभृति प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'निरुक्त-भाष्य-वृत्ती' शब्दों द्वारा 'समाम्नायः समाम्नातः' से आरभ्यमाण भाग को निरुक्त-भाष्य कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि दुर्गादि निरुक्त शब्द को निघण्टु का ही पर्याय मानते हैं।

तुलना करो—कौटिलीय अर्थशास्त्र के लिये कौटिल्य-भाष्य शब्द(कामन्दक-नीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षिणी टीका के आरम्भ में), तथा अर्थशास्त्र के अन्त में—'चकार सूत्रं च भाष्यं च'। अर्थशास्त्र का प्रथमाध्याय सूत्रभाग है, द्वितीय अध्याय से उसका भाष्यग्रन्थ। इसी प्रकार पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु-निरुक्त सूत्रग्रन्थ है। 'समाम्नायः समाम्नातः' से उसके भाष्यग्रन्थ का आरम्भ होता है।

एक शब्द के जितने मुख्य अर्थ होते हैं, वह उन सब अर्थों का निर्वचन= कथन करता है। शब्द के वाच्य रूप अनेक अर्थों का द्योतन जहाँ एक धातु से सम्भव नहीं होता, वहाँ वह उन अर्थ वाली, परन्तु यथासम्भव समान रूप वाली अनेक धातुओं का आश्रयण करता है। इस तत्त्व को यास्क स्वयं प्रकट करता है—

तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि।
नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि।२।७।।

अर्थात्—यदि वे शब्द समानार्थक हों तो उनका निर्वचन भी समान होगा। यदि भिन्न अर्थ वाले हैं तो निर्वचन भी भिन्न होंगे। अर्थ का अनुसरण करके ही निर्वचन करना चाहिये।

इसी सिद्धान्त के अनुसार निरुक्त में अनेकार्थक शब्दों के अनेक धातुओं से निर्वचन किए हैं।

निरुक्त के 'वा' शब्द का अर्थ—निरुक्त में जहां एक शब्द के अनेक निर्वचन किए हैं, वहां प्रत्येक निर्वचन के साथ 'वा' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है। एक शब्द के विभिन्न अर्थों की दृष्टि से किए गए निर्वचनों का समुच्चय करता है। पाश्चात्य तथा तदनुयायी लेखक निरुक्तस्थ इस 'वा' शब्द को संदेह-द्योतक मानते हैं और प्रकट करने की चेष्टा करते हैं कि निरुक्त के समय में शब्दों के मूल अर्थ लुप्त हो गये थे। इसलिये निरुक्तकार ने अनेक निर्वचन करके, 'ये निर्वचन सन्देहात्मक हैं' यह स्वयं प्रकट कर दिया।

पाश्चात्य लेखकों की भूल—पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय लेखक निरुक्त शास्त्र के वास्तविक प्रयोजन को न समझ कर उसे शब्द-निर्वचन-शास्त्र समझते हैं। और वे इस शास्त्र की इसी दृष्टि से परीक्षा करते हैं। अपने अज्ञान के कारण निरुक्त शास्त्र और उसके निर्वचनों के सम्बन्ध में वे किस प्रकार के विचार प्रकट करते हैं। इसके उदाहरण के लिये हम डा० वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा के कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

राजवाड़े प्रदर्शित निरुक्त-मत की भ्रान्ति—डाक्टर राजवाड़े ने निरुक्त की भूमिका में लिखा है—

1—The Nirukta method is a strange one, it hardly

deserves the name of शास्त्र or science. (भूमिका पृ० ४०, ४१)।[1]

अर्थात्—निरुक्त का ढंग विचित्र है। यह शास्त्र=विज्ञान वा विद्यास्थान नाम के योग्य नहीं है।

2—It is not a science but travesty of Science. (भूमिका पृ० ४१)।

अर्थात्—यह (निरुक्त) विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान का उपहास है।

3—The NiruKta method of derivation is simply an aberration or a waste of the human intellect. (भूमिका पृ० ४१)।

अर्थात्—निरुक्त का निर्वचन-प्रकार एक भ्रममात्र है या मानव बुद्धि का व्यर्थ प्रयोग।

4—I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day, (भू० पृ० ४१)।

अर्थात्—मैं कहने का साहस करता हूँ कि निरुक्त की निर्वचन-विधि मूर्खतापूर्ण है। और फिर भी आज तक यह अपना स्थान बनाए हुए है, अर्थात् प्रतिष्ठित है।

5—Numbers of etymologies in the Nirukta seem senseless, they are based on a wrong theory of derivation……—……on account of this theory numbers of derivations are really inventions. (भू० पृ० ४३)।

अर्थात्—निरुक्त में बहुत संख्या में निर्वचन भावरहित है, क्योंकि वे निर्वचन के अशुद्ध सिद्धान्त पर आश्रित हैं।……इस मत के कारण बहुत से निर्वचन वस्तुतः कल्पित अथवा घड़े गए हैं।

6—Words whose derivations are sensible are limited in number. (भू० पृ० ४३)।

---

१. डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा के उद्धरण वेदवाणी के वेदाङ्क वर्ष ६ (१९५६ई०) में मुद्रित आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के लेख से लिये हैं। यह लेख वैदिकों के लिये अवश्य पठनीय है।

अर्थात् जिन शब्दों का निर्वचन युक्त है, ऐसे संख्या में अत्यल्प हैं।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा प्रदर्शित निरुक्त-मत की भ्रान्ति—डा० सिद्धेश्वर वर्मा भी 'इटिमोलोजि आफ यास्क' में यास्क की निरुक्तियों के विषय में लिखते हैं—

1— Shows that he (Yaska) had a passion, a craze fot etymology.

अर्थात् - इनसे प्रकट है कि यास्क का निर्वचन करने वा दिखाने का उत्साह पागलपन (झक या सनक) की सीमा तक पहुँच गया था।

2 Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered enslaved and crushed his imagination, for poverty of his imagination is remarkable. Owing to this serious defect, he is driven, not only to offer superfluous and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies. It does not seem to have occurred to him that the meaning of a word could be metaphorically extended. Even with a metaphorical meaning, he felt the need of a separate etymology. (पृ० ८)।

अर्थात् यास्क इतना अधिक निर्वचन-कर्त्ता था कि उसके निर्वचन के पागलपन ने उसकी कल्पना को दबाया, दास बनाया और कुचल दिया। उस की कल्पना की दरिद्रता विलक्षण है। इस गम्भीर दोष के कारण वह न केवल व्यर्थ और अनावश्यक, प्रत्युत ढीले, सारहीन और सत्य से परे निर्वचन वेता है। प्रतीत होता है, उसे सूझा ही नहीं, कि किसी शब्द का अर्थ लक्षणा आदि से भी विस्तृत हो सकता है। लाक्षणिक अर्थ होते हुए भी उसे पृथक् निर्वचन की आवश्यकता हुई।

राजवाड़े और सिद्धेश्वर वर्मा का महान् अज्ञान – निरुक्तशास्त्र के वास्तविक प्रयोजन से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा को कितनी भ्रान्ति हुई और उन्होंने प्राचीन आर्ष प्रामाणिक तथा विद्यास्थान निरुक्त के विषय में विना समझें बूझे कैसे अनर्गल प्रलाप किये, इसका स्पष्टीकरण अगली पंक्तियों से होगा।

सिद्धेश्वर वर्मा की एक और भ्रान्ति—डा० जी लिखते हैं—"प्रतीत होता है उसे [यास्क को] सूझा ही नहीं कि किसी शब्द का अर्थ लक्षणा आदि से भी विस्तृत हो सकता है" (इटिमो० पृष्ठ ८) ।

डाक्टर जी के लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मूल निरुक्तशास्त्र को गम्भीरतापूर्वक पढने का कभी प्रयास ही नहीं किया । सम्भव है उनका निरुक्तविषयक ज्ञान अधिकतर अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी टिप्पणियों पर आश्रित हो । इसलिए उन्हें निरुक्त के वे स्थल न सूझे हों, जहां यास्क ने शब्दों के लक्षणा आदि से विस्तृत अर्थों की मीमांसा की है । भला यास्क जैसे प्रामाणिक आचार्य की पैनी दृष्टि से यह साधारण सी बात कैसे ओझल रह सकती थी ? वह इस तत्त्व को भले प्रकार जानता था । उसने अनेक स्थानों पर शब्दों के लाक्षणिक अर्थों की विवेचना की है । इसके लिए हम निरुक्त का एक ही उदाहरण उपस्थित करना पर्याप्त समझते हैं । पाद शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क लिखता है—

पादः पद्यतेः । तन्निधानात् पदम् । पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः । प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि । निरुक्त २।७।।

अर्थात्—पाद शब्द का अर्थ है, जिससे गति की जाए [अर्थात् पैर] । उस [पैर] के रखने से [जहां पैर रखा गया उस स्थान को] पद कहते हैं ।[1] पशुओं के [चार] पैर कारण हैं जिसमें, ऐसा प्रभाग [चतुर्थ भाग] भी पाद कहाता है । प्रभाग पाद की सामान्यता से अन्य [अवयव] भी पद कहाते हैं ।

अब कहिए डाक्टर जी ! यास्क को लक्षणा आदि से अर्थ के विस्तृत होने का ज्ञान था वा नहीं ? यास्क ने पाद शब्द के लाक्षणिक अर्थों का प्रदर्शन करते हुए उन अर्थों के लिए धातु से निर्वचन नहीं दर्शाए । इसलिए आपका 'लाक्षणिक अर्थ होते हुए भी उसे पृथक् निर्वचन की आवश्यकता पड़ी" लेख भी वस्तु स्थिति से सर्वथा विपरीत है ।

यास्कीय निर्वचनों की युक्तता—निरुक्तशास्त्र वस्तुतः शब्द-निर्वचन-शास्त्र नहीं है । इसलिए शब्दों की मूल प्रकृतियों का निदर्शन कराना इस शास्त्र का लक्ष्य नहीं है ।[2] अपितु निरुक्त का प्रयोजन शब्दों के अर्थों का निर्व-

---

१. [सोमक्रयिण्याः] सप्तमं पदं गृह्णाति (मीमांसा-भाष्य ४।१।२५ में शबर द्वारा उद्धृत) वाक्य में पद शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में है

२. डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने निरुक्त शास्त्र को व्याकरण

चन= अन्वाख्यान करना है। अतएव यास्क ने एक शब्द के मुख्य वृत्ति से जितने विभिन्न अर्थ प्रसिद्ध थे, उन अर्थों के निर्वचन के लिए जितनी विभिन्न धातुओं का निर्देश किया, वह युक्तियुक्त है। उसमें कोई दोष नहीं। हम प्रसंगात् पूर्वनिर्दिष्ट 'द्वार' पद के यास्कीय निर्वचनों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

यास्कीय द्वार पद के निर्वचन की युक्तता—यास्क ने द्वार पद का निर्वचन किया है—

द्वारो जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा।८।९॥

अर्थात्—द्वार शब्द के तीन अर्थ हैं—जवति (जु), द्रवति(द्रु) और वारयति (वारि) धातुओं का।

द्वार शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा—

क—यह आगरा द्वार[1] (दरवाजा) है, यह देहली द्वार।

ख—पानी ने बांध में से निकलने का द्वार (रास्ता) बना लिया।

ग—दरवाजा बन्द करो।

इन अर्थों को व्यक्त करने के लिए यास्क ने द्वार शब्द के अर्थ-निर्वचन में तीन धातुओं का संकेत किया है।

क—आगरा द्वार आदि प्रयोगों में द्वार शब्द का अर्थ है—नगर के परकोटे का वह स्थान जहां से जव=वेगपूर्वक अर्थात् निर्बाध गमनागमन हो, इस अर्थ में पाणिनि का सूत्र है—

अभिनिष्क्रामति द्वारम्—(अष्टा० ४।३।८६) स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम्।

अर्थात्=स्रुघ्न और मथुरा के लिए नगर के परकोटे में से जिस स्थान से निकले, वह स्रौघ्न और माथुर द्वार कहाते हैं।[2]

के समान शब्द-निर्वचन अर्थात् तत्तत् शब्दों का मूल प्रकृति-निदर्शक ग्रन्थ समझ कर उस पर पूर्व निर्दिष्ट आक्षेप किये हैं।

१. देखो अगली टिप्पणी।

२. यह अभिप्राय काशिका आदि वृत्तिकारों के अनुसार है। सूत्र के स्वारस्य के अनुसार हमारे विचार में यहाँ द्वार पद का अर्थ 'मार्ग' समझना चाहिये (मार्ग अर्थ में भी द्वार शब्द का प्रयोग होता है)। जो मार्ग स्रुघ्न की ओर अभिनिष्क्रमण करता है, वह स्रौघ्न द्वार=मार्ग होता है। फारसी का 'दर्रा' पद मार्गवाची द्वार शब्द का विकार है।

यद्यपि नगर प्रकोट के द्वारों में प्रायः कपाट भी होते हैं, तथापि यह आवश्यक नहीं कि ऐसे स्थानों पर कपाट भी लगे हों।

ख—दूसरे प्रयोग में उस सूक्ष्म मार्ग का वाचक है, जिसमें से पानी आदि द्रव द्रव्य स्रवित होते हैं। इस दूसरे अर्थ को व्यक्त करने के लिए यास्क ने द्रवति (द्रु गतौ) धातु का निर्देश किया है।

आवश्यक—काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका (पृष्ठ ७३) के अनुसार द्वार की मूल प्रकृति द्वृ वरणे धातु के द्वरति पद का अर्थ 'छिद्र बनाता है' ही है।

ग—तीसरे अर्थ में द्वार शब्द का अर्थ कपाट (किवाड़) है, जो बन्द किए जाते हैं। इसलिए 'द्वारं पिधेहि' वाक्य के अर्थ में 'कपाटं पिधेहि'=किवाड़ बन्द करो—वाक्य का भी प्रयोग होता है। द्वार शब्द के किवाड़ अर्थ को व्यक्त करने के लिए यास्क ने वारयति (वृ संवरणे) धातु का निर्देश किया है।

यास्क के द्वार पद के निर्वचनों की इस विवेचना से स्पष्ट है कि यास्क विभिन्न क्रियाओं के द्वारा शब्दों के विभिन्न अर्थों की ओर संकेत करता है न कि उन शब्दों की मूल प्रकृतियों की ओर। निर्वचन प्रसंग में यास्क द्वारा व्यवहृत 'वा' पद समुच्चयार्थक है यह पूर्व लिख चुके हैं।

यहाँ यास्क के 'द्वार' पद के निर्वचनों की संगति एवं युक्तियुक्तता हमने निरुक्त शास्त्र के अर्थनिर्वचनता के सिद्धान्त का आश्रय लेकर दर्शाई है। यह 'निरुक्त शास्त्र की अर्थनिर्वचनता' हमारी कोई निजी कल्पना नहीं है। यह निरुक्त शास्त्र का मौलिक सिद्धान्त है। निरुक्तकार के विभिन्न निर्वचन इसी सिद्धान्त पर आधृत हैं। इस विषय में हम यहाँ निरुक्तकार यास्क का एक अत्यन्त स्पष्ट एवं निर्णायक प्रमाण उद्धृत करते हैं—

नैरुक्त निर्वचनों की अर्थ-निर्वचनता में प्रमाण—निरुक्त (७।१३) में छन्दों के नामों के निर्वचन प्रसङ्ग में 'विराट्' पद का निर्वचन करते हुए यास्क ने लिखा है—

विराट् विराजनाद्वा, विराधनाद्वा[1], विप्रापणाद्वा ...।

यास्क ने 'विराट्' पद के तीन निर्वचन दिखाए हैं। निरुक्त को शब्दनिर्वचन समझनेवाले पाश्चात्य तथा उनके अनुगामी विद्वान् कहेंगे कि यास्क विराट् पद के निर्वचन के विषय में स्वयं सन्दिग्ध है। अतएव वह कभी 'वि' पूर्वक

---

१. दैवत ब्रा० ३।१२ में 'विराधनाद्वा' अंश मुद्रण दोष से नहीं छपा। सायण भाष्य में 'त्रिभ्यो धातुभ्यः' का उल्लेख है।

'राज्' धातु से इसका निर्वचन करता है, तो कभी 'वि' पूर्वक 'राध्' धातु से और कभी उसकी बुद्धि 'वि' 'प्र' पुर्वक 'आप्' धातु तक दौड़ लगाती है'। तो क्या ये निर्वचन यास्क की सन्दिग्ध स्थिति के द्योतक हैं ? कदापि नहीं। तो क्यों फिर उसने एक शब्द के तीन विभिन्न निर्वचन किए ? यास्क आगे स्वयं इसका उत्तर देते हुए लिखता है—

विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधनाद् ऊनाक्षरा, विप्रापणाद् अधिकाक्षरा।

अर्थात् छन्दःशास्त्र के अनुसार 'विराट्' पद तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है— सम्पूर्णाक्षर, ऊनाक्षर, और अधिकाक्षर।

अर्थगत इन तीन भेदों को दृष्टि में रखकर 'विराट्' शब्द के उपर्युक्त तीन विभिन्न निर्वचन किये गये हैं। किसी सन्देह के कारण नहीं। अर्थभेद ही निर्वचनभेद का प्रयोजक है[1], सन्देह नहीं।

आचार्य सायण 'नैरुक्त निर्वचन अर्थनिर्वचन हैं' इसे निस्सन्दिग्ध रूप से जानता था। वह दैवत ब्राह्मण (३।१३) के विराड् विरमणाद् विराजनाद् [विराधनाद्[2]] वा की व्याख्या में स्पष्ट लिखता है—धातुत्रय स्यार्थस्य तस्मिन् संभवात्।

निरुक्तकार का यह निर्वचन-भेद-सम्बन्धी स्पष्टीकरण उन लोगों की आँखें खोल देने वाला है, जो निरुक्त के निर्वचनों में प्रयुक्त 'वा' शब्द को समुच्चयार्थक न मान कर सन्देहार्थक समझते हैं। अर्थनिर्वचन के तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि (३।७) इस सिद्धान्त का यह कितना ज्वलन्त उदाहरण है! उपर्युक्त सिद्धान्त और प्रमाण के रहते क्या अब भी पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय विद्वान् निरुक्त को शब्द-निर्वचन' का शास्त्र मान कर नैरुक्त निर्वचनों को मूर्खतापूर्ण कहने का दुःसाहस करेंगे ?

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचना से यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया कि यास्क के निर्वचन सर्वथा यथार्थ हैं। उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं। अतः डा०

---

१. द्रष्टव्य - तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। निरुक्त २।७॥

२. पं० जीवाराम के संस्करण में यह कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है। सम्भवतः आगे के दो अक्षरों के साम्य के कारण दृष्टिदोष से छूट गया है।

राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा के निरुक्तविषयक उद्गार बाललीला मात्र हैं, एतद्विषयक पाण्डित्य तो उन्हें छूआ भी नहीं है।

पाणिनीय निर्वचन

हम पूर्व लिख चुके हैं कि ब्राह्मण, और व्याकरण के प्रवक्ता आचार्यों ने शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ-प्रदर्शन से लिए स्वकालप्रसिद्ध प्रकृतियों का आश्रय लिया है। इसलिए जिन शब्दों की मूल प्रकृतियाँ उनके काल में लुप्त = अव्यवहृत हो चुकी थीं, उन शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ-प्रदर्शन के लिए तत्समानार्थक तथा तत्सदृश प्रकृतियों में आगम, आदेश और लोप आदि कार्यों का विधान करके व्युत्पाद्यमान शब्द की मूल प्रकृतियों की ओर संकेत किया है। इस मत की पुष्टि के लिए हम दो शब्दों की पाणिनीय व्युत्पत्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

पाणिनि की दो व्युत्पत्तियां—पाणिनि ने कानीन और मानुष तथा मनुष्य की जो व्युत्पत्तियां की हैं, उन्हें हम पूर्व लिख चुके हैं। तदनुसार—

कानीन—कानीन शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए पाणिनि ने कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय और कन्या को कनीन आदेश किया है—कन्यायाः कनीन च (अष्टा० ४।१।११६)। इससे पाणिनि ने कानीन की मूल प्रकृति कनीना[1] (कनीन का स्त्रीलिंग) और उसका अर्थ कन्या है, इन दोनों अप्रसिद्ध बातों की ओर संकेत किया है। यतः कानीन की मूल प्रकृति का उस काल में आर्यों में प्रयोग लुप्त हो चुका था,[2] अतः पाणिनि ने कानीन की व्युत्पत्ति तथा अर्थनिर्देश कनीना पद द्वारा प्रदर्शित नहीं किया।

मानुष और मनुष्य—इन दो पदों की व्युत्पत्ति पाणिनि ने मनु शब्द से अपत्य अर्थ में क्रमशः अण् और यत् प्रत्यय तथा मनु को षुक् = ष् अन्तागम करके की है। यहां भी पाणिनि का अभिप्राय यही है कि मानुष और मनुष्य की मूल प्रकृति मनुष् है। यतः मनुष शब्द उस समय लोक में व्यवहृत नहीं

---

१. तै० आरण्यक १०।२७।६ में कुमारीषु कनीनीषु पाठ में मध्योदात्त कनीनी ङीबन्त प्रयोग मिलता है।

२. कनीना का अपभ्रंश 'कइनीन' अवेस्ता और 'कइन' हिब्रू भाषा में उपलब्ध होता है। इस विषय में विचार करने के लिये 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १ पृष्ठ ८ सं० २०३० देखना चाहिए।

था, अतः पाणिनि ने मनुष् के समानार्थक मनु शब्द से अर्थ का निर्देश तथा उसको षुक् आगम करके मूल प्रकृति मनुष् की ओर संकेत किया है।

मनु और मनुष् दो पृथक् शब्द—मनु उकारान्त और मनुष् षकारान्त दो पृथक् शब्द हैं। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

क—वेद में मनु और मनुष् दोनों पद पृथक् पृथक् स्वतन्त्ररूप से असकृत् प्रयुक्त हैं। अतएव यास्क ने मनुष्य शब्द के निर्वचन में मनोरपत्यं मनुषो वा (३।७) में मनुष् प्रकृति का भी उल्लेख किया है।

ख—पाणिनि ने जाति अर्थ में ही अञ् और यत् प्रत्यय के सन्नियोग में मनु को षुगागम कहा है। परन्तु जाति के अतिरिक्त अर्थ में, तथा अञ् और यत् प्रत्यय से अन्यत्र अण् प्रत्यय में भी षुगागम देखा जाता है। यथा—

१—दैवं च मानुषं चापि कर्म। रामायण १।१८।४५॥

३—मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। शत० १।४।१।१५॥

यहां उभयत्र तस्य इदम् (अष्टा० ४।३।१२०) अर्थ में अण् प्रत्यय के परे षुगागम उपलब्ध होता है। शतपथ के पाठ में मानुष शब्द स्पष्ट अन्तोदात्त है। अतः उसमें अण् प्रत्यय ही है, यह स्पष्ट है।

शतपथ में अण् और अञ् दोनों प्रत्ययों के अन्तोदात्त और आद्युदात्त रूप उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में केवल आद्युदात्त मानुष शब्द उपलब्ध होता है।

मनु शब्द के तद्धित रूप—वस्तुतः मनु शब्द के तद्धितरूप मानव और मानव्य होते हैं। इन दोनों के प्रयोग भी गोपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं।

अतः मनु और मनुष् दो स्वतन्त्र शब्द हैं, यह स्पष्ट है।

सायण की भूल—ऋग्वेद में षकारान्त मनुष् शब्द का बहुधा प्रयोग होने पर भी सायण ने ऋ० १।१२।४ में प्रयुक्त मनुर्हितः की व्याकरणप्रक्रिया में लिखा है—

मनुना हितः इति तृतीयासमासे तृतीयायाः स्थाने सुपां सुलुक्० (अ०७।१।३९) इत्यादिना सु आदेशः। तस्य रुत्वम्। लुगभावश्छान्दसः॥

अर्थात्—'मनुना हितः' इस विग्रह में समास होने पर तृतीया के स्थान में 'सु' (प्रथमैकवचन) हो गया है।

सायण की यह व्याख्या नितान्त काल्पनिक है। सान्त मनुस् शब्द से मनुषा हितः विग्रह में किसी छान्दस कार्य की आवश्यकता ही नहीं होती। शब्दरूप सरलता से निष्पन्न हो जाता है।

यह है व्याकरण के लोप आगम तथा आदेश आदि करके दर्शाई गईं व्युत्पत्तियों का अन्तर्हित तात्पर्य। इस पक्ष के समझ में आते ही व्याकरण ब्राह्मण और निरुक्त आदि की सभी व्युत्पत्तियाँ युक्तिसंगत हो जाती हैं।

लुप्त प्रकृति-निर्देश और भट्ट कुमारिल—भट्ट कुमारिल का भी यही मत है कि व्याकरणशास्त्र की लोप आगम आदेश और वर्णविपर्यय विधायक पद्धति का मूल प्रयोजन भाषा से लुप्त हुए शब्दों और उनके रूपों का निदर्शन कराना ही है। वह लिखता है—

यावाँश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्। तदुपलक्षितरूपाणि च। तन्त्रवार्तिक १।३।१२ पृष्ठ २३६, पूना संस्करण।

अर्थात्—जितनी स्वाभाविक शब्दराशि विनष्ट हो गई, उसका उपलक्षण करानेवाला एकमात्र व्याकरण, अथवा उसके द्वारा उपस्थापित रूप ही है।

प्रकृत्यन्तर-लक्षण—पदवाक्यप्रमाणज्ञ भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।१७८ में प्रकृत्यन्तर का लक्षण इस प्रकार दर्शाया है—

अर्थान्तरे च यद्वृत्तं तत्प्रकृत्यन्तरं विदुः।

अर्थात्—जो अर्थान्तर में वर्तमान होवे, वह प्रकृत्यन्तर होती है। यहां अर्थान्तर से अभिप्राय विषयान्तर का है।

भर्तृहरि के मत में 'यज' 'इज' भिन्न धातुएं—प्रकृत्यन्तर के विषय में अगले श्लोक में भर्तृहरि ने इज यज का उदाहरण देते हुए लिखा है—

भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे। २।१७९॥

इसी तत्त्व का विवेचन निरुक्त टीकाकार स्कन्दस्वामी ने इस प्रकार किया है—

इह केचिद यकारादीनुपदिश्य ङित्सु संप्रसारणं विदधते। अन्ये पुनरिकारादीनुपदिश्य ङित्सु यणम्। निरुक्त टीका २।२, पृ० १७।[1]

पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न मुनि ने स्व धातुपाठ में स्वादिगण में इज और यज दोनों धातुओं को पढ़ा है। द्र०—१।४६५,६६६।

प्रकृत्यन्तर-निर्देश में प्रमाण—पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों का लोप आगम आदेश और वर्णविपर्यय आदि द्वारा मूल लुप्त प्रकृत्यन्तर-निर्देश में ही तात्पर्य है। इसको प्रमाणित करने के लिए हम चार प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—नेष्टा पद की सिद्धि के लिए कात्यायन का वार्त्तिक है—

नयतेः षुक् च । अ० ३।२।१३७॥

अर्थात्—'णीञ् प्रापणे' धातु से 'तृन्' प्रत्यय और धातु को षुक् का आगम होता है ।

इस पर महाभाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं—

धात्वन्तरं नेषतिः ।......नेषतु नेष्टात् इति हि प्रयोगो दृश्यते ।[1]

अर्थात्—'णीञ् प्रापणे' धातु को षुक् आगम करने की आवश्यकता नहीं । निष स्वतन्त्र धातु है, क्योंकि वेद में नेषतु, नेष्टात् प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

२—वैयासकि पद की निष्पत्ति के लिए एक वार्तिक है—

सुधातृव्यासयोः ।......सौधातकिः, वैयासकिः शुकः ।४।१।९७॥

अर्थात्— सुधातृ और व्यास शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है, और सुधातृ तथा व्यास को अकङ् [अन्त] आदेश हो जाता है । व्यास+इञ्, व्यासक+इञ्=वैयासकिः ।

इस पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

तर्त्हि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम् । प्रकृत्यन्तराण्येवैतानि ।

अर्थात्—क्या व्यास आदि से अकङ् कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये । व्यासक आदि स्वतन्त्र प्रकृति हैं । उनसे [सामान्यविहित इञ् प्रत्यय होकर] वैयासकि आदि पद बन जायेंगे ।

स्पष्टीकरण—महाभाष्यकार पतञ्जलि का लेख सत्य इतिहास पर आश्रित है । भारतीय इतिहास में २८ व्यास गिनाए गये हैं ।[2] शुक के पिता कृष्ण द्वैपायन व्यास सब से कनिष्ठ=अन्तिम व्यास थे । अतः इस व्यास के लिये व्यास शब्द से ह्रस्वे (अष्टा० ५।३।८६) सूत्र से क प्रत्यय होकर व्यासक पद निष्पन्न होता है । इस व्यासक से इञ् प्रत्यय होकर वैयासकि पद निष्पन्न हो जायेगा । अकङ् आदेश की कोई आवश्यकता नहीं ।

३—भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट अन्य प्रकृत्यन्तर—

महाभाष्य में अन्यत्र निम्न स्थानों पर प्रकृत्यन्तरों का निर्देश मिलता है—

---

१. इसके आगे महाभाष्यकार ने 'इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्' आदि वैदिक वचन उद्धृत किए हैं ।

२. वायु पुराण अ० २३, श्लोक ११४ से आगे ।

१।१।४; ६।४।२४—वृहिः प्रकृत्यन्तरम्। भाग १, पृष्ठ ५२[1]।।
४।२।२ पीतकं प्रकृत्यन्तरम् । भाग २, पृष्ठ २७१।।
४।३।२२—हेम्नः प्रकृत्यन्तरत्वात् । भाग १, पृष्ठ ३०४ ।।
४।३।८४—प्रकृत्यन्तरं विदुरशब्दः । भाग २, पृष्ठ ३१३।।
५।२।२९– प्रकृत्यन्तरं तैलशब्दः । भाग २, पृष्ठ ३७७।।
६।१।६०—शीर्षकं प्रकृत्यन्तरम् । भाग ३, पृष्ठ ४०।।
६।३।३५--सपत्नशब्दः प्रकृत्यन्तरम् । भाग ३, पृष्ठ १५५।।
७।३।८७—स्पशिकशिवशयः प्रकृत्यन्तराणि । भाग ३, पृष्ठ ३३८।।

रजयति तथा रजक आदि पदों की सिद्धि वार्तिककार ने रञ्ज धातु से नकार का लोप मानकर दर्शाई है,यह हम पूर्व लिख चुके हैं। वस्तुतः रञ्ज और रज दो स्वतन्त्र धातुएं हैं। इन दोनों से यथाक्रम नकारानुषक्त तथा नकाररहित दो प्रकार के पद निष्पन्न होते हैं। यास्क ने निघण्टु ३।१४ में अर्चतिकर्मा क्रियाओं में रञ्जयति, रजयति दोनों पृथक्-पृथक् पद पढ़े हैं। वार्तिककार के अनुसार अर्चति-अर्थ में रजयति प्रयोग नहीं हो सकता। किन्तु देखा जाता है, इससे विदित होता है कि ये दोनों स्वतन्त्र धातुएँ हैं।[2]

४—सिंह शब्द की यास्क और पतञ्जलि दोनों की व्युत्पत्ति पूर्व दर्शा चुके। तदनुसार इसमें हिंस धातु से अच् प्रत्यय और हिंस के आद्यन्त वर्णों का विपर्यय होकर सिंह पद निष्पन्न होता है। परन्तु पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न[3] के धातुपाठ में हिंसार्थक सिहि (सिंह) धातु साक्षात् पढ़ी है (पृष्ठ ६६)।

काशकृत्स्न धातुपाठ में पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा लगभग ४५० अर्थात् चौथाई धातुएं अधिक हैं। पाणिनि से भिन्न धातुओं की संख्या तो इस

---

१. यहां सर्वत्र भाग और पृष्ठसंख्या कीलहार्न संस्करण की दी है।

२. तुलना करो—'कथं ज्ञायते बृहिः प्रकृत्यन्तरम्? अचीति लोप उच्यते (वृ हेरच्यनिटि वार्तिक से)। अनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते' (महाभाष्य, न धातुलोप० सूत्र १।१।४)। इसी नियम के अनुसार वार्तिककार ने मृगरमण अर्थ में नलोप कहा। परन्तु मृगरमण से अन्यत्र 'अर्चति' अर्थ में भी देखा जाता है, अतः रज स्वतन्त्र धातु है।

३. अनेक लेखक काशकृत्स्न को पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं, वे भ्रान्त हैं। काशकृत्स्न पाणिनि से पर्याप्त प्राचीन है। इसके लिये देखो—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १,पृष्ठ ८१; तथा 'साहित्य' पटना (सन् १९५८) में हमारा लेख—'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र।'

से बहुत अधिक है । इन धातुओं में ऐसे शतशः शब्दों की, जिनकी मूल प्रकृति पाणिनि के समय लुप्त हो चुकी थी, मूल धातुएँ मिल जाती हैं । उनके लिये लोप आगम और आदेश आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती । यथा— उणादिसूत्रों के अनुसार नौ शब्द की सिद्धि नुद धातु से डौ प्रत्यय और धातु के उद् भाग का लोप होकर होती है ।[1] परन्तु काशकृत्स्न धातुपाठ में णौ (नौ) प्लवने स्वतन्त्र धातु पढ़ी है (पृष्ठ ६८) । उससे औत्सर्गिक क्विप् प्रत्यय में बिना लोपादि कार्य के नौ पद सिद्ध हो जाता है ।

उपसंहार

इस सारी विवेचना से स्पष्ट है कि निरुक्त और व्याकरणशास्त्र को आजकल जिस परिपाटी से पढ़ा-पढ़ाया जाता है, वह सर्वथा अशुद्ध है ।[2] उसी अशुद्ध परिपाटी से पढ़ने-पढ़ाने का यह फल है कि उसके द्वारा न केवल संस्कृत भाषा दूषित हो रही है, अपितु इन शास्त्रों का वास्तविक गौरव भी नष्ट हो रहा है । इसलिए इन शास्त्रों का यथार्थ दृष्टि से अध्ययन करने पर ही इनका वास्तविक रहस्य समझ में आयेगा ।

इस स्पष्टीकरण से यह भी भले प्रकार व्यक्त हो गया कि छन्दः पद की मूल प्रकृति छन्द (छदि) धातु है, चन्द (चदि) वा छन्द नहीं ।

हमने इस अध्याय में छन्दः पद का निर्वचन तथा उसकी विस्तारपूर्वक विवेचना की । अगले अध्याय में 'छन्दःशास्त्र के पर्याय' शब्दों के विषय में लिखा जायेगा ।।

---

१. ग्लानुदिभ्यां डौः । पंचपादी २।६५; दशपादी २।१२।।

२. हमने अष्टाध्यायी की उक्त प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या लिखने का उपक्रम किया है । उसके पूर्ण होने पर आधुनिक भाषाविज्ञान के नाम पर 'संस्कृत भाषा' के विषय में जो आक्षेप किये जाते हैं, उन सब का परिमार्जन हो जायेगा ।

तृतीय अध्याय

छन्दःशास्त्र के पर्याय

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में छन्दःशास्त्र के लिये अनेक नामों का व्यवहार उपलब्ध होता है। यथा—

१—छन्दोविचिति	८—छन्दसांविचय
२—छन्दोमान	९—छन्दसांलक्षण
३—छन्दोभाषा	१०—छन्दःशास्त्र
४—छन्दोविजिनी	११—छन्दोऽनुशासन
५—छन्दोविजिति (छन्दोविजित)	१२—छन्दोविवृति
६—छन्दोनाम	१३—वृत्त
७—छन्दोव्याख्यान	१४—पिङ्गल

अब हम क्रमशः एक-एक नाम पर लिखते हैं—

१—छन्दोविचिति—यह छन्दःशास्त्रवाची अति प्रसिद्ध पद पाणिनीय गणपाठ[1] ४।३ ७३, चान्द्र गणपाठ ३।१।४५, जैनेन्द्र गणपाठ ३।३।४७, जैन शाकटायन गणपाठ[2] ३।१।१३६, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।१८९, तथा गणरत्न-महोदधि ५।३।४४ (पृष्ठ २०१) में उपलब्ध होता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र १।३ में भी यह पद छन्दःशास्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है।[3]

छन्दोविचिति पद का अर्थ—जिस ग्रन्थ में छन्दों का विशेषरूप से चयन (=संग्रह) हो, वह 'छन्दोविचिति' कहाता है।

---

१. पाणिनीय गणपाठ के लिये काशिकावृत्ति, प्रक्रियाकौमुदी तथा भट्ट यज्ञेश्वरकृत गणरत्नावली ग्रन्थ विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं। हमारे मित्र प्राध्यापक कपिलदेव जी साहित्याचार्य एम. ए. ने अनेक हस्तलेखों तथा विभिन्न गणपाठों के साहाय्य से पाणिनीय गणपाठ का एक सुन्दर विश्वसनीय संस्करण तैयार किया है। यह कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से छप चुका है।

२. यह पद यक्षवर्मकृत लघुवृत्ति के अन्त में मुद्रित गणपाठ में उपलब्ध होता है, अमोघा वृत्ति में नहीं है।

३. 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चाङ्गानि।'

छन्दोविचितिसंज्ञक ग्रन्थविशेष—'छन्दोविचिति' नाम के निम्न छन्दो-ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं—

क—पिङ्गलप्रोक्त छन्दोविचिति[1]

ख—पतञ्जलिप्रोक्त छन्दोविचिति[2].

ग—जनाश्रयप्रोक्त छन्दोविचिति

घ—दण्डीप्रोक्त छन्दोविचिति

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भरत-नाट्यशास्त्र का १५वां अध्याय भी 'छन्दोविचिति' कहाता है।

इन ग्रन्थों का वर्णन हमने 'छन्दःशास्त्र के इतिहास' में यथास्थान किया है।[3] पालि-भाषा के वाङ्मय में भी 'छन्दोविचिति' नाम का एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है।[4]

२—छन्दोमान—छन्दःशास्त्रवाची 'छन्दोमान' पद पाणिनीय गणपाठ ४।३।७३, जैनेन्द्रगणपाठ ३।३।४७, जैन शाकटायन गणपाठ ३।१।१३६, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।१८९, तथा गणरत्नमहोदधि ५।३।४४ (पृष्ठ २०१) में उपलब्ध होता है। इन सभी वैयाकरणों ने इस नाम को व्याख्यातव्य ग्रन्थ-नामों में पढ़ा है। इसलिए यह पद ग्रन्थवाची है, यह स्पष्ट है। 'छन्दोमान' नाम-वाला छन्द शास्त्र का कोई ग्रन्थ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। इस नाम की शतमान आदि मुद्राविशेष-नामों से तुलना की जा सकती है।

छन्दोमान पद का अर्थ—जिस ग्रन्थ में छन्दों के मान=परिमाण का वर्णन हो, उसे 'छन्दोमान' कहते हैं।

३—छन्दोभाषा—छन्दःशास्त्र संबन्धी 'छन्दोभाषा' पद पाणिनीय गणपाठ ४।३।७३, चान्द्रगणपाठ ३।१।४५, जैनेन्द्रगणपाठ ३।३।४७, जैनशाकटायन गणपाठ ३।१।१३६, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।१८९, तथा गणरत्नमहोदधि

१, 'याः षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः'। निदानसूत्र, हृषीकेश-व्याख्या, निदानसूत्र की भूमिका, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

२. 'अथ भगवान् छन्दोविचितिकारः पतञ्जलिः---'। निदानसूत्र, हृषीकेश-व्याख्या। 'द्वितीयः पटलः। पतञ्जलिकृतनिदानसूत्रे छन्दोविचितिः समाप्ता'। बड़ोदा के हस्तलेख में। निदानसूत्र की भूमिका, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

३. यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा।

४. पालि-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१६।

५।३।४४ (पृष्ठ २०१) में उपलब्ध होता है। इन गणपाठों में 'छन्दोभाषा' पद छन्दःशास्त्रवाची छन्दोविचिति छन्दोमान आदि पदों के साथ पढ़ा गया है। इसलिए गणपाठ के इस प्रकरण में पठित 'छन्दोभाषा' पद छन्दःशास्त्र का पर्याय है, यह निस्सन्दिग्ध है।

छन्दोभाषा पद का अर्थ—यह पद छन्दोविचिति के समान स्त्रीलिङ्ग है। इसका अभिप्राय है—छन्दसां भाषा भाषणं कथनं व्याख्यानं वा यत्र। अर्थात् जिसमें छन्दों का भाषण=कथन=व्याख्यान हो।

छन्दोभाषा पद का अन्यत्र प्रयोग—छन्दोभाषा पद ऋक्प्रातिशाख्य (वर्गद्वयवृत्ति), तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २४।५, याजुष प्रतिज्ञा-परिशिष्ट[1] ३१।१, चरणव्यूह परिशिष्ट[2] (यजुर्वेद खण्ड), तथा भविष्यत् पुराण[3] में भी उपलब्ध होता है।

अन्यत्र प्रयुक्त छन्दोभाषा पद के अर्थ—उपर्युक्त ग्रन्थों के व्याख्याकारों ने छन्दोभाषा पद के निम्न अर्थ किये हैं—

क—वैदिकभाषा—विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति में छन्दोभाषा पद का अर्थ 'वैदिकभाषा' किया है।[4] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याता माहिषेय ने २४।५ की व्याख्या में छन्दोभाषा का अर्थ स्पष्ट रूप से नहीं लिखा। परन्तु प्रकरणानुसार उसका अर्थ 'वैदिकभाषा' ही प्रतीत होता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अपर व्याख्याता गार्ग्यगोपाल मिश्र ने छन्दोभाषा का अर्थ 'छन्दोभाषां वेदरूपां वाचम् .... अथवा छन्दोभाषां वेदलक्षणामित्यर्थः' किया है।

---

१. 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' के नाम से एक अन्य ग्रन्थ भी काशी से प्रकाशित शुक्ल यजु.प्रातिशाख्य के अन्त में अनन्तकृत टीकासहित छपा है। हमें वह अर्वाचीन ग्रन्थ प्रतीत होता है। हमारे द्वारा उद्धृत प्रतिज्ञापरिशिष्ट श्री अण्णा शास्त्री वारे कृत व्याख्यासहित नासिक से प्रकाशित हुआ है।

२. भिन्न-भिन्न वेदों के भिन्न-भिन्न चरणव्यूह हैं। छन्दोभाषा पद चरणव्यूहों के प्रायः सभी पाठों में है।

३. तै० प्रा० गार्ग्यगोपाल की टीका में उद्धृत, पृष्ठ ५२९।

४. 'छन्दोभाषां योऽधीते तेनेत्यर्थः, नान्येन। द्विविधा हि भाषा—लौकिकी वैदिकी च। या वैदिकी सा छन्दोभाषा इत्युच्यते'। पृष्ठ १५।

तै० प्रा० के व्याख्याता माहिषेय ने अपनी व्याख्या का नाम छन्दोभाषा लिखा है।[1]

ख—उपाङ्गविशेष— तै० प्रा० के व्याख्याता गार्ग्यगोपाल मिश्र ने ग्रन्थ के अन्त (पृष्ठ ५२६) में वेदाङ्ग और उपाङ्ग के निर्देशक भविष्यत् पुराण के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनके अनुसार छन्दःशास्त्र को वेदाङ्गों में गिनकर छन्दोभाषा को उपाङ्गों में गिना है।[2] याजुष प्रतिज्ञा-परिशिष्ट तथा चरणव्यूह-परिशिष्ट में भी षडङ्गप्रकरण में छन्दःशास्त्र का साक्षात् परिगणन करके पुनः उपाङ्ग-प्रकरण में 'छन्दोभाषा' पद पढ़ा है।[3]

भविष्यत् पुराण, प्रतिज्ञा-परिशिष्ट तथा चरणव्यूह के पाठों से स्पष्ट है कि उनमें उपाङ्ग-प्रकरण में पठित छन्दोभाषा पद छन्दःशास्त्र का वाचक नहीं है। अन्यथा षडङ्गों में छन्दःशास्त्र की गणना करके पुनः उपाङ्गों में उसकी गणना करना निरर्थक है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (मैसूर सं०) के सम्पादक पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य का भी यही मत है। द्र०—भूमिका, पृष्ठ ३,४।

श्री अण्णा शास्त्री की व्याख्या—श्री अण्णा शास्त्री वारे ने याजुष-परिशिष्ट में छन्दोभाषा को दो पद बनाकर इस प्रकार व्याख्या की है—

छन्दः पिङ्गलमुनिप्रणीतं छन्दःशास्त्रं, भाषा पाणिनिमुनिप्रणीतं व्याकरणशास्त्रम्।

अर्थात्—छन्दः से पिङ्गलमुनि-प्रणीत छन्दःशास्त्र, और भाषा पद से पाणिनिमुनिप्रणीत व्याकरण शास्त्र का ग्रहण करना चाहिए।

---

१. 'इति छन्दोभाषायां प्रातिशाख्यव्याख्यायां द्वितीये प्रश्ने द्वादशोऽध्यायः'॥ ऐसे ही अन्यत्र भी।

२. 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्यौतिषं तथा। छन्दसां लक्षणं चेति षडङ्गानि विदुर्बुधाः'॥ 'अनुपदं चानुपदं छन्दोभाषासमन्वितम्। मीमांसा-न्यायतर्कश्च उपाङ्गानि विदुर्बुधाः'॥ यहां 'अनुपदं चानुपदं' पाठ में पुनरुक्ति होने से अनुपदं या अनूपदं (पाठान्तर) के स्थान में 'प्रतिपदं' पाठ होना चाहिये। द्र०—अगली टिप्पणी में उद्धृत वचन।

३. प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में—'एकत्वद्वित्वबहुत्व··· व्याकरणम्, गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्···प्रकर्षार्थं छन्दः। प्रतिपदमनुपदं छन्दोभाषा धर्मो मीमांसा न्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानि।' कण्डिका २७, २९, ३१॥ चरणव्यूह में—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि।······ तथा प्रतिपदमनुपदं छन्दोभाषा धर्मो मीमांसान्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानि'। याजुष खण्ड में।

अण्णाशास्त्री की व्याख्या अशुद्ध—श्री अण्णा शास्त्री की उक्त व्याख्या सर्वथा अशुद्ध है । पिङ्गल छन्दःसूत्र और पाणिनीय व्याकरण वेदाङ्गभूत हैं । इस परिशिष्ट के षडङ्ग-प्रकरण में भी स्पष्ट ही व्याकरण और छन्दःशास्त्र की वेदाङ्गों में गणना की है । अतः उनका पुनः यहां निर्देश व्यर्थ है । इतना ही नहीं, श्री अण्णा शास्त्री की प्रतिज्ञा-परिशिष्ट की व्याख्या में अन्यत्र भी ऐसे ही भयङ्कर प्रमाद उपलब्ध होते हैं ।

महीदास की व्याख्या—चरणव्यूह-परिशिष्ट की महीदासकृत व्याख्या के दो संस्करण चौखम्बा प्रेस काशी से प्रकाशित हुए हैं । उन दोनों संस्करणों के पाठों में महान् भेद है । यथा—

प्रथम पाठ—काशी से प्रकाशित वाजसनेय प्रातिशाख्य (सं० १९४५) के अन्त में परिशिष्टान्तर्गत छपे चरणव्यूह में महीदास-व्याख्या का पाठ इस प्रकार है—

छन्दःशास्त्रं पिङ्गलोक्तमष्टाध्यायात्मकम् । भाषाशब्देन भाष्यतेऽर्थः पर्यायशब्दैर्निघण्टुरध्यायपञ्चकः, त्रयोदशाध्यायात्मकं निरुक्तम् ।
पृष्ठ ३८, ३९ ।

द्वितीय पाठ—काशी संस्कृत सीरिज में प्रकाशित (सं० १९९५—सन् १९३८) संस्करण का पाठ इस प्रकार है—

छन्दः छन्दोरत्नाकरादिः । भाषा शब्दः परिभाषा । पृष्ठ ३९।

शुद्ध संस्करण की आवश्यकता—चरणव्यूह की महीदासकृत व्याख्या बहुत उपयोगी ग्रन्थ है । इससे अनेक वैदिक रहस्यों का उद्घाटन होता है । परन्तु इसका शुद्ध संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ । चरणव्यूह की व्याख्या के पूर्वनिर्दिष्ट संस्करणों में अन्यत्र भी बहुत विषमता उपलब्ध होती है । इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है ।

महीदास की व्याख्या अशुद्ध—महीदास की व्याख्या के जो दो पाठ उद्धृत किये हैं, उनमें से कोई भी शुद्ध नहीं है । यह पूर्व विवेचना से स्पष्ट है ।

कातीय चरणव्यूह-व्याख्या—अभी कुछ समय हुआ एकादश-कातीय-परिशिष्ट श्रीधर शास्त्री वारेकृत व्याख्या सहित नासिक से प्रकाशित हुए हैं । उनमें मुद्रित चरणव्यूह की व्याख्या में 'छन्दोभाषा' की व्याख्या इस प्रकार लिखी है—

छन्द इति छन्दः सर्वानुक्रमः । भाषा प्रातिशाख्यम् ।
अन्यथा पुनरुक्तदोषापत्तेः । कातीयपरिशिष्ट दशकम् ॥ पृ० ६५।

श्री अण्णाशास्त्री वारे, महीदास तथा श्रीधर शास्त्री वारे की 'छन्दोभाषा' विषयक व्याख्याएँ अशुद्ध हैं। यह पूर्वविवेचना से भली प्रकार स्पष्ट है।

युक्त-अर्थ अज्ञात – उपाङ्ग-प्रकरण में पठित 'छन्दोभाषा' का क्या अभिप्राय है, यह हमें अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। उपाङ्गप्रकरण के प्रतिपद अनुपद शब्द भी संदिग्धार्थक हैं। इसी प्रकार न्याय शब्द का मीमांसा के साथ सम्बन्ध है (मीमांसान्याय), अथवा 'न्यायस्तर्कः' सम्बन्ध अभिप्रेत है, यह भी विचारणीय है। उत्तर सम्बन्ध मानने में पुनरुक्ति दोष है। अतः 'मीमांसान्यायः' पढ़ना अधिक युक्त है।

'छन्दोभाषा' ग्रन्थविशेष–पुराकाल में 'छन्दोभाषा' नाम का कोई ग्रन्थविशेष भी था। इस ग्रन्थ का एक उद्धरण केशव ने अपने 'ऋग्वेद-कल्पद्रुम' के उपोद्घात में इस प्रकार उद्धृत किया है—

छन्दोभाषायाम्—

वक्तव्यं छन्द आदौ तु ततश्चर्षिः प्रकीर्तितः।
देवताविनियोगश्च तैत्तिरीयप्रपाठकैः ॥ इति।[1]

इस श्लोक के चतुर्थ चरण से विदित होता है कि छन्दोभाषा ग्रन्थ का तैत्तिरीयसंहिता से सम्बन्ध था।

छन्दोभाषा=प्रातिशाख्य—हमारा विचार है कि चरणव्यूह आदि में पठित छन्दोभाषा पद प्रातिशाख्य का वाचक हो सकता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (मैसूर सं०) के सम्पादक पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य का भी यही मत है। भूमिका, पृष्ठ ३, पं० ३-४।

४—छन्दोविजिनी—यह पद पाणिनीय गणपाठ ४।३।७३ के किन्हीं कोशों में उपलब्ध होता है। इस पद का अर्थ भी अस्पष्ट है। सम्भव है यह छन्दोविचिति अथवा छन्दोविजिति का भ्रंश हो।

५—छन्दोविजिति—यह नाम चन्द्रगणपाठ ३।१।४५, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।१८९, प्रक्रियाकौमुदी तथा गणरत्नमहोदधि ५।३४४ (पृष्ठ २०१) में उपलब्ध होता है।

छन्दोविजित—जैनेन्द्रगणपाठ ३।३।४७ में छन्दोविजित पाठ छपा है। संभव है यहाँ पाठ भ्रंश हुआ हो, और मूलपाठ छन्दोविजिति ही हो।

---

१. यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। उक्त पाठ हमारे हस्तलेख में पृष्ठ ३३ पर है।

छन्दोविजिति का अर्थ—जिस ग्रन्थ के द्वारा छन्दों पर विजय=अधिकार हो सके, वह 'छन्दोविजिति' कहाता है।[1]

६—छन्दोनाम—इस पद का निर्देश चान्द्रगणपाठ ३।१।४५, तथा गणरत्नमहोदधि ५।३४४ (पृष्ठ २०१) में मिलता है। वर्धमान ने यह नाम अन्य आचार्यों के मत से पढ़ा है।

छन्दोनाम का अर्थ—जिस ग्रन्थ में विविध छन्दों के नामों का निर्देश हो, वह 'छन्दोनाम' कहाता है।

एक संभावना—यह भी संभव है कि 'छन्दोनाम' पाठ छन्दोमान[2] का अपभ्रंश हो। विद्वानों को इसका निर्णय करना चाहिए। वर्धमान ने दोनों को स्वतन्त्र साधु पद मानकर पृथक्-पृथक् पढ़ा है (द्र०—ग० म०, पृ० २०१)।

७—छन्दोव्याख्यान—इस पद का निर्देश चान्द्रगणपाठ ३।१।४५, तथा गणरत्नमहोदधि ५।३४४ (पृष्ठ २०१) में मिलता है। वर्धमान ने इस पद का परिगणन अन्य आचार्यों के मतानुसार किया है।

छन्दोव्याख्यान का अर्थ—जिस ग्रन्थ में छन्दों का व्याख्यान=कथन हो, वह 'छन्दोव्याख्यान' कहाता है।

८—छन्दसां विचय—निदानसूत्र और उपनिदान सूत्र के आरम्भ में इस पद का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—

अथातश्छन्दसां विचयं व्याख्यास्यामः। निदान १।१।१; उपनिदान १।१।।

९—छन्दसां लक्षण—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याता गार्ग्यगोपाल यज्वा द्वारा उद्धृत भविष्यत् पुराण के षडङ्गनिर्देशक श्लोक में इस पद का प्रयोग मिलता है—

छन्दसां लक्षणं चेति षडङ्गानि विदुर्बुधाः। पृष्ठ ५२९।

इसी का समस्तरूप 'छन्दोलक्षण' है।

१०—छन्दःशास्त्र—लोक में आचार्य पिङ्गल की छन्दोविचिति के लिये छन्दःशास्त्र अथवा छन्दःसूत्र पद का प्रयोग प्रायः होता है।

---

१. विचिति और विजिति दोनों पाठ शुद्ध हैं। तुलना करो—निदानसूत्र १।१।१ के 'छन्दसां विचयं' के 'छन्दसां विजयं' पाठान्तर के साथ।

२. तुलना करो—लाघवार्थं पुनरमी छन्दोमानमवेक्ष्य च।' नाट्य १४।८७ (बड़ौदा संस्क०)।

११—छन्दोऽनुशासन—जयकीर्ति और हेमचन्द्र के छन्दःशास्त्रों का नाम छन्दोऽनुशासन है।

१२—छन्दोविवृति—मधुसूदन सरस्वती ने पिङ्गल के छन्दःशास्त्र के लिये छन्दोविवृति पद का प्रयोग किया है।[1]

१३—वृत्त वृत्त पद छन्दः का पर्याय है। जिस प्रकार छन्दः पद के आधार पर इस शास्त्र के 'छन्दोविचिति' 'छन्दोऽनुशासन' आदि अनेक ग्रन्थ लोक में प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार 'वृत्त' पद के आधार पर भी 'वृत्तरत्नाकर' आदि नाम के अनेक ग्रन्थ रचे गये। पालिवाङ्मय में भी 'वृत्त' पद के आधार पर वृत्तोदय=वुत्तोदय नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होता है।[2]

१४—पिङ्गल— छन्द.शास्त्रकारों में आचार्य पिङ्गल की अतिप्रसिद्धि के कारण उत्तर काल में 'पिङ्गल' शब्द छन्दःशास्त्र का पर्याय बन गया। प्राकृत आदि के अनेक छन्दःशास्त्र 'पिङ्गल' नाम पर ही रचे गये। यथा प्राकृत-पिङ्गल आदि।

कविसारप्रकरण—पालिवाङ्मय मे 'कविसार-प्रकरण' नाम का भी एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है।[3]

इस अध्याय में छन्दःशास्त्र के विभिन्न पर्यायशब्दों का संक्षेप से वर्णन करके अब हम अगले अध्याय में 'छन्दःशास्त्र की प्राचीनता' के विषय में लिखेंगे॥

—०—

१. 'तत्प्रकाशनाय धीः श्रीः स्त्री इत्यष्टाध्यायात्मिका छन्दोविवृतिर्भगवता पिङ्गलनागेन विरचिता'। प्रस्थानभेद, पृष्ठ ९।

२. पालिसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१६।

३. पालिसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१६।

चतुर्थ अध्याय

छन्दःशास्त्र की प्राचीनता

ब्रह्मा से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती पर्यन्त जितने भी ऋषि मुनि और आचार्य हुए, उन सब का यह एक मत है कि संसार में जितना ज्ञान प्रवृत्त हुआ, उस सब का आदि मूल वेद है। इसीलिये स्वायम्भुव मनु ने कहा है—

सर्वज्ञानमयो हि सः। २।७॥

अर्थात्—वेद सब ज्ञान से युक्त है।[1]

छन्दःशास्त्र की वेदमूलकता—उक्त सिद्धान्त के अनुसार छन्दःशास्त्र का आदि मूल भी वेद है।[2] वेद के अनेक मन्त्रों में छन्दों का वर्णन उपलब्ध होता है। यथा—

१—वेदविद्यापारङ्गत महाविद्वान् भर्तृहरि वाक्यपदीय १।१२१ के स्वोपज्ञ-विवरण में किसी लुप्त शाखा का एक मन्त्र उद्धृत करता है—

इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यन्ददन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणच्छन्दोरूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति॥

अर्थात्—इन्द्र[3] से छन्द पहले प्रस्रवित हुआ। उससे अन्न और नाम तथा रूप। प्राण छन्दोरूप उत्पन्न हुआ। एक छन्द ही बहुधा प्रकाशित होता है।

२—यह एक छन्द ही उत्तरोत्तर चतुरक्षर वृद्धि से सात प्रकार का हो जाता है। अथर्वश्रुति कहती है—

---

१. इसके विस्तार के लिये देखिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक निबन्ध।

२. द्रष्टव्य—'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य……'। महाभारत शान्ति० (शिवसहस्रनाम) २८४।९२॥

३. यह इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति देवराज इन्द्र नहीं है। यह महद् अण्ड के अन्तर्गत कोई शक्ति-विशेष है। इसी शक्ति से लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है। इसीलिये महाविद्वान् भर्तृहरि ने लिखा है—'छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत' (वाक्य० १।१२१)। तुलना कीजिये—आगे उद्ध्रियमाण ऋ० १।१३० के मन्त्र ४–५ के साथ।

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योऽन्यस्मिन्नध्यर्पितानि ।८।६।१६॥

अर्थात्—सात छन्द उत्तरोत्तर चार अक्षर के आधिक्यवाले एक-दूसरे में अर्पित हैं ।

३—उक्त सात छन्दों के नाम हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति(=विराट), त्रिष्टुब् और जगती । इन प्रधान सात छन्दों के नाम वेद के अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं ।

४—ऋग्वेद १०।१३० के चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र में गायत्री आदि छन्दों और उनके देवताओं का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव ।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।
विश्वान् देवान् जगत्या विवेश तेन चक्लृप्त ऋषयो मनुष्याः ॥

इन मन्त्रों में क्रमशः गायत्री आदि छन्दों के अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र और विश्वेदेव देवताओं का निर्देश है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि छन्दःशास्त्र का मूल वेद में निहित है ।

टिप्पणी—उपर्युक्त मन्त्रों में जिन छन्दों का वर्णन है, वे प्रधानतः आधिदैविक तत्त्व हैं ।[1] वाचिक छन्द इन्हीं आधिदैविक छन्दों का अनुकरण हैं । आधिदैविक जगत् में इन्द्र से छन्द की उत्पत्ति होती है । अध्यात्म में भी वाचिक छन्दों की उत्पत्ति का मूल इन्द्र=जीवात्मा ही है । अत एव शिक्षा-शास्त्रविशारदों ने कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा ।।

अर्थात्—आत्मा बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण कहने योग्य अर्थों को एकत्रित करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता है ।

छन्दःशास्त्र की उत्पत्ति का काल—छन्दःशास्त्र की उत्पत्ति का काल अति प्राचीन है । छन्दःशास्त्र षड्-वेदाङ्गों में अन्यतम है । इसलिए इस शास्त्र के प्रादुर्भाव का काल भी वही है, जो अन्य वेदाङ्गों का है ॥

---

१. हम पूर्व पृष्ठ ६-७ पर लिख चुके हैं कि आधिदैविक जगत् में गायत्री आदि सात छन्द सूर्य की सप्तविध रश्मियां हैं । ऋ० १।१३० के ऊपर उद्धृत मन्त्रों में श्रुत अग्नि सविता आदि देव सूर्य की विभिन्न अवस्थाओं के नाम हैं । इस विचार की पुष्टि पञ्चम मन्त्र के 'इह भागो अह्नः' पद से भी होती है ।

वेदाङ्गों का प्रादुर्भाव-काल—भारतीय इतिहास के अनुसार वेदाङ्गों का प्रादुर्भाव न्यूनातिन्यून ग्यारह सहस्र वर्ष पूर्व कृतयुग[1] के अन्त में हुआ था।

पाश्चात्य मत—पाश्चात्य तथा उनके अनुयायी कतिपय भारतीय लेखकों का मत है कि छन्दःशास्त्र का प्रादुर्भाव उनके कल्पित सूत्रकाल के पश्चात् हुआ। कई शताब्दियों तक उसका विकास होता रहा। तदनन्तर लगभग २०० वर्ष ईसापूर्व पिङ्गल ने अपना छन्दोविषयक आद्य शास्त्र रचा।[2]

पाश्चात्य मत की आलोचना—पाश्चात्य लेखकों ने ईसाइयत के पक्षपात तथा राजनीतिक कारणों से सहस्रों वर्ष प्राचीन क्रमबद्ध भारतीय इतिहास को तोड़-मरोड़ कर ईसा से १५००-२००० वर्ष पूर्व तक की सीमा में समेटने की चेष्टा की है। उसी का यह परिणाम है कि उन्हें इतिहासविरुद्ध अनेक असत्य कल्पनाएँ करनी पड़ीं। वस्तुतः न तो छन्दःशास्त्र का प्रादुर्भाव उनके द्वारा कल्पित सूत्रकाल के पीछे हुआ, और न ही पिङ्गल का छन्दःशास्त्र अपने विषय का व्यवस्थित आद्य-ग्रन्थ है। वह तो अपने विषय का सब से अन्तिम संक्षिप्त आर्षतन्त्र है। इससे पूर्व लौकिक तथा वैदिक छन्दों पर पचासों बृहत्काय ग्रन्थ रचे जा चुके थे। पिङ्गल ने स्वयं अपने से पूर्ववर्ती अनेक छन्दःशास्त्रप्रवक्ताओं का उल्लेख किया है।

इतिहास में मन्त्रकाल आदि का अभाव—समस्त उपलब्ध वैदिक और लौकिक वाङ्मय में एक भी ऐसा प्रमाण नहीं, जिसमें पाश्चात्य लेखकों द्वारा कल्पित मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि कालविभागों का संकेत मिलता हो। इसके विपरीत समस्त भारतीय वाङ्मय इस विषय में एकमत है कि जो ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा और ब्राह्मणों के प्रवक्ता थे, वे ही इतिहास आयुर्वेद और धर्मशास्त्र आदि के भी प्रवक्ता थे। यथा—

क—भारतीय वाङ्मय का प्रामाणिक आचार्य वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य में लिखता है—

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्। २।१।६८॥[3]

---

१. इस कालगणना पर "भारतीय ऐतिहासिक काल-गणना" नाम के ग्रन्थ में विस्तार से लिखा जायेगा।

२. देखो—इनशिएण्ट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलाइजेशन, लन्दन, सन् १९५१, पृष्ठ २६३। इस विषय की विशेष विवेचना के लिये हमारा "छन्दःशास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ देखना चाहिए।

३. वात्स्यायन के इस तथा अग्रिम प्रमाण की ओर सब से प्रथम श्री पं०

अर्थात्—जो आप्त ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा और प्रवक्ता थे, वे ही आयुर्वेद आदि के भी।

ख—यही आचार्य पुनः लिखता है—

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः। य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति। ४।१।६२॥

अर्थात्—जो ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता थे, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के [प्रवक्ता थे]।

ग—वात्स्यायन मुनि के कथन की पुष्टि जैमिनि के मीमांसासूत्र से भी होती है। मीमांसा के कल्पसूत्र-प्रामाण्याधिकरण का सूत्र है—

अपि वा कर्तृसामान्यात् तत्प्रामाण्यमनुमानं स्यात्।१।३।२॥[1]

अर्थात्—कल्पसूत्रों=श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों की जिन विधियों का मूल आम्नाय में नहीं मिलता, वे अप्रमाण नहीं हैं। आम्नाय और कल्पसूत्रों के रचयिता समान होने से आम्नाय में अनुक्त कल्पसूत्र की विधियों का भी प्रामाण्य है।

इस सूत्र से स्पष्ट है कि जैमिनि के मत में भी आम्नाय=वेद की शाखाओं ब्राह्मण ग्रन्थों[2] तथा कल्पसूत्रों के प्रवक्ता समान थे।

भारतीय वाङ्मय का साक्ष्य—भारतीय वाङ्मय में अभी तक अनेक ऐसे ग्रन्थ सुरक्षित हैं, जिनसे भगवान् वात्स्यायन तथा जैमिनिप्रदर्शित सत्य मत की पुष्टि होती है। यथा—

क—आयुर्वेद की हारीत-संहिता के प्रवक्ता महर्षि हारीत[3] का धर्मसूत्र

---

१. देखिए, हमारा सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ पृष्ठ २१ (सं० २०३०)।

२. जैमिनि ने प्रथमाध्याय के अन्तिम अधिकरण में "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः", सूत्र रचकर द्वितीय पाद के आरम्भ में "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्……" सूत्र में आम्नाय पद का निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि जैमिनि आम्नाय को मूल वेद से भिन्न मानता है। शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद नहीं है, इसके लिए हमारा "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः" निबन्ध देखना चाहिए।

३. द्र० चरक सूत्रस्थान १।३०॥ चरक आदि के टीकाग्रन्थों में इसके अनेक वचन उद्धृत हैं।

इस समय उपलब्ध है।[1] उसकी वैदिक संहिता का उल्लेख भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[2]

ख—पूर्व मीमांसा सूत्र के प्रवक्ता भगवान् जैमिनि की सामवेदीय जैमिनि-शाखा और उसका ब्राह्मण इस समय उपलब्ध है। विष्णु धर्मोत्तर अ० १४६ में जैमिनीय धर्मशास्त्र का भी निर्देश मिलता है।[3]

ग—अथर्ववेदीय शौनक शाखा के प्रवक्ता कुलपति शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य तथा बृहद्देवता आदि अनेक ग्रन्थ इस समय भी विद्यमान हैं।

घ—कात्यायन श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्र और वाजसनेय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता के 'कात्यायन शतपथ' का कुछ भाग भूतपूर्व लवपुरस्थ दयानन्द वैदिक कालेज के अन्तर्गत :लालचन्द पुस्तकालय' में सुरक्षित है।[4] उसकी शुक्लयजुर्वेदीय 'कात्यायन संहिता का ऊल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है।[5]

ङ—साम संहिता के प्रवक्ता शालिहोत्र की द्वादशसाहस्री 'अश्व-संहिता' के कई हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। शालिहोत्र के अश्वशास्त्र का स्मरण पाण्डव नकुल अपने 'अश्ववैद्यक' ग्रन्थ में करता है।[6]

पाणिनि और कल्पित काल विभाग—पाश्चात्य लेखकों द्वारा कल्पित कालविभाग और उसकी बालूमयी भित्ति पर खड़ा किया गया काल्पनिक इतिहास-प्रासाद आचार्य पाणिनि के एक सूत्र के धक्के से ही भूमिसात् हो जाता है। वह सूत्र है—

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु। अष्टा० ४।३।१०५॥

अर्थात्— चिरन्तन प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प के विषय में तृतीयान्त प्रातिपादक से 'णिनि' प्रत्यय हो।

---

१. यह अप्रकाशित है। 'कृत्यकल्पतरु' आदि निबन्ध-ग्रन्थों में इसके शतशः वचन उद्धृत हैं।

२. तै० प्राति० १४।१८ पर माहिषेय भाष्य—'हारीतस्याचार्यस्य शाखिनः'।

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग: द्वि० सं० पृ ३१८।

४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, द्वि० सं० पृष्ठ २७७। यह पुस्तकालय सम्प्रति होशियारपुर (पंजाब) के साधु आश्रम में सुरक्षित है।

५. श्रीपति-विरचित श्रीकर नामक वेदान्त-भाष्य १।२।७॥ वै० वाङ्मय का इति० भाग १। द्वि० सं० पृष्ठ २७७।

६. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, द्वि० संस्क० पृष्ठ ३२३, ३२४।

इस सूत्र द्वारा महामुनि पाणिनि ने ब्राह्मण और कल्पसूत्रों के दो विभाग दर्शाए हैं—प्राचीन और नवीन। तदनुसार प्राचीन ब्राह्मण और कल्पसूत्रों के प्रवक्ता ऋषि नामों से 'णिनि' प्रत्यय होता है, नवीन ब्राह्मण और कल्पसूत्रों के प्रवक्ता ऋषि नामों से 'णिनि' नहीं होता।

काशिकावृत्ति के रचियता जयादित्य ने इस सूत्र के निम्न उदाहरण दिए हैं—

पुराण-प्रोक्त ब्राह्मणविषयक—ऐतेरेयिणः, भाल्लविन,, शाट्यायनिनः।

पुराण-प्रोक्त कल्पविषयक—पैङ्गी, आरुणपराजी।
नवीन-प्रोक्त ब्राह्मणविषयक—याज्ञवल्क्यानि, सौलभानि (द्र० ४।२।६६ पर)।

नवीन-प्रोक्त कल्पविषयक—आश्मरथः।

पाणिनि के इस सूत्र तथा उसकी वृत्ति से स्पष्ट है कि कई एक कल्प ग्रन्थ, जो कि सूत्ररूप हैं, याज्ञवल्क्य आदि द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण ग्रन्थों से प्राचीन हैं।

अब पाठक स्वयं विचार कर लें कि पाणिनि के मतानुसार भारतीय वाङ्मय में वह तथाकथित काल-विभाग कहाँ हैं, जिसकी पाश्चात्य लेखक कल्पना करके भारतीय प्राचीन इतिहास को कलुषित करने की चेष्टा करते हैं और उनके अनुयायी अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय लेखक आँख मींचकर जिसका अन्धानुकरण करते हैं।

छन्दःशास्त्र की प्राचीनता

अब हम छन्दःशास्त्र की प्राचीनता के निर्देशक कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—गार्ग्य (२१०० वैक्रम पूर्व)[1] से प्राचीन छन्दःशास्त्रकार—आचार्य गार्ग्य ने अपने उपनिदान सूत्र के अन्त में स्व-उपजीव्य छन्दःसम्प्रदाय का उल्लेख निम्न श्लोक में किया है—

ब्राह्मणात् तण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः।
निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धतम्॥

---

१. यहां जिस कालक्रम का निर्देश किया है, वह भारतीय ऐतिहासिक सत्य परम्परा पर आश्रित है। उसकी विवेचना के लिये हमारा 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ देखना चाहिए। यह शीघ्र प्रकाशित होगा।

अर्थात्—तण्डि-ब्राह्मण, पिङ्गलकृत छन्दःशास्त्र, पतञ्जलिकृत[1] निदान सूत्र और उक्थशास्त्र से छन्दों का ज्ञान उद्धृत किया है।

गार्ग्य ने अपने निदानसूत्र में निम्न आचार्यों का भी स्मरण किया है—

(क) पञ्चालाः—तां ज्योतिष्मतीमिति पञ्चालाः। पृष्ठ २।
(ख) यास्कः—उरोबृहती यास्कः। पृष्ठ २।
(ग) एके—महाबृहतीत्येके। पृष्ठ २।
(घ) ताण्डिनः—द्विपदा ताण्डिनः, विष्टारपङ्क्तिस्ताण्डिनः। पृष्ठ २।

पूर्व निर्देशों से स्पष्ट है कि उपनिदान के प्रवक्ता आचार्य गार्ग्य से पूर्व छन्दों का वर्णन करनेवाले निम्न ग्रन्थ विद्यमान थे—

क—तण्डि-प्रोक्त ताण्ड्यब्राह्मण।
ख—पतञ्जलि-प्रोक्त निदानसूत्र।
ग—पाञ्चाल-प्रोक्त छन्दोग्रन्थ।
घ—यास्क-प्रोक्त छन्दोग्रन्थ, संभवतः तैत्तिरीयानुक्रमणी।
ङ—पिङ्गल-प्रोक्त छन्दोविचिति।
च—उक्थशास्त्र (?)

इनमें उक्थ्यशास्त्र का स्वरूप अज्ञात है। पाणिनि ने 'ऋतूक्थादि०' (अष्टा० ४।२।६० के) सूत्र में उक्थ शब्द पढ़ा है। इस निष्पन्न औक्थिक का निर्देश अष्टा० ४।३।१२९ में मिलता है। उक्थशास्त्र के आचार्यों का व्याकरण संबन्धी मत वाक्यपदीय २।१७६ की स्वोपज्ञ वृत्ति से उद्धृत किया है। द्र० भाग २, पृष्ठ ९२, ९३ (रा० ला० कपूर ट्रस्ट लाहौर संस्क०)।

२—पिङ्गल (२९०० वि० पूर्व) से प्राचीन छन्दःशास्त्रकार—आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में निम्न छन्दःप्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है—

क—तण्डी (३।३४)।
ख—क्रौष्टुकि (३।२९)।
ग—यास्क (३।३०)।
घ—सैतव (५।१८)।
ङ—काश्यप (७।९)।
च—रात (७।३३)।
छ—माण्डव्य (७।३४)।

इन सात आचार्यों में से सैतव, काश्यप; रात और माण्डव्य का उल्लेख पिङ्गल ने लौकिक छन्दःप्रकरण में किया है। इससे स्पष्ट है कि लौकिक छन्दों

१. यह महाभाष्यकार पतञ्जलि से अति प्राचीन ग्रन्थकार है।

का पूर्ण विकास[1] पिङ्गल से बहुत पूर्व हो चुका था।

३--पाणिनि (२९०० वि० पूर्व) से पूर्व चित्रकाव्यों का सद्भाव--पाणिनि के गणपाठ में ४।३।७३ में छन्दःशास्त्रसम्बन्धी छन्दोविचिति, छन्दोमान और छन्दोभाषा पद पढ़े हैं। इनके विषय में पूर्व (पृष्ठ ३५,३६) लिखा जा चुका है। इनसे स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व अनेक छन्दःशास्त्रों का प्रवचन हो चुका था और वे उस समय व्याख्यातव्य ग्रन्थ समझे जाते थे।

पूर्वपक्ष—पाणिनि ने जिनः छन्दोविचिति आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वे वैदिक छन्दःसम्बन्धी रहे होंगे। लौकिक विविध छन्दों के भेद-प्रभेद तो पाणिनि के बहुत उत्तर काल में विकसित हुए।

उत्तरपक्ष—पूर्वपक्षी का कथन केवल प्रतिज्ञामात्र है। उसमें कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया। इसके विपरीत हम अनेक ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जायेगा कि लौकिक छन्दों के विविध भेद-प्रभेद पाणिनि से बहुत पूर्व विकसित हो चुके थे। इतना ही नहीं, पाणिनि से पूर्व चित्रकाव्यों का रचनाकौशल भी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। यथा—

क—छन्दःसूत्रकार आचार्य पिङ्गल ने अपने ग्रन्थ में लौकिक छन्दों के विविध भेद-प्रभेदों का विस्तार से निर्देश किया किया है यह आचार्य पिङ्गल महामुनि पाणिनि का अनुज था।[2] अतः पाणिनि से पूर्व पिङ्गल-निर्दिष्ट लौकिक छन्दों के भेद-प्रभेद की सत्ता स्वतः सिद्ध है।

ख—पाणिनि के 'जाम्बवतीविजय' अथवा 'पातालविजय' महाकाव्य के जो कतिपय उद्धरण विविध प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध हुए हैं, उनसे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में लौकिक छन्दों के विविध भेद-प्रभेद पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे।

पाश्चात्य लेखकों का अनर्गल प्रलाप---पीटर्सन आदि लेखकों ने अपने कल्पित तथा असिद्ध काल-विभाग को सिद्धवत् मानकर भारतीय वाङ्मय में एक स्वर से सम्मत जिन तथ्यों की अवहेलना की, तथा उन्हें असत्य ठहराने के लिये घोर प्रयास किया, उनमें से एक यह भी है कि जाम्बवतीविजय महा-

---

१. इस प्रकरण में विकास, विकसित आदि शब्दों का प्रयोग हमने पूर्वपक्षी के मतानुसार किया है।

२. इसके लिए देखिए 'सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास', भाग १ः पृष्ठ २३९ (सं० २०३०)

काव्य भगवान् पाणिनि की कृति नहीं है। पाश्चात्य लेखकों को भय था कि यदि पाणिनि के समय में ऐसे विविध छन्दोयुक्त, ललित, सालंकार[1] तथा सरस काव्य की रचना का सद्भाव मान लिया जायेगा तो उनका कल्पित ऐतिहासिक कालक्रम तथा उस पर निर्मित उनका ऐतिहासिक प्रासाद धूलिसात् हो जाएगा। इसलिये जैसे कोई मिथ्यावादी अपने एक असत्य को छिपाने के लिए अनेक असत्य वचनों का आश्रय लेता है, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी काल्पनिक ऐतिहासिक काल-परम्परा की रक्षा के लिए अनेक असत्य पक्षों की कल्पना की। इसलिए पाश्चात्य लेखकों के लिखने से अथवा मुट्ठीभर अंग्रेजी पढ़े लिखे उनके अनुयायियों के कहने मात्र से भारतीय वाङ्मय में एक स्वर से स्वीकृत जाम्बवतीविजय महाकाव्य का कर्त्तृत्व महामुनि पाणिजि से हटाया नहीं जा सकता।

अब हम दुर्जनसन्तोषन्याय से पाणिनि के व्याकरण (जिसमें सब मत हैं) से ही कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं। जिनसे सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट हो जायेगा कि पाणिनि से पूर्व नकेवल लौकिक छन्द ही पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे, अपितु उससे पूर्व विविध प्रकार के चित्रकाव्यों की रचना भी सहृदयों के मनों को आह्लादित करली थी। इस विषय में पाणिनि के निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं—

ग—अष्टध्यायी का एक सूत्र है—

संज्ञायाम्। ३।४।४२॥

अर्थात्—अधिकरणवाची उपपद होने पर 'बन्ध' धातु से संज्ञा विषय में 'णमुल' प्रत्यय होता है।

इस सूत्र पर काशिकाकार ने कौञ्चबन्धं बध्नाति, मयूरिकाबन्धं बध्नाति, अट्टालिकाबन्धं बध्नाति उदाहरण देकर स्पष्ट लिखा है—

बन्धविशेषाणांनामधेयान्येतानि।

अर्थात्—ये बन्ध (=काव्य बन्ध) विशेषों के नाम हैं।

घ—अष्टाध्यायी के षष्टाध्याय में दूसरा सूत्र है—

---

१. पाणिनि से प्राचीन भागुरि मुनि ने अलंकार शास्त्र का प्रवचन किया था। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ९९ (सं० २०३०)। निरुक्त ३।१८ से विदित होता है कि लोक में अलङ्कारों का प्रयोग यास्क से बहुत पूर्व आरम्भ हो चुका था।

वन्धे च विभाषा । ६।३।१३ ॥

अर्थात्—'बन्ध' शब्द उत्तरपद होने पर हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी विभक्ति का विकल्प से लुक् होता है। यथा—

हस्तेवन्धः, हस्तवन्धः । चक्रेवन्धः, चक्रवन्धः

प्रथम सूत्र में अधिकरण उपपद होने पर 'णमुल' का विधान है। यहां उपमान का प्रकरण नहीं है, इसलिए क्रौञ्चबन्धं बध्नाति का अर्थ 'क्रौञ्च में बांधता है' इतना ही है। क्रौञ्च के बन्धन के समान बांधता है,यह अर्थ तब हो सकता था जब इसमें उपमान का प्रकरण होता। इसलिए क्रौञ्चबंध, चक्र-बन्ध आदि शब्दों का सीधा-सादा अर्थ यही है कि क्रौञ्च अथवा चक्र के चित्र में श्लोकों को बांधता है।[1]

खण्डिकादिगण (द्र०—काशिका ४।२।४५) में साक्षात् हलबन्ध का निर्देश मिलता है।

याजिक श्येनचित् आदि के साथ छान्दस चक्रबन्ध आदि का सादृश्य—यज्ञ सम्बन्धी श्येनचित्, कङ्कचित् आदि क्रतुविधियों के साथ छन्दः-शास्त्र सम्बंधी चक्रबन्ध, क्रौञ्चबंध आदि की तुलना करने पर इनमें परस्पर अद्भुत सादृश्य दिखाई देता है। यज्ञ में श्येन आकार की निष्पत्ति के लिए विभिन्न प्रकार की इष्टकाओं का ऐसे ढंग से चयन किया जाता है कि उन इष्टकाओं के चयन से श्येन की आकृति निष्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध आदि में भी शब्दों का चयन अथवा बन्धन इस ढंग से किया जाता है कि उस पर रेखाएं खींच देने पर चक्र और क्रौञ्च आदि की आकृति बन जाती है।

पाश्चात्य विद्वान् भी इस विषय में एक मत हैं कि पाणिनि से बहुत पूर्व श्येनचित्, कङ्कचित् आदि चयनयागों का उद्भव हो चुका था। ऐसी अवस्था में उनके अनुकरण पर निर्मित चक्रबन्ध, क्रौञ्चबन्ध आदि चित्र काव्यों की सत्ता में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है, और वह भी उस समय जब पाणिनि के सूत्र क्रौञ्चबन्ध, चक्रबन्ध आदि का स्पष्ट निर्देश कर रहे हों ?

४— निदान-प्रवक्ता पतञ्जलि (३००० वि० पूर्व) से प्राचीन छन्दःशास्त्रकार—पतञ्जलि ने अपने 'निदानसूत्र' में अनेक स्थानों पर—

---

१. तुलना करो—श्येनचितं चिन्वीत, कङ्कचितं चिन्वीत।

क—एके (पृष्ठ १, २, ५)'। ङ—बह्वृचा:(पृष्ठ ३)।
ख—उदाहरन्ति (पृष्ठ २,३,४) । च—ब्रुवते (पृष्ठ ३) ।
ग—पञ्चाला: (पृष्ठ २) । छ—प्रतिजानते (पृष्ठ५)।
घ—आचक्षते (पृष्ठ३,४,५,६,७) ।

शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन आचार्यों के मत उद्धृत किए हैं ।

५—'षडङ्ग' नाम से छन्द:शास्त्र का उल्लेख—छन्द:शास्त्र षड् वेदाङ्गों में अन्यतम है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ३८) लिख चुके हैं । इन वेदाङ्गों का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । यथा—

क—बौधायन धर्मसूत्र (२९०० वि० पूर्व) में २।१४।२ पर ।

ख—गौतमधर्मसूत्र (१९५० वि० पूर्व) में १५।२८ पर ।

ग—गोपथ ब्राह्मण (३००० वि० पूर्व०) में १।१।२७ पर ।

घ—वाल्मीकि रामायण (लगभग ६००० वि० पूर्व) में बालकाण्ड ७।१५ आदि पर ।

इन निर्देशों से स्पष्ट कि षडङ्गों के अन्तर्गत स्वीकृत छन्द:शास्त्र की प्राचीनता निर्विवाद है ।

६—षडङ्गों का आदि-प्रवचन (११०० वि० पूर्व)—हम पूर्व (पृष्ठ ४५) लिख चुके हैं कि भारतीय इतिहास के अनुसार वेद के षडङ्गों का आदि-प्रवचन आज से न्यूनातिन्यून ग्यारह सहस्र वर्ष पूर्व सतयुग के अन्त में हुआ था । इसमें निम्न प्रमाण हैं—

क—निरुक्त १।२० में लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृत-धर्मा ऋषि उत्पन्न हुए थे । तदनन्तर मेधा के ह्रास के कारण[1] मनुष्य उपदेश=प्रवचन मात्र से वेदार्थ जानने में असमर्थ हुए । तब ऋषियों ने वेदाङ्गों का प्रवचन किया ।[2]

---

१. सभी भारतीय शास्त्र इस बात में एक मत है कि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न मनुष्य अतिशय ज्ञानी और सात्त्विक थे । उनमें उत्तरोत्तर मेधा का ह्रास, राजस और तामस गुणों की उत्पत्ति हुइ और मनुष्य समाज ज्ञान तथा सात्त्विकता आदि सद्गुणों की दृष्टि से ह्रास की ओर अग्रसर होने लगा । देखिए चरक विमानस्था० अ० ३ ।

२, 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु: । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य

ख—महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत शिवसहस्रनाम में लिखा है—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य २८४।९२॥

अर्थात्—शिव ने वेद से उसके छह अङ्गों को निकाला (उनका प्रथम प्रवचन किया)।

ग—महाभारत कुम्भघोण संस्करण में लिखा है—

वेदाङ्गानि तु बृहस्पतिः। शान्ति० २१२।३२॥

अर्थात्—वेदाङ्गों का प्रवचन बृहस्पति ने किया।

विरोध-परिहार—महाभारत के पूर्वनिर्दिष्ट दोनों वचनों में कोई विरोध नहीं है। शिव और बृहस्पति दोनों ही वेदाङ्गों के स्वतन्त्र प्रादिप्रवर्तक थे।

दो विद्या-सम्प्रदाय—भारतीय वाङ्मय में अनेक विद्याओं के दो सम्प्रदाय (गुरुशिष्य-परम्परा) माने गए हैं—एक शैव और दूसरा ब्राह्म अथवा बार्हस्पत्य अथवा ऐन्द्र।[1] यथा—

व्याकरण में दो सम्प्रदाय—व्याकरण-शास्त्र-प्रवचन-परम्परा के भी दो सम्प्रदाय हैं—एक शैव (माहेश्वर) और दूसरा बार्हस्पत्य। पाणिनीय व्याकरण शैव-सम्प्रदाय[2] का है और ऐन्द्र व्याकरण बार्हस्पत्य का। कातन्त्र व्याकरण का सम्बन्ध ऐन्द्र सम्प्रदाय (जो कि मूलतः बार्हस्पत्य है), से माना जाता है।[3]

उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च'। निरु० अ० १ खं० २०।

१. ऋक्तन्त्र व्याकरणानुसार ब्रह्मा का शिष्य बृहस्पति और बृहस्पति का इन्द्र है। विशेष वर्णन हमारे 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ७७-८९ (सं० २०३०) में देखें।

२. यहां सम्प्रदाय का अभिप्राय आधुनिक शैव मत से नहीं है, अपितु यह प्राचीन परम्परानुसार गुरु-शिष्य-परम्परा का बोधक शब्द है। द्र०—तुल्यं च साम्प्रदायिकम् (मीमांसा १।२।८) सूत्र।

३. यदि कातन्त्र का सम्बन्ध ऐन्द्र तन्त्र से हो, तो ऐन्द्र संप्रदाय के एक और व्याकरण का ज्ञान हमें हो जाता है। और वह है—काशकृत्स्न व्याकरण। कातन्त्र व्यारण काशकृत्स्न का संक्षिप्त संस्करण है। इस की मीमांसा के लिये देखिये—'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र', "साहित्य" (पटना)

शिव और बृहस्पति का शास्त्र प्रवचन-काल—शिव और बृहस्पति दोनों कृतयुग के अन्तर्गत देवयुग (कृतयुग का तृतीय चतुर्थ चरण) के व्यक्ति हैं। इसलिए इनके द्वारा किए गए शास्त्र-प्रवचन का काल निश्चय ही आज से न्यूनातिन्यून ११-१२ सहस्र वर्ष पूर्व है।

७—हम पूर्व (पृष्ठ ४३,-४४) लिख चुके हैं कि अन्य विद्याओं के समान छन्दो विद्या का भी मूल उद्गम स्थान वेद ही है। वेदों में छन्द, उनके प्रमुख भेद तथा छन्दों से सम्बद्ध अन्य अनेक विषयों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है यथा—

क—सात प्रमुख छन्दों का निर्देश—ऋ० १।१३०।४-५॥

ख—छन्दों में उत्तरोत्तर होने वाली चतुरक्षर-वृद्धि काउल्लेख—अथर्व ८।९।१९॥

ग—सात छन्दों और उनके देवताओं का वर्णन[1]—ऋ० १।१३०।४-५॥

घ—छन्दों और स्तोमों के सम्बन्ध का निर्देश[1]—अथर्व ८।९।२०॥

पाश्चात्य लेखकों के मतानुसार—वेदों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानने वाले पाश्चात्य लेखकों के मतानुसार भी उपरि निर्दिष्ट मन्त्रों के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि वेदों के संकलन से पूर्व वैदिक छन्दःशास्त्र पूर्णतया निर्धारित हो चुके थे। इसलिए छन्दःशास्त्र का प्रादुर्भाव उनके स्वकल्पित सूत्रकाल केअनुसार मानना नितान्त मिथ्या है।

ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेदाङ्ग रूप में छन्दःशास्त्र का प्रवचन विक्रम से सहस्रों वर्ष पूर्व से हो रहा है। पिङ्गल का छन्दःशास्त्र उसी प्राचीन परम्परा का अन्तिम आर्ष ग्रन्थ है। यह विक्रम से २८००—२९००वर्ष पुर्ववर्त्ती है। पाश्चात्य लेखकों ने इसे ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का लिखने की महती धृष्टता की है उनके लेख की परीक्षा के लिए हमारा "छन्दःशास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ देखना चाहिए।

के (वर्ष सन् १९५८) अङ्क में हमारा निबन्ध। तथा यही परिष्कृत रूप में 'काशकृत्स्न व्याकरम्'के नाम से पृथक् छपा है, तथा 'काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्' में उपोदघात रूप में मुद्रित हुआ है।

१. छन्दों के देवता, स्तोम, वर्ण तथा गोत्रादि का वर्णन यथास्थान आगे विस्तार से किया जाएगा।

छन्दःशास्त्र पर लिखे गए व्याख्यान-ग्रन्थों की प्राचीनता

छन्दःशास्त्र की प्रचीनता के बोधक कतिपय प्रमाण ऊपर उद्धृत कर चुके। उनसे इतना स्पष्ट है कि भगवान् पाणिनि से पूर्व लौकिक छन्दों की रचना क्रोञ्चबन्ध, चक्रबन्ध आदि के रूप से अत्यधिक प्रचलित थी। अब हम छन्दः-शास्त्र पर लिखे गए व्याख्यान अथवा भाष्य ग्रन्थों की प्राचीनता दर्शाते हैं—

१—पिङ्गल का छन्दःसूत्र-भाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य-प्रकरण में लिखा है—

छन्दः पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रभाष्यम् । पृष्ठ २६३, संस्क० ३ ।

अर्थात्—छन्द से पिङ्गलाचार्यकृतसूत्र-भाष्य का ग्रहण समझना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में पिङ्गलाचार्य ने अपने छन्दःसूत्र पर भाष्य भी लिखा था।[1]

२—पाणिनि से प्राचीन छन्दोव्याख्यान—विक्रम से लगभग २६०० वर्ष पूर्वभावी आचार्य पाणिनि[2] ने तस्य व्याख्यान प्रकरण में ऋगयनादिगण (४।३।७३) में जिन व्याख्यातव्य (=व्याख्यान करने योग्य) ग्रन्थों का निर्देश किया है, उनमें छन्दोविचिति, छन्दोमान और छन्दोभाषा आदि नाम पढ़े हैं। ये छन्दःशास्त्र के पर्याय हैं, यह पूर्व (पृष्ठ ३५,३६) लिखा

---

१. पिङ्गल पाणिनि का अनुज है। देखिये, 'सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १८३ (स० २०३०)। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की वृत्ति का भी प्रवचन किया था (देखिये हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ ४३६ (सं २०३०)। जैसे पिङ्गल ने अपने ज्येष्ठ भ्राता के शब्दानुशासन के अनुकरण पर अपना ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त किया, उसी प्रकार उसने अष्टाध्यायी की वृत्ति के समान अपने छन्दःशास्त्र की किसी वृत्ति अथवा भाष्य ग्रन्थ का प्रवचन भी किया हो, इसकी अत्यधिक संभावना है। पिङ्गल का शास्त्र प्रोक्त-ग्रन्थ है, प्रवचन केवल सूत्रपाठ का सम्भव नहीं, उसका अभिप्राय भी अवश्य बताना होगा। अतः पिङ्गलप्रोक्त छन्दःसूत्र की स्वोपज्ञ व्याख्या अवश्य रही होगी।

२. पाश्चात्य लेखक आचार्य पाणिनि का काल ६००-४०० ईसापूर्व मानते हैं। यह इतिहासविरुद्ध होने से कल्पना मात्र है। देखिये 'सं० व्या०शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १६०—२०५ (सं० २०३०)।

जा चुका है। व्याख्यान प्रकरण में इन नामों का उल्लेख करने से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में इन नामों वाले विविध छन्दोग्रन्थ व्याख्यातव्य (=व्याख्या =भाष्य करने योग्य) समझे जाते थे और इन पर रचे गए व्याख्याग्रन्थ क्रमशः छान्दोविचिति, छान्दोमान और छान्दोभाष कहलाते थे।

३—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३२४।२३ में वैयासकि शुक का विशेषण वेदवेदाङ्गभाष्यवित् लिखा है। इस से स्पष्ट है कि वैयासकि शुक से पूर्व वेदाङ्गों पर भाष्य रचने की परम्परा प्रवृत्त हो चुकी थी।

४—निदानसूत्र से पूर्व छन्दोव्याख्यान-ग्रन्थ—निदानसूत्रकार पतञ्जलि[1] (३१०० वि० पूर्व) का निदान सूत्र निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। पाणिनि ने निदानसूत्र के प्रवक्ता पतञ्जलि का नाम उपकादि गण (२।४।६९) में साक्षात् पढ़ा है।

निदानसूत्र के छन्दोविचिति-प्रकरण में अनेक स्थानों पर उदाहरन्ति पद द्वारा छन्दःशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों द्वारा निर्दिशित उदाहरण उद्धृत किए हैं। यथा—

क—तच्चापि पञ्चाला उदाहरन्ति—पेटिलालकन्ते पेटाविटकन्ते ……… । पृष्ठ ३॥

ख—अथापि चत्वारः सप्ताक्षरा इत्युदाहरन्ति—नदं व ओदतीनाम् इति। पृष्ठ ३॥

ग—अथापि चत्वारो नवाक्षरा इत्युदाहरन्ति—उपेदमुपपर्चनम् इति। पृष्ठ ४॥

इनमें प्रथम उद्धरण में स्मृत 'पञ्चालाः' पाञ्चाल बाभ्रव्य के ग्रन्थ के अध्येता है।[2] पाञ्जाल बाभ्रव्य का निर्देश शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५ में किया है। छन्दः और अलङ्कार शास्त्रों में स्मृत पाञ्चाली वृत्ति का संबन्ध भी सम्भवतः इसी पाञ्चाल बाभ्रव्य आचार्य से है। पाञ्जाली वृत्ति का निर्देश पिङ्गल ने भी किया है। बाभ्रव्य पाञ्जाल का काल विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व है।

निदानसूत्र के ऊपरि निर्दिष्ट उद्धरणों से स्पष्ट है कि निदान सूत्र से पूर्व

---

१. यह महाभाष्यकार से अति प्राचीन शास्त्रप्रवक्ता है।

१. तुलना कीजिये—ऋ० प्राति० २।३३ तथा ८१ में निर्दिष्ट प्राच्य-पञ्जाल शब्द से।

छन्दोग्रन्थों पर ऐसे व्याख्यान ग्रन्थ रचे जा चुके थे, जिनमें तत्तत् छन्दों के उदाहरण भी दिए गए थे।

छन्दःशास्त्र की प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा—अब हम छन्दःशास्त्र की प्राचीनता को व्यक्त करने के लिये उन ऐतिहासिक परम्पराओं का निर्देश करते हैं, जो विभिन्न ग्रन्थकारों द्वारा सुरक्षित रखी गई हैं।

परम्परा को सुरक्षित रखनेवाले दो ग्रन्थकार—छन्दःशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा को सुरक्षित रखने का दो ग्रन्थकारों ने अभूतपूर्व कार्य किया है। उनमें एक है पिङ्गलछन्दः-सूत्र भाष्य का रचयिता यादव प्रकाश और दूसरा सखारामदीक्षित का पिता 'वार्तिकराज' ग्रन्थ का रचयिता। हम यहाँ उन सभी परम्पराओं का निर्देश करेंगे, जिनका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थकारों ने किया है—

१—यादवप्रकाशोल्लिखित परम्परा—यादव प्रकाश पिङ्गल-छन्दः सूत्र के भाष्य[1] की समाप्ति पर छन्दःशास्त्र-परम्परा-निदर्शक एक श्लोक लिखता है—

> छन्दोज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे सुराणां गुरुः,
> तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्यनामा ततः।
> माण्डव्यादपि सैतवस्तत ऋषिर्यास्कस्ततः पिङ्गलः,
> तस्येदं यशसा गुरोर्भुवि धृतं प्राप्यास्मदाद्यैः क्रमात्॥

अर्थात्—भगवान् शिव से सुरगुरु=बृहस्पति ने, उस से दुश्च्यवन=इन्द्र ने, इन्द्र से असुरगुरु=शुक्र ने, शुक्र से माण्डव्य ने, माण्डव्य से सैतव ने, सैतव से यास्क ने, यास्क से पिङ्गल ने छन्दःशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया।

२—दूसरी परम्परा—यादव प्रकाश के छन्दःसूत्र-भाष्य के अन्त में किसी प्राचीन हस्तलेख से प्रतिलिपि किया हुआ निम्न श्लोक उपलब्ध होता है[2]—

> छन्दःशास्त्रमिदं पुरा त्रिनयनाल्लेभे गुहोऽनादितः,
> तस्मात् प्राप सनत्कुमारमुनिस्तस्मात् सुराणां गुरुः।

---

१. यह ग्रन्थ अद्य यावत् अमुद्रित है। हमने इसके उद्ध्रियमाण दोनों प्रमाण वैदिकवाङ्मय का इतिहास 'ब्राह्मण और आरण्यक' नामक भाग २, पृष्ठ २४६ (लाहौर सं०) से लिये हैं। नया सं० सन् १९७४, पृष्ठ २४७।

२. वही पृ० २४७ (लाहौर सं०) नया संस्करण २४८।

तस्माद्देवपतिस्ततः फणिपतिस्तस्माच्च सत्पिङ्गलः,
तच्छिष्यैर्बहुभिर्महात्मभिरथो मह्यं प्रतिष्ठापितम् ॥

अर्थात्—शिव से गुह ने, गुह से सनत्कुमार ने, उस से बृहस्पति ने, बृहस्पति से इन्द्र ने, इन्द्र से पतञ्जलि (निदानसूत्रकार) ने और पतञ्जलि से पिङ्गल ने छन्दःशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया।

हमें इन दोनों में साक्षात् ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट प्रथम परम्परा अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है। हाँ, द्वितीय परम्परा में निर्दिष्ट आचार्य भी छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता थे, इतना अंश ठीक है।

३—राजवार्तिककारोल्लिखित परम्परा—अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में सखाराम दीक्षित विरचित पिङ्गल-छन्दःसूत्र की एक वृत्ति का हस्तलेख है। उसके अनुसार उसके पिता द्वारा विरचित 'वार्तिकराज' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

शिवगिरिजानन्दिफणीन्द्रबृहस्पतिच्यवनशुक्रमाण्डव्याः।
सैतवपिङ्गलगरुडप्रमुखा आद्या जयन्ति गुरुचरणाः॥

अर्थात्—शिव, गिरिजा,=पार्वती, नन्दी, फणीन्द्र=पतञ्जलि, बृहस्पति च्यवन (दुश्च्यवन=इन्द्र ?), शुक्र, माण्डव्य, सैतव, पिङ्गल और गरुड़—ये छन्द.शास्त्र के प्रधान आचार्य हैं।

४—जयकीर्ति द्वारा स्मृत प्राचीन छन्दःप्रवक्ता—जयकीर्ति नामक जैन छन्दःशास्त्र-प्रवक्ता काव्यरचना में 'यति' के विषय में लिखता है—

वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गल-वसिष्ठ-कौण्डिन्य-कपिल-कम्बलमुनयः।
नेच्छन्ति भरत-कोहल-माण्डव्याश्वतर-सैतवाद्याः केचित्॥

अर्थात्—पिङ्गल, वसिष्ठ, कौण्डिन्य, कपिल और कम्बलमुनि यति को चाहते हैं। तथा भरत, कोहल, माण्डय और अश्वतर यति को नहीं चाहते।

पिङ्गल से प्राचीन छन्दःप्रवक्ता

अब हम अन्त में स्मरणार्थ उन सभी आचार्यों के नाम लिखते हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। यथा—

उपनिदान में—	पिङ्गल-छन्दःसूत्र में—
१—पाञ्चाल (बाभ्रव्य)	१—ताण्डी

२—यास्क	२—क्रौष्टुकि
३—ताण्डी	३—यास्क
४—निदान (सूत्रकार पतञ्जलि)	४—सैतव
५—पिङ्गल	५—काश्यप
६—उक्थ शास्त्र (कार)	६—रात
	७—माण्डव्य

जयकीर्ति के छन्दःशास्त्र में

१—पिङ्गल	६—भरत
२—वसिष्ठ	७—कोहल
३—कौण्डिन्य	८—माण्डव्य
४—कपिल	९—अश्वतर
५—कम्बल	१०—सैतव

तीन प्राचीन वंशावलियां

यादवप्रकाश	यादवप्रकाश	राजवार्तिक
१—शिव	१—शिव	१—शिव
२—बृहस्पति	२—गुह	२—पार्वती
३—इन्द्र	३—सनत्कुमार	३—नन्दी
४—शुक्र	४—बृहस्पति	४—फणीन्द्र (पतञ्जलि)
५—माण्डव्य	५—इन्द्र	५—बृहस्पति
६—सैतव	६—पतञ्जलि	६—च्यवन
७—यास्क	७—पिङ्गल	७—शुक्र
८—पिङ्गल		८—माण्डव्य
		९—सैतव
		१०—पिङ्गल
		११—गरुड़

कालक्रमानुसार नामों का संकलन—हमारे विचार में उपर्युक्त सभी छन्दःशास्त्र-प्रवक्ताओं के नामों का कालक्रमानुसार संकलन निम्न प्रकार किया जा सकता है। इनमें अनेक आचार्य समकालिक हैं। उनके नामों का पौर्वापर्य-क्रम ग्रन्थों में निर्दिष्ट उद्धरणों के अनुसार रखा है।

१—कृतयुगीन—

१—शिव
२—पार्वती
३—नन्दी
४—गुह
५—सनत्कुमार
६—बृहस्पति
७—इन्द्र
८—शुक्र
९—कपिल

२—त्रेतायुगीन—

१०—माण्डव्य
११—वसिष्ठ
१२—सैतव
१३—भरत
१४—कोहल

३—द्वापरयुगीन—

१५—कौण्डिन्य
१६—ताण्डी
१७—अश्वतर
१८—कम्बल
१९—काश्यप
२०—पञ्चाल पाञ्चाल(बाभ्रव्य)
२१—पतञ्जलि
२२—रात
२३—क्रौष्टुकि

४—कलियुग के प्रारम्भ में—

२४—उक्थशास्त्रकार
२५—शौनक[1]
२६—यास्क[1]
२७—आश्वलायन[2]
२८—पिङ्गल

'राजवार्तिक' में उल्लिखित 'च्यवन' यदि दुश्च्यवन=इन्द्र का ही संक्षेप न हो तो च्यवन ३१वां आचार्य होगा।

'छन्दोमञ्जरी' में एक 'श्वेतमाण्डव्य' आचार्य स्मृत है।[1] वह यदि माण्डव्य से भिन्न है, तो वह ३२वां आचार्य होगा। राजवार्तिक में 'शुक्र-माण्डव्य' पद साथ-साथ पढ़े हैं। यदि शुक्र का अर्थ श्वेत हो, और वह माण्डव्य का विशेषण हो[1] तो छन्दोमञ्जरी के 'श्वेत माण्डव्य' और राज-

---

१. ये दोनों समकालिक हैं। द्र०—वैदिकवाङ्मय का इतिहास, भाग २, पृष्ठ २०० (सन १९७६)।

२. उवट भाष्य के कुछ हस्तलेखों के अन्त में वर्तमान लेख के अनुसार ऋक्प्रातिशाख्य का छन्दः प्रकरण १६-१८ आश्वलायन प्रोक्त है। द्र०—डा० मंगलदेव शास्त्री सं०, पृष्ठ ५०३।

३. तुलना कीजिये—'श्वेताश्वतर' नाम के साथ। श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी आचार्य का प्रवचन है। श्वेताश्वतर आचार्य छन्दःप्रवक्ता 'अश्वतर' (२०वां नाम) से भिन्न व्यक्ति है।

वार्तिक के 'शुङ्ग माण्डव्य को एक ही व्यक्ति मानना होगा।

उपरि निर्दिष्ट आचार्यों की नामावली आदि काल से लेकर आर्षयुग की समाप्ति (भारत युद्ध से २००-३०० वर्ष उत्तर) तक के उन छन्दःप्रवक्ता ऋषियों, मुनियों अथवा आचार्यों की है, जिनके नाम प्राचीन वाङ्मय में आज तक सुरक्षित हैं, अथवा जिनके ग्रन्थ सम्प्रति विद्यमान हैं।

आर्षयुग के उत्तरवर्ती छन्दःप्रवक्ता आ--र्षयुग की समाप्ति के अनन्तर भी निश्चय ही अनेक आचार्यों ने छन्दःशास्त्र का प्रवचन किया होगा, परन्तु उनमें से निम्न आचार्यों के ही छन्दःशास्त्र अथवा उनके शास्त्रप्रवक्तृत्व के प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

नाम	काल
१—पूज्यपाद=देवनन्दी[1]	४७०–५१२ वि०[2]
२—जयदेव	६०० वि०
३—गणस्वामी (जानाश्रयी-प्रवक्ता)	६३७–६७७ वि०
४—दण्डी (छन्दोविचिति)	७०० वि०
५—पाल्यकीर्ति[3]	८७१ –९२४ वि०
६—दमसागर मुनि[4]	१०५० वि० से पूर्व
७—जयकीर्ति (छन्दोनुशासन)	१०५० वि०

१. देखिए, जैनेन्द्र महावृत्ति (भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित) के आरम्भ में 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' नामक हमारा लेख, पृ० ५१ तथा 'जैन साहित्य और इतिहास', पृष्ठ ५६४।

२. आचार्य पूज्यपाद का काल प्रायः ६ शती विक्रम पूर्व माना जाता है। पर हमारे नए अनुसन्धान के अनुसार आचार्य पूज्यपाद महाराज 'कुमारगुप्त' के समकालिक सिद्ध हुए हैं। देखिए, जैनेन्द्र महावृत्ति (भारतीय ज्ञानपीठ काशी) के आरम्भ में 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' नामक हमारा लेख, पृष्ठ ४३।४४। भारतीय मतानुसार 'कुमारगुप्त' का काल विक्रम की प्रथम शती है, पाश्चात्य मतानुसार पञ्चम शती का उत्तरार्ध माना जाता है।

३. जयकीर्ति के छन्दोऽनुशासन ३।२१ में स्मृत (पृष्ठ ५२)।

४. जयकीर्ति के छन्दोऽनुशासन २।१४८ में स्मृत (पृष्ठ ४६)।

८—कालिदास (श्रुतबोध)	१०५० वि०
९—केदारभट्ट (वृत्तरत्नाकर)	११०० वि०
१०—हेमचन्द्र (छन्दोऽनुशासन)	११४५–१२२९ वि०
११—गङ्गदास (छन्दोमञ्जरी)	....
१२—........(रत्नमञ्जूषा)	....

आदि काल से अद्य यावत् जितने छन्दःप्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख अथवा उन के ग्रन्थ यत्र तत्र सुरक्षित हैं, उन सब का इतिहास हमने अपने 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा।

इस अध्याय में हमने 'छन्दःशास्त्र की प्राचीनता' का सोपपत्तिक वर्णन किया है। अगले अध्याय में 'छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' के विषय में लिखेंगे॥

पंचम अध्याय

छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता

हम पूर्व (पृष्ठ ३,४ में) लिख चुके हैं कि छन्दःशास्त्र काव्यवाङ्मय का प्राण है। इसके ज्ञान के विना नवीन काव्य-सर्जन तो असम्भव है ही, पूर्वतः विद्यमान वैदिक तथा प्राचीन लौकिक काव्यों में अप्रतिहत गति भी अशक्य है, कवि के सूक्ष्मतम अभिप्रायों तक पहुँचना तो बहुत दूर की बात है, विशेषकर वैदिक काव्यों[1] में। इसलिये छन्दःशास्त्र का शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से काव्यवाङ्मय के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध है।

काव्यों के दो भेद—संस्कृत वाङ्मय में प्रधानतया दो प्रकार के काव्य ग्रन्थ हैं। एक वैदिक, दूसरे लौकिक। वेद तथा उसकी शाखाओं के मन्त्र वैदिक काव्य के अन्तर्गत हैं। और रामायण, महाभारत,पुराण तथा भास और कालिदास आदि की कृतियां लौकिक काव्यान्तर्गत।

शास्त्र-काव्य—इन दोनों के अतिरिक्त जो प्राचीन आर्षशास्त्र पद्यबद्ध हैं, उनको कई विद्वान् वैदिक विभाग में रखते हैं, कई लौकिक विभाग में। इन में मन्त्रों के समान अक्षरछन्दों का उपयोग नहीं होता, अतः इनकी गणना वैदिक काव्यों में नहीं हो सकती। इन शास्त्रों में लौकिक छन्दों का प्रयोग होने पर भी इनकी रचना लौकिक काव्यों के समान इतिवृत्त-निदर्शनार्थ अथवा प्ररोचनार्थ नहीं हुई, इसलिये इनको लौकिक काव्यों में भी नहीं गिना जा सकता। इस कारण ये अपने ढंग के निराले ही शास्त्र-काव्य हैं।

छन्दःशास्त्र के दो विभाग—संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त छन्दों के दो विभाग हैं—वैदिक और लौकिक। इस दृष्टि से उन-उन छन्दों के विधायक शास्त्र भी दो विभागों में विभक्त होते हैं—वैदिक छन्दोविधायक और लौकिक छन्दोविधायक।

इन दोनों प्रकार के छन्दों का अनुशासन करनेवाले ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं।

---

१. 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' (अ० १०।८।३२), इस आथर्वण श्रुति में वेद के लिये साक्षात् काव्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

१—लौकिक मात्र—यथा छन्दोमञ्जरी, वृत्तरत्नाकर आदि।

२—वैदिक मात्र—यथा निदानसूत्र, उपनिदानसूत्र आदि। ये वस्तुतः आनुषङ्गिक छन्दोग्रन्थ हैं। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय वैदिक छन्द नहीं है। पुनरपि वैदिक छन्दोविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध न होने से इन्हें वैदिक में ही गिना है।

३—लौकिक वैदिक साधारण—यथा पिङ्गल का छन्दःशास्त्र, जयदेव की छन्दोविचिति आदि।

लौकिक छन्दःशास्त्र के प्रति मिथ्या धारणा—चिरकाल से कवियों की धारणा है कि छन्दोज्ञान का उपयोग केवल नवीन काव्य-सर्जन तक ही सीमित है, उसका काव्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। श्लोक के छन्द का ज्ञान हो अथवा न हो, उसका श्लोक के अर्थ की प्रतीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

वैदिक छन्दःशास्त्र के प्रति मिथ्या धारणा—यतः नूतन वैदिक काव्य का सर्जन संभव ही नहीं, अतः वैदिक छन्दों का ज्ञान लौकिक छन्दोज्ञान के समान नवीन वैदिक काव्यसर्जन में भी उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिये वैदिक छन्दोज्ञान का कोई ऐहलौकिक प्रयोजन नहीं है।

वैदिक छन्दोज्ञान अदृष्टार्थ—वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ कर्म में विनियुक्त मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान केवल यजन-याजन कार्य के लिये आवश्यक माना गया है। उसके ज्ञान के अभाव में दोषसंकीर्तन किया है[1]। इसलिये वैदिक छन्दोज्ञान कर्म-काण्ड में उपयुक्त होकर दोष की अनुत्पत्ति अथवा केवल अदृष्ट को उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में वह केवल अदृष्टार्थ है, ऐसा मध्य-कालीन वैदिकों का सिद्धान्त है।

वैदिक छन्दोज्ञान और वेदभाष्यकार—वेदार्थ के ज्ञान में वैदिक छन्दोज्ञान उपयोगी है, या नहीं इस विषय में वेदभाष्यकारों का निम्न मत है—

१—स्कन्दस्वामी—स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में लिखा है।

---

१. 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा पद्यति, प्र वा मीयते, पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति' (आर्षेय ब्राह्मण)। इसी प्रकार का वचन ऋक्सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भ में भी है।

तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्।

अर्थात्—ऋषि[1] और देवता मन्त्रार्थ के ज्ञान में उपयोगी हैं, अतः भाष्य में उन दोनों का निदर्शन कराया जायेगा। छन्दों का नहीं, क्योंकि वह वेदार्थ में उपयोगी नहीं हैं।

इससे स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी वेदार्थ में छन्द को उपयोगी नहीं मानता। अतः उसके मत में मन्त्रों के छन्दों का जानना केवल अदृष्टार्थ है।

२—सायण की असमर्थता—सायण ने ऋग्भाष्य की उपक्रमणिका में दो स्थानों पर छन्दों की वेदार्थ में उपयोगिता की प्रतिज्ञा की है[2], परन्तु प्रति-वेदाङ्ग वेदार्थोपयोगिता का निदर्शन कराते हुए, छन्दःप्रकरण में छन्दःशास्त्र की वेदार्थ से कोई उपयोगिता नहीं दर्शाई। केवल यज्ञ आदि में छन्दोज्ञान का उपयोग दर्शाया है।[3]

३—जयतीर्थ की असमर्थता—आचार्य मध्वविरचित ऋग्भाष्य (तीन अध्याय मात्र) की व्याख्या करते हुए, जयतीर्थ ने स्कन्दस्वामी के पूर्व उद्धृत मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति। पत्रा १२ क०।

अर्थात्—इससे 'छन्दोज्ञान का कोई उपयोग नहीं' इस मत का निराकरण हो जाता है।

हमने इस पंक्ति को देखकर जयतीर्थ की व्याख्या तथा नृसिंह के विवरण को अत्यधिक ध्यान से पढ़ा कि कहीं 'छन्दों की वेदार्थ में उपयोगिता' के विषय में कुछ संकेत मिल जाएं, परन्तु हमें सर्वथा निराश होना पड़ा।

पूर्व निर्दिष्ट उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी तो छन्दोज्ञान को वेदार्थ

---

१. ऋषि मन्त्रार्थ में कैसे उपयोगी होते हैं, यह अभी हमारी समझ में पूरी तरह नहीं आया।

२. 'अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि'। षडङ्ग प्रकरण के आरम्भ में। 'एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वम्'......। षडङ्ग प्रकरण के अन्त में।

३. द्रष्टव्य षडङ्ग अन्तर्गत छन्दः प्रकरण।

में उपयोगी मानता ही नहीं, सायण और जयतीर्थ मानते हुए भी उसके प्रतिपादन में सर्वथा असमर्थ रहे। इस कारण वैदिक विद्वानों में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि छन्दोज्ञान का वेदार्थ में कोई उपयोग नहीं। उनका ज्ञान यज्ञकर्म द्वारा अदृष्टोत्पादक मात्र है।

हमारे विचार में वैदिकों की इस भ्रान्त धारणा का मूल आधुनिक लौकिक काव्यों का गर्हित रचना प्रकार है। यह अनुपद स्पष्ट होगा।

उक्त धारणाएं भ्रान्तिमूलक—लौकिक और वैदिक छन्दों के उपयोग-विषयक उक्तधारणाएं सर्वथा भ्रान्तिमूलक हैं। उभयविध छन्दों का ज्ञान न केवल नवीन काव्यसर्जन के लिये उपयोगी है, अपितु उसका अर्थ के साथ भी गहरा संबन्ध है। छन्दोज्ञान के विना कवि के वास्तविक अभिप्राय तक पहुंचना प्रायः असम्भव है। परन्तु लौकिक काव्यों में यह सिद्धान्त रामायण, महाभारत आदि अति प्राचीन काव्यों में ही चरितार्थ हो सकता है, कालिदास आदि के काव्यों में नहीं। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

लौकिक काव्य के दो भेद—हमारी पूर्वलिखित धारणा को समझने के लिए वर्तमान में उपलब्ध लौकिक काव्यवाङ्मय को दो विभागों में बांटना होगा। प्रथम विभाग में उन काव्यों की गणना होगी, जिनके रचनाकाल में संस्कृत लौकिक व्यावहारिक भाषा थी और दूसरे विभाग में उन काव्यों का समावेश होगा, जिनके रचनाकाल में संस्कृत लोकव्यवहार की भाषा नहीं रही थी। वह केवल शास्त्रीय भाषा बन गई थी। इस दृष्टि से प्रथम विभाग में रामायण और महाभारत का ही समावेश होगा। इनके अतिरिक्त अन्य समस्त उपलब्ध काव्य ग्रन्थ दूसरे विभाग में समाविष्ट होंगे। हां, रामायण, महाभारत के अतिरिक्त वे समस्त आर्ष शास्त्र जो छन्दोबद्ध हैं, तथा वायु आदि पुराणों के प्राचीनतम अंश, इनका समावेश भी प्रथम विभाग में ही होगा।

व्यावहारिक तथा केवल शास्त्रीय भाषा में भेद—जो भाषा नैत्यिक व्यवहार के लिए लोक में व्यवहृत होती है और जो व्यवहार-दशा को छोड़कर केवल ग्रन्थ-रचना तक सीमित रह जाती है, इन दोनों में महान् अन्तर होता है। इसलिये हम दोनों का अन्तर अति संक्षेप से आगे दर्शाते हैं। इस अन्तर के ज्ञान के विना छन्दोज्ञान की अर्थज्ञान में उपयोगिता समझ में नहीं आ सकती।

व्यावहारिक भाषा—वक्ता भाषा का प्रयोग अपने अभिप्राय को श्रोता

के प्रति यथार्थ रूप में प्रकट करने के लिये करता है[1]। इसलिये जो भाषा लोक की व्यावहारिक भाषा होती है, उसके द्वारा अपने अभिप्राय को व्यक्त करने वाला वक्ता पदावली का इस ढंग से प्रयोग करता है, जिसमें उसका वास्तविक अभिप्राय श्रोता पर व्यक्त हो जाये[2]। इस नियम का महत्त्व उस भाषा में और भी अधिक वृद्धिगत हो जाता है, जिसमें अतिसूक्ष्म अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता हो, पदों में स्थान-परिवर्तन मात्र से उदात्तादि स्वरों की स्थिति बदल जाती हो और उदात्तादि स्वरों के परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता हो[3]। इसलिये जो ग्रन्थ इस प्रकार की भाषा में उस काल में लिखे जाएंगें, जब वह लोक-व्यवहार की भाषा हो, तब उन ग्रन्थों में चाहे वे गद्यबद्ध हों अथवा पद्यबद्ध, कवि अपनी अर्थविवक्षा को प्रधानता देगा और उसी के अनुकूल उचित पद-विन्यास करने का प्रयत्न करेगा।

केवल शास्त्रीय भाषा—जब कोई भाषा अपने व्यावहारिक स्वरूप को छोड़कर केवल ग्रन्थ-निबन्धन तक ही सीमित हो जाती है, तब वह भाषा केवल शास्त्रीय भाषा बन जाती है। उस समय व्यावहारिक काल में अर्थानुकूल प्रयुक्त होने वाले पदक्रम-विन्यास का महत्त्व दृष्टि से ओझल हो जाता है। पदों के आगे पीछे प्रयोग करने से वाक्यार्थ में जो सूक्ष्म अन्तर होता है, वह भी नष्ट हो जाता है। इसलिये उस काल के विद्वान् 'अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते' (अर्थ को जनाऊंगा, इसलिये शब्द का प्रयोग होता है) इस नियम के स्थान पर 'यथा स्वज्ञानोत्कर्षः प्रख्यापितो भवति तथा पदं प्रयोक्ष्ये' (जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का उत्कर्ष प्रसिद्ध हो,

---

१. 'अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते'। महाभाष्य।

२. हमारी व्यावहारिक भाषा के 'जा देवदत्त गाँव को, देवदत्त गाँव को जा' इत्यादि वाक्यों में पदक्रम-भेद से व्यक्त होनेवाले सूक्ष्म अर्थ-भेद की प्रतीति स्पष्ट है।

३. प्राचीन संस्कृत भाषा में उदात्तादि स्वर लोकभाषा में व्यवहृत थे, प्राचीन लौकिक साहित्य भी सस्वर था, पदक्रम-भेद से उदात्तादि स्वरों में क्या अन्तर होता है, और स्वर-भेद से अर्थों में क्या अन्तर हो जाता है, इन सब विषयों की मीमांसा के लिये हमारे "वैदिक-स्वर-मीमांसा" ग्रन्थ का चतुर्थ और पञ्चम अध्याय देखना चाहिये।

उस प्रकार के पदों का प्रयोग करूँगा) का अवलम्बन करता है। इसलिये भाषा में चाहे वह गद्यबद्ध हो चाहे पद्यबद्ध, भाषा की स्वाभाविकता (जो व्यवहार काल में होती है) नष्ट हो जाती है, और उसमें कृत्रिमता आ जाती है। जिस कवि में स्वज्ञानोत्कर्ष के प्रख्यापन की मात्रा जितने अंश में अधिक होती है, उसी अनुपात से उसके काव्य की भाषा में स्वाभाविकता की मात्रा न्यून और कृत्रिमता की मात्रा अधिक होती है (कालिदास और हर्ष की भाषा इस तारतम्य का विस्पष्ट चित्र उपस्थित करती है)। इसलिये वासवदत्ता, कादम्बरी, भट्टि और नैषध आदि ग्रन्थों की भाषा का तो कहना ही क्या, जिनकी रचना केवल स्वपाण्डित्योत्कर्ष के प्रख्यापन के लिये ही हुई है। इस कारण इन ग्रन्थों की शब्दरचना कवियों ने लोकोपकार-बुद्धि से प्रेरित होकर अर्थ विशेष को व्यक्त करने के लिये नहीं की, अपि तु स्वकाव्यनिबन्धचातुर्य अथवा भाषासौष्ठव (उस समय के मापदण्ड के अनुसार) के प्रदर्शन के लिये की है[1]। अतः इन ग्रन्थों में शब्दों का पौर्वापर्य अर्थविशेष-प्रख्यापन की दृष्टि से न करके केवल छन्दोरचना की दृष्टि से किया गया है, इसलिये इन काव्यों में छन्दोज्ञान अर्थज्ञान में सहायक नहीं होता।

प्राचीन काव्यकालीन संस्कृत भाषा—जिस काल में भगवान् ऋक्ष (गोत्रनाम वाल्मीकि) ने रामायण की और कृष्ण द्वैपायन तथा उनके शिष्यों ने महाभारत की रचना तथा परिवर्धन किया, उस समय संस्कृत भाषा भारत के विस्तृत भू खण्ड और उससे बाहर भी क्वचित् व्यावहारिक भाषा थी और वह पाणिनि के संस्कृत व्याकरण के आधार पर सम्प्रति अनुमानित संकुचित संस्कृत की अपेक्षा बहुत विशाल थी।[2] पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभी लेखक इस विषय में सहमत हैं कि पाणिनि के काल तक व्यावहारिक संस्कृत भाषा में उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता था।[3] इसलिये उससे पूर्व काल में रचे गये लौकिक ग्रन्थ भी सस्वर थे।[3]

---

१. देखो—'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया'। हर्षचरित के आरम्भ में। 'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्'। भट्टि० २२।२४॥ इसी प्रकार अन्य काव्यों के विषय में भी समझें।

२. देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १, अध्याय १।

३. देखो हमारी "वैदिक स्वरमीमांसा" का 'वेदार्थ में स्वरशास्त्र की आवश्यकता' नामक अध्याय ४।

उदात्त आदि स्वरों का शब्दार्थ के साथ सम्बन्ध—उदात्त आदि स्वरों का शब्दार्थ के साथ जो सम्बन्ध है, वाक्य में पदों के आगे पीछे प्रयोग करने से स्वरों में जो परिवर्तन होता है तथा उस स्वरपरिवर्तन से अर्थ पर जो सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है, इन सब की मीमांसा हमने 'वैदिक-स्वरमीमांसा' ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में विस्तार से की है। इसलिये यहां इन विषयों की चर्चा न करके उन्हें सिद्धवत् स्वीकार कर अगला प्रसङ्ग लिखा जाता है।

स्वर और छन्द का पारस्परिक सम्बन्ध—स्वरशास्त्र का सामान्य वाक्यरचना के साथ जिस प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसा ही उसका छन्दोरचना के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने इस संबन्ध पर भी कुछ प्रकाश डाला है। यथा—

१—पाणिनि का एक सूत्र है—

अनुदात्तं सर्वमपादादौ। अ० ८।१।१८॥

अर्थात्—यहां से आगे [५६ सूत्रों में] 'अनुदात्त' 'सर्व' और 'अपादादि में' इन पदों का अधिकार है।

इस का यह अभिप्राय है कि अगले ५६ सूत्रों में जिस कार्य का विधान होगा, वह पद से परे होगा, और वह सारा अनुदात्त होगा, यदि वह पद पाद=चरण के आदि में न हो। अर्थात् चरण के आदि में होने पर उसमें उक्त कार्य न होगा। इस नियम के अनुसार आ त्वा कण्वा अहूषत (ऋ० १।१४।२) में पद से परे श्रूयमाण अहूषत क्रिया तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) नियम से सारी अनुदात्त हो गई, परन्तु इन्द्रं वा विश्वतस्परि, हवामहे जनेभ्यः (ऋ० १।७।१०) में पाद के आरम्भ में होने से हवामहे क्रिया सारी अनुदात्त नहीं हुई।

२—पाणिनि ने दूसरा नियम इस प्रकार दर्शाया है—

प्रसमुपोदः प्रादपूरणे। अ० ८।१।६॥

अर्थात्—जहां द्विर्वचन (द्वित्व) करने से पाद की पूर्ति हो, वहां प्र, सम्, उप, उत् इसको द्वित्व होता है [और द्वितीय (परला) अनुदात्त हो जाता है]।

३—स्वरशास्त्र का एक और नियम है—

यथेति पादान्ते। फिट् सूत्र ४।१७॥

अर्थात्—'यथा' पद जब पाद के अन्त में प्रयुक्त होता है, तब वह [सारा] अनुदात्त होता है। यथा—भ्राजन्तो अग्नयो यथा (ऋ० १।५०।३)।

जब 'यथा' पद पाद के आदि अथवा मध्य में प्रयुक्त होता है, तब वह आद्युदात्त होता है। यथा—यथा नो अदितिः करत् (ऋ० १।४३।२); देवयन्तो यथा मतिम् (ऋ० १।६।६)।

इन नियमों से स्पष्ट है कि स्वरशास्त्र का छन्दोरचना के साथ साक्षात् सम्बन्ध है।

अब हम छन्दोरचना का अर्थ के साथ क्या सम्बन्ध है,इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

छन्दोरचना का अर्थ के साथ सम्बन्ध

इस ग्रन्थ में संस्कृतभाषा की छन्दोरचना के विषय में लिखा जा रहा है। संस्कृतभाषा अपने व्यवहारकाल में उदात्त आदि स्वरों से युक्त थी। उसमें पदक्रम-विन्यास के भेद से पद के स्वरों में भेद होता था, और स्वरभेद से अर्थभेद। इसलिये वक्ता अपने विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये तदनुकूल विशिष्ट पद-क्रम का उपयोग करता था। यह नियम जहाँ लोक-व्यवहार में उपयुक्त होता था,वहां ग्रन्थलेखन में भी। चाहे वह ग्रन्थ गद्यबद्ध हो चाहे पद्यबद्ध, प्रयुक्त होता था। इसलिये रामायण, महाभारत आदि में छन्दों के ज्ञान से उनके अर्थवैशिष्ट्य पर प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिये। परन्तु रामायण महाभारत आदि काव्यग्रन्थों में सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते। अतः लौकिक छन्दों के ज्ञान से इन काव्यों के श्लोकार्थज्ञान में क्या सहायता मिलती है, अथवा उससे अर्थ में क्या विशेषता प्रतीत होती है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन करना कठिन है? इसलिये हम प्रथम उन वैदिक काव्यों के उदाहरण देंगे, जिसमें स्वरचिह्न इस समय भी उपलब्ध हैं।

वैदिक छन्दोरचना—वेद की छन्दोरचना अर्थ की दृष्टि से है। इसमें हम प्राचीन आचार्यों के कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—जैमिनि ने अपने मीमांसा-दर्शन में ऋक्=पद्यबद्ध मन्त्र का लक्षण करते हुए लिखा है—

तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। मी० २।१।३५।।

अर्थात् उन [मन्त्रों] में ऋक् वह है, जिनमें अर्थ के अनुरोध से पाद की व्यवस्था हो। यथा—अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१)।

इस पर शबरस्वामी लिखता है—

यद्यर्थवशेन इत्युच्यते, यत्र वृत्तवशेन तत्र न प्राप्नोति—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः (ऋ० १।१।२)।

अर्थात्—यदि [ऋग्लक्षण में] अर्थ के वश से पादव्यवस्था कहते हो, तो जहां छन्दोवश से पादव्यवस्था होगी, वहां ऋग्लक्षण उपपन्न नहीं होगा। जैसे—अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः (ऋ० १।१।२)।

कुमारिल भट्ट को व्याख्या—शाबरभाष्य की व्याख्या करता हुआ भट्ट कुमारिल लिखता है—

"क्रियानुपादानात् 'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यपर्यवसितेऽर्थे वृत्तवशेन पादव्यवस्था। ननु च 'अग्निमीळे' इत्यपि समस्ताया ऋच एवार्थवत्त्वान्नैव प्रतिपादमर्थः पर्यवस्यति। इति न वाच्यम्—'अर्थवशेन पादव्यवस्था' इति। कथं न वाच्यम्? 'अग्निमीळे' इति तावत्प्रत्यक्षं समाप्तोऽर्थो दृश्यते। परयोः पादयोरसमाप्त इति चेन्न, आख्यातानुषङ्गेण समाप्तेः सिद्धत्वात्। तस्मात् साधूक्तम्—इहार्थवशेनेति।"[1]

अर्थात्—'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः' पाद में क्रिया का उपादान न होने से अर्थ के परिसमाप्त न होने पर भी छन्दोवश पादव्यवस्था है।

प्रश्न—'अग्निमीळे' इसमें भी समस्त ऋचा के अर्थवान् होने से प्रतिपाद अर्थ समाप्त नहीं होता। अतः [सूत्र में] 'अर्थवश पादव्यवस्था' नहीं कहना चाहिये। [उत्तर] क्यों नहीं कहना चाहिये? जबकि 'अग्निमीळे' में [क्रिया का निर्देश होने से] प्रत्यक्ष अर्थ की समाप्ति दिखाई पड़ती है। अगले दोनों पादों में [क्रिया का निर्देश न होने से] अर्थ समाप्त नहीं हुआ, यह भी कहना ठीक नहीं। आख्यात [ईळे] के अनुषङ्ग से अर्थ समाप्त हो जायेगा। इसलिये ठीक कहा है—'अर्थवशेन'।

शबर और कुमारिल की भ्रान्ति—शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट के पूर्व उद्धृत वचनों से स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य 'अग्निमीळे पुरोहितम्' पाद में क्रिया के पठित होने से अवान्तर अर्थ की परिसमाप्ति स्वीकार करते हैं, और उत्तर पादों में इसी 'ईळे' क्रिया का अनुषङ्ग [सम्बन्ध] मानकर उनमें भी अर्थ की परिसमाप्ति स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' में क्रिया का योग न होने से इसमें अवान्तर अर्थ की समाप्ति न मानकर इसमें वृत्तवश पादव्यवस्था मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में सूत्र में पठित 'अर्थवशेन' पद प्रायिक है।

वस्तुतः यहां शबर और कुमारिल दोनों ही भ्रान्त हुए हैं। उन्हें अपने शास्त्रीय सिद्धान्त का भी ध्यान नहीं रहा। मीमांसाशास्त्र का सिद्धान्त है कि जहां अर्थपरिसमाप्ति न होती हो, वहां अनुषङ्ग अथवा वाक्यशेष के सम्बन्ध से

प्रतिवाक्य अर्थपरिसमाप्ति समझ लेनी चाहिये । अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् (मी० २।१।४८) सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी ने स्वयं लिखा है—

"अपि साकांक्षस्य सन्निधौ परस्तात् पुरस्ताद्वा परिपूरणसमर्थः श्रूयमाणो वाक्यशेषो भवति ।"

अर्थात्—साकांक्ष पदसमुदाय के समीप में परे अथवा पूर्व में श्रूयमाण अर्थपूरक वाक्यशेष होता है ।

इस नियम के अनुसार 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' साकांक्ष पाद के समीप में उत्तर पाद में श्रूयमाण अर्थपूरक ईड्यः पद का सम्बन्ध जोड़ने से 'अग्निः-पूर्वेभिर्ऋषिभिः' पाद का भी अवान्तर अर्थ परिसमाप्त हो जाता है । इस लिये यहां भी अर्थवश पादव्यवस्था बन जाती है । कभी-कभी तृतीय और चतुर्थ पाद में श्रूयमाण क्रिया से भी पूर्व पादों को निराकांक्ष किया जाता है ।

यदि उत्तरपाद-पठित क्रिया का पूर्व साकांक्ष समुदाय के साथ सम्बन्ध न जोड़ा जाये, तो माध्यन्दिन संहिता अ० ३० कण्डिका ५ के ब्रह्मणे ब्राह्मणम् से लेकर कण्डिका २१ के रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम् पर्यन्त अनेक साकांक्ष पद-समुदाय निरर्थक हो जायेंगे, क्योंकि इनमें कहीं क्रिया पठित नहीं है । इन्हें निराकांक्ष करनेवाली आलभते क्रिया २२ वीं कण्डिका में पढ़ी है ।

इस मीमांसा से स्पष्ट है कि जैमिनि के लक्षण में शबर और कुमारिल आदि ने जो दोष दर्शाया है, वह उन्हीं के सिद्धान्त के विपरीत है । जैमिनि का लक्षण सर्वथा युक्त है । तदनुसार पादबद्ध मन्त्रों में अर्थवश पादव्यवस्था होती है, यह सिद्धान्त सर्वथा युक्त है ।

२—'अग्निः पूर्वेभिः' की अर्थानुसारी पाद-व्यवस्था—वस्तुतः जैमिनि का ऋचा का लक्षण 'जहां पर अर्थवश पादव्यवस्था हो' सर्वथा दोषरहित है । यदि कहीं हम अर्थानुसारी पादव्यवस्था नहीं दर्शा सकते, तो वह हमारा दोष है, लक्षण का नहीं ।

पादव्यवस्था के विषय में निदानसूत्र में पतञ्जलि ने एक आवश्यक संकेत किया है । वह है—'कितने अक्षरों का पाद कितने अक्षरों तक घट जाता है, और कितने अक्षरों तक बढ़ जाता है ।'[1]

'अग्निः पूर्वेभिः' गायत्री छन्द की ऋचा है । पतञ्जलि के मतानुसार गायत्री छन्द का आठ अक्षरों का पाद पांच वा चार अक्षरों तक न्यून हो

१. देखिये—निदानसूत्र पृष्ठ १,२ ।

सकता है, और दश अक्षरों तक बढ़ सकता है।[1] इस नियम के अनुसार (ऋ० १।१।२)—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ।।

मन्त्र में अर्थवश पादव्यवस्था मानने पर प्रथम पाद 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः' दश अक्षरों का होगा, और दूसरा पाद 'नूतनैरुत' पांच अक्षरों का। इसी प्रकार जहां भी सामान्य पादव्यवस्था के अनुसार अर्थ न बनता हो, वहां सर्वत्र पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट पादाक्षरों के विकर्ष और ह्रास के नियमों को ध्यान में रखते हुए अर्थानुसारी पादव्यवस्था बना लेनी चाहिये। सामान्य पादव्यवस्था के अनुसार अर्थ का नाश नहीं करना चाहिये।

इस विषय की मीमांसा हम आगे विस्तार से करेंगे। वस्तुतः सर्वानुक्रमणीकार द्वारा किया गया छन्दोनिर्देश गौण है। उस पर आश्रित रहना महती भूल है।[2]

३—निदानसूत्रव्याख्याता तातप्रसाद—निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति का व्याख्याता तातप्रसाद 'अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति । विश्वेषां हित इति' सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

"नन्वत्र शौनकेन—

उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः ।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति ।।
(ऋक्प्राति० १६।२४)

पादकल्पनेन द्वितीयपादस्य सप्ताक्षरत्वावगमात् कथमस्य पञ्चाक्षरत्वनिर्णयः ? उच्यते—'होता' इति पदस्य पूर्वत्रान्वयमभ्युगम्य द्वितीयः पादः पञ्चाक्षर इत्याह । आचार्यशौनकस्तु 'होता' इत्यस्य विश्वेषामित्यत्रान्वयमभ्युपेत्य सप्ताक्षर इत्यवोचत् । 'अर्थवशेन पादव्यवस्था' इति न्यायविदः ।"

प्रश्न—'शौनक ने क्रमशः छह सात और आठ अक्षरोंवाले पाद जिसमें हों, उसे 'वर्धमाना गायत्री' कहा है। जैसे—त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने।। (ऋ० ६।१६।१)। यहाँ निदानसूत्र में द्वितीय पाद को पञ्चाक्षर कैसे कहा ?

---

१. 'अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति……। आचतुरक्षरताया इत्येके । आदशाक्षरताया अभिक्रामति ।' निदानसूत्र पृष्ठ १ ।

२. इसकी विशद मीमांसा आगे १८ वें अध्याय में की जायेगी ।

उत्तर—'होता' पद का पूर्व के साथ अन्वय मानकर पतञ्जलि ने द्वितीय पाद को पञ्चाक्षर कहा है। आचार्य शौनक ने 'होता' का 'विश्वेषां' के साथ अन्वय मानकर इसे सप्ताक्षर पाद कहा है। अर्थ के अनुरोध से पादव्यवस्था होती है, यह न्यायविदों (मीमांसकों) का सिद्धान्त है"।

इस विवेचना से भी स्पष्ट है कि छन्दोविचिति के व्याख्याता भी ऋङ्-मन्त्रों में अर्थ के अनुरोध से पादव्यवस्था स्वीकार करते हैं।

४ ऋग्भाष्यकार वेङ्कट माधव भी लिखता है—

पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः। छन्दोनुक्रमणी ८।१४॥

अर्थात् —पाद-पाद में समाप्त होते हैं प्रायः अवान्तर अर्थ।

यहां 'प्रायः' पद के निर्देश से विदित होता है कि वेङ्कट माधव कहीं-कहीं वृत्तवश भी पादव्यवस्था मानता है।[1] सम्भव है वेङ्कट पर शबर तथा कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों का प्रभाव हो।

५—माधव के नाम से मुद्रित[2] आख्यातानुक्रमणी के उपोद्घात में छन्दोऽनुक्रमणी का[3] वर्णन करते हुये लिखा है—

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः।
छन्दोऽनुक्रमणी तस्माद् ग्राह्या सूक्ष्मेक्षिकापरैः[4]॥

अर्थात्—ऋचाओं के प्रतिपाद कुछ अवान्तर अर्थ होते हैं। उनका बुद्धि से प्रकल्पित समुदायार्थ ही ऋगर्थ होता है। इसलिये सूक्ष्मार्थ चाहनेवालों को छन्दोऽनुक्रमणी का आश्रय लेना चाहिये।

इसी अभिप्राय का निर्देश इसी प्रकरण में अन्यत्र भी किया है। यथा—

---

१. वेङ्कट माधव ऋग्वेद के बृहद्भाष्य १।२५।१९ में इसी मत को स्वीकार करता है—'तेनार्थवशात् पादव्यवस्था भूयसीत्येतावत्।'

२. इसका रचयिता भी वेङ्कट माधव ही है, ऐसा हमारा विचार है। डा० कुन्हनराज के मत में यह माधव वेङ्कट माधव से भिन्न है।

३. यह छन्दोऽनुक्रमणी वेङ्कट माधव के लघुभाष्य अष्टक ८ से संगृहीत छन्दोऽनुक्रमणी से भिन्न है। यह अभी अनुपलब्ध है।

४. मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित (ग्रन्थसंख्या २) ऋग्वेदानुक्रमणी के परिशिष्ट में, पृष्ठ *cix* (१०९)।

ऋगर्थः प्रतिपादं च कश्चित् कश्चिदवान्तरः ।
तेषामवान्तरार्थानां सिद्धो मन्त्रार्थं इष्यते ॥[1]

अर्थात्—ऋक् का अर्थ कुछ है, प्रतिपाद अवान्तर अर्थ कुछ होता है। उन अवान्तर अर्थों का सिद्ध अर्थ मन्त्रार्थ माना जाता है।

६—पाणिनि का एक सूत्र उद्धृत कर चुके हैं—अनुदात्तं सर्वमपादादौ (अ० ८।१।१८)। इस सूत्र के अनुसार जब क्रियापद पाद के आरम्भ में प्रयुक्त होता है, तब वह उदात्त स्वरवाला होता है। और मध्य में अथवा अन्त में प्रयुज्यमान अनुदात्त।

उदात्त और अनुदात्त स्वर से अर्थभेद—हम अपने 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' ग्रन्थ में पृष्ठ ५३ पर भले प्रकार दर्शा चुके हैं कि वाक्य में जो पद उदात्तवान् होता है, उसका अर्थ प्रधान होता है, और अनुदात्त का गौण।

तदनुसार—

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः ।
देवेभिरग्न आ गहि । ऋ० १।१४।२॥

मन्त्र में प्रथम और तृतीय पाद की क्रियायें अनुदात्त होने से इनका अर्थ गौण होगा, और द्वितीय पाद के आरम्भ में श्रूयमाण गृणन्ति' क्रिया के उदात्त-वान् होने से इसका अर्थ प्रधान होगा। अतः इस ऋचा का अर्थ होगा—

'सब ओर से तुझे कण्व लोग बुलाते है स्तुति करते हैं। हे विप्र! तुम्हारी बुद्धियों को, देवों के साथ हे अग्ने! आओ।'

इस मन्त्र में तीन क्रियायें हैं बुलाना, स्तुति करना, और आना। इन तीनों क्रियाओं में स्तुति करना मुख्य है। इसी के आधीन अग्नि को बुलाना और उसका आना सम्भव है। अतः ये दोनों गृणन्ति की दृष्टि से गौण हैं। इस कारण अहूषत और गहि क्रियायें अनुदात्त हैं, और गृणन्ति उदात्त।

७—फिट्सूत्रकार का यथेति पादान्ते (४।१७) सूत्र पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। इस सूत्र के द्वारा पाद के अन्त में वर्तमान 'यथा' का अनुदात्तत्व दर्शाया है, और अन्यत्र (पाद के आदि वा मध्य में) निपाता आद्युदात्ताः (४।१२) से 'यथा' आद्युदात्त होता है।

जहां यथा पद उदात्त होता है, वहां उपमा की प्रधानता और उपमेय की गौणता अर्थात् श्रेष्ठोपमा जानी जाती है। तथा जहां यथा पद अनुदात्त होता

---

१. पूर्व पृष्ठ ७८ की टि० ४ में निर्दिष्ट ग्रन्थ, पृष्ठ *cvii* (१०७)।

है, वहाँ उपमा की गौणता और उपमेय की प्रधानता=उत्कृष्टता अर्थात् हीनोपमा जानी जाती है। यथा—

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ ऋ० ५।७८।८॥

अर्थात्—जैसे वायु [वेग से गति करता है], जैसे वन [वेग से काँपता है], जैसे समुद्र [वेग से] गति करता है, वैसे तू हे दशमास के गर्भ! साथ गति कर (=बाहर निकल) जरायु के।

यहाँ उपमेय दशमास्य गर्भ का कम्पन है, उपमा वात वन और समुद्र के कम्पन से दी गई है। अतः यहाँ उपमेय से उपमा की श्रेष्ठता=प्रधानता व्यक्त है।

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ ऋ० १।५०।३॥

अर्थात्—देखती हैं [वैसे ही] इस [सूर्य] की किरणें, विविध रूप से व्याप्त होनेवाली लोगों को लक्षित करके प्रकाशित हुई अग्नियां जैसे।

यहां उपमेय सूर्य है, उपमा प्रकाशमान अग्नियों से दी है। स्पष्ट ही यहाँ उपमेय से उपमान की गौणता=हीनता है।

वैदिक उपमा सम्बन्धी तीन रहस्य—उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वैदिक उपमाओं के विषय में सूक्ष्मेक्षिका से विचार करने पर तीन महत्त्व-पूर्ण रहस्यों का उद्घाटन होता है। यथा—

क—जहाँ श्रेष्ठोपमा होती है, वहाँ उपमावाचक 'यथा' शब्द आद्युदात्त होता है। और जहां हीनोपमा होती है वहाँ 'यथा' पद अनुदात्त होता है।[1]

ख—जहाँ श्रेष्ठोपमा होती है वहाँ 'यथा' पद का प्रयोग उपमान से पूर्व होता है, और जहाँ हीनोपमा होती है, वहां यथा का प्रयोग उपमान के अन्त में होता है।

---

१. वेङ्कट माधव ऋग्वेद १।२५।१ के बृहद्भाष्य में उदात्त और अनुदात्त दोनों प्रकार के 'यथा' पदों के विषय में लिखता है—"तत्र यथेत्यस्यानुदात्तत्वमुपमार्थस्य भवति, प्रकारवचनस्योदात्तत्वं वक्तव्यमिति स्वरानुक्रमण्यामुक्तम्" (अडियार, पृष्ठ १६८, १६९)। अर्थात् "उपमावाची 'यथा' अनुदात्त होता है, और प्रकारवाची उदात्त"। माधव का यह कथन ठीक नहीं है। यास्क ने निरुक्त ३।१५ में उदात्त 'यथा' पद को भी उपमार्थक माना है। इसलिये हमारी व्याख्या ठीक है।

ग—जहां श्रेष्ठोपमा होती है, वहां पहले उपमान का निर्देश होता है, पीछे उपमेय का। परन्तु जहाँ हीनोपमा होती है, वहाँ पहले उपमेय का प्रयोग होता है, तत्पश्चात् उपमान का।

ऋचाओं के प्रतिपाद अवान्तर अर्थ, और पाणिनि तथा फिट्सूत्र-कार—आचार्य पाणिनि तथा फिट्सूत्रकार द्वारा पाद के आदि मध्य और अन्त में वर्तमान पदों के विविध स्वरों का निर्देश करने से व्यक्त है कि ये दोनों आचार्य स्वर-शास्त्र के अनुसार पाद-पाद का पृथक् अवान्तर अर्थ स्वीकार करते थे। अन्यथा उनका विविध स्थितिभेद से पदों के उदात्तत्व और अनुदात्तत्व का विधान निरर्थक हो जाता है।

इन सात प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऋक्=पादबद्ध मन्त्रों में प्रतिपाद अवान्तर अर्थ करना चाहिए, यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है। पूरे मन्त्र का एक साथ अन्वय से अर्थ नहीं करना चाहिए। प्रतिपाद अवान्तर अर्थ करने के लिये छन्दोज्ञान होना अत्यावश्यक है। बिना छन्दोज्ञान के पादविभाग का ज्ञान नहीं होगा, और पादविभाग के ज्ञान के बिना अवान्तर अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इसलिये वेदार्थ के सूक्ष्म ज्ञान के लिये छन्दोज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

८—निरुक्तकार यास्क मुनि ने, अनिर्दिष्ट देवतावाले मन्त्रों में दैवत ज्ञान कैसे करना चाहिये, इसके विषय में लिखकर देवों के भक्तिसाहचर्य का विधान किया है। तदनुसार अग्नि देवता का गायत्री, इन्द्र का त्रिष्टुप, और आदित्य का जगती छन्द के साथ सम्बन्ध दर्शाया है।

यास्क के इस भक्ति-साहचर्य का यह अभिप्राय है कि यदि किसी मन्त्र का देवता स्पष्ट ज्ञात न होता हो, तो इस भक्ति-साहचर्य के अनुसार दैवत ज्ञान करना चाहिये। तदनुसार अनिर्दिष्ट-देवताक गायत्री छन्दवाले मन्त्र का अग्नि, त्रिष्टुप् छन्दवाले मन्त्र का इन्द्र, और जगती छन्दवाले मन्त्र का आदित्य देवता समझना चाहिये।

दैवत-ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का ज्ञान नहीं होता, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है।[1] इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क छन्दोज्ञान को वेदार्थ-ज्ञान में उपयोगी मानता है।

९—पिङ्गल, शौनक और गार्ग्य ने अपने-अपने ग्रन्थों में गायत्री आदि

---

१. 'वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः। दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति'। बृहद्देवता १।२॥

छन्दों के अग्नि आदि देवताओं का निर्देश किया है[1]। आचार्य पिङ्गल ने स्पष्ट शब्दों में सन्दिह्यमान छन्दों के निश्चय के लिये दैवत ज्ञान का सहारा लिया है।[2]

प्रमाण ५ और ६ के मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि छन्द और देवता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यास्क ने छन्दोज्ञान को अनिर्दिष्टदेवताक मन्त्र के दैवत-ज्ञान में साधन कहा; और पिङ्गल ने सन्दिह्यमानछन्दस्क मन्त्र के छन्दोनिर्णय में देवताज्ञान को साधन माना।

१०—मध्वमतानुयायी जयतीर्थ ऋग्वेद के मध्वभाष्य की टीका में वेदार्थ में छन्दोज्ञान को उपयोगी कहकर लिखता है—

एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति। पत्रा १३ क।

अर्थात्—इस विवेचना के द्वारा किसी के 'छन्दोज्ञान वेदार्थ में उपयोगी नहीं है' इस मत का निराकरण हो गया।

यद्यपि जयतीर्थ ने स्कन्द के मत को अशुद्ध बताया है, पुनरपि वह स्वयं वेदार्थ में छन्दोज्ञान की उपयोगिता दर्शाने में सफल नहीं हो सका। इतना होने पर भी जयतीर्थ के लेख से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वह वेदार्थ में छन्दोज्ञान को आवश्यक समझता है।

११—ब्राह्मण आदि प्राचीन वाङ्मय में एक अर्थवादवचन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति, यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्'।[3]

---

१. गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पंक्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र, जगती का विश्वेदेव। पिङ्गल० ३।६३। शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य १७।७।८ में पंक्ति का वसु देवता माना है। उपनिदानसूत्रकार गार्ग्य ने वसु और मित्रावरुण दोनों को। छन्दों के देवताविषय में ऋ० १०।१०३।४,५ भी देखने योग्य हैं।

२. 'आदितः सन्दिग्धे, देवतादितश्च'। छन्दःसूत्र ३।६१,६२॥

३. आर्षेय ब्राह्मण १।१० में उद्धृत। दुर्गाचार्य ने भी निरुक्तवृत्ति के आरम्भ में इसका पूर्वार्ध उद्धृत किया है।

इसी अभिप्राय का एक वचन कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में उद्घृत किया है।

इस वचन में यजन-यजन तथा अध्यापन कर्म में मन्त्रों के छन्दोज्ञान की प्रशंसा की है। यह छन्दोज्ञान यदि अर्थज्ञान में सहायक हो, तब तो यह दृष्टार्थक हो सकता है। अन्यथा छन्दोज्ञान को अदृष्टार्थ मानना होगा। मीमांसकों का सिद्धान्त है कि—दृष्टार्थत्वे सत्यदृष्टकल्पनाऽन्याय्या। अर्थात्—किसी विधि का दृष्ट फल ज्ञात हो, तब वहां अदृष्ट की कल्पना करना युक्त नहीं है। अतः छन्दोज्ञान से मन्त्रार्थज्ञान में सहायता उपलब्ध होने पर उसे अदृष्टार्थ मानना अनुचित है।

१२—वेद के कल्प, व्याकरण, निरुक्त, और ज्योतिष[1] ये चार अङ्ग वेदार्थ में साक्षात् उपयोगी हैं। शिक्षा भी वर्ण और स्वर के यथार्थ उच्चारण द्वारा अभिप्रेत अर्थज्ञान में सहायक होती है। इस प्रकार ५ वेदांग वेदार्थ में उपयोगी हैं। उनके साथ वेदाङ्गों में परिगणित छन्दःशास्त्र का भी वेदार्थ में उपयोगी होना आवश्यक है। अन्यथा इसकी वेदार्थ में साक्षात् उपकारक षडङ्गों में गणना करना निरर्थक है।

इन १२ प्रमाणों से स्पष्ट है कि छन्दोज्ञान वेदार्थज्ञान में परम उपयोगी है।[2] उसके बिना अनेक स्थानों पर मन्त्र का सूक्ष्म अभिप्राय अस्पष्ट रहता है।

स्वरशास्त्र और छन्दःशास्त्र के वेदार्थ में उपयोग का परिणाम—स्वरशास्त्र और छन्दःशास्त्र का परस्पर जो अविनाभाव सम्बन्ध है, उसका कुछ निदर्शन हम पूर्व करा चुके। तदनुसार स्वरशास्त्र और छन्दःशास्त्र दोनों मिलकर वेदार्थ में सहायक होते हैं, यह हमारी पूर्व विवेचना से स्पष्ट है। इन दोनों के सम्मिलित उपयोग का वेदार्थ के ऊपर जो साक्षात् प्रभाव पड़ता है, उससे स्पष्ट है कि मन्त्र का अर्थ मन्त्रपद-क्रम के अनुसार ही करना चाहिये। और प्रतिपाद अवान्तर अर्थ पृथक्-पृथक् दर्शाना चाहिये। मन्त्र का आधुनिक लौकिक काव्यों के समान अन्वयपूर्वक एक अर्थ नहीं दर्शाना चाहिये। ऐसा करने से मन्त्रार्थ में मन्त्रपद-क्रम से जो सूक्ष्मता व्यक्त होनी है,

---

१. इन्दौर के प्रसिद्ध ज्योतिषी स्वर्गीय पं० दीनानाथ जी चुलेट ज्योतिष शास्त्र को वेदार्थ में परम उपयोगी मानते थे। उन्होंने हमें दो मन्त्रों की ज्योतिषशास्त्रानुसारी व्याख्या समझायी थी।

२. वेद के आधिदैविक अर्थ में छन्दोज्ञान से महती सहायता मिलती है। द्र०—परिशिष्ट १—'आधिदैविक मन्त्रार्थ के ज्ञान में छन्दों की सहायता'।

उसका लोप हो जाता है, और कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। उदाहरण के लिये हम यहाँ पूर्व उद्धृत (ऋ० १।१४।२) मन्त्र पुनः उद्धृत करते हैं—

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः। देवेभिरग्न आ गहि॥

इस मन्त्र का अर्थ होना चाहिये—'सब ओर से तुझे कण्व बुलाते हैं, स्तुति करते हैं, हे विप्र! तुम्हारी बुद्धियों की, देवों के साथ हे अग्ने! आओ।'

अब इसका अन्वयपूर्वक अर्थ करिये—'हे विप्र अग्ने! मेधावी कण्व तुझे सब ओर से बुलाते हैं, तुम्हारी बुद्धियों की स्तुति करते हैं, तुम देवों के साथ आओ'।

इस अर्थ में तीनों पादों के आरम्भ में पठित आ गृणन्ति और देवेभिः के मुख्य अर्थ का लोप हो गया। प्रथम पाद के आरम्भ में आ पद के पाठ से आ=समन्तात् सब ओर से अर्थ को प्रधानता देने का जो अभिप्राय था, वह उसके अन्त में जोड़ने पर गौण हो गया। द्वितीय पाद के आरम्भ में गृणन्ति पद उदात्त पढ़ा है। उससे स्तुति की प्रधानता व्यक्त करनी थी—'यतः हम स्तुति करते हैं और बुलाते हैं, इसलिये तुम आओ'। यह विशेषता 'तुम्हारी स्तुति करते हैं' अर्थ में लुप्त हो गई। इसी प्रकार तृतीय पाद के आरम्भ में देवेभिः का पाठ होने से व्यक्त करना है—'देवों के साथ आओ, अकेले मत आओ'। यह भाव भी 'तुम देवों के साथ आओ' में शिथिल हो गया। जैसे कोई कहे—'त्वमागच्छ पुत्रेण सह' अर्थात् तू पुत्र के साथ आ। यहाँ पुत्र का आना वक्ता के लिये प्रधान नहीं है। वक्ता तो त्वं-वाच्य व्यक्ति को प्रधानतया बुलाना चाहता है, पुत्र को साथ लावे तो और अच्छा। इसी प्रकार देवेभिरग्न आ गहि का 'हे अग्ने त्वं देवेभिः सह आगच्छ' अर्थ करने पर अग्नि का आना मुख्य प्रतीत होता है, देवों का गौण। यदि देवों को न भी लाये, तो कोई हानि नहीं। परन्तु देवेभिः का प्रथम अर्थ करने से स्पष्ट होता है कि देवों के साथ अग्नि का आना अभिप्रेत है, उससे विरहित का नहीं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। विस्तारभय से यहां अधिक मन्त्रों को उद्धृत करना सम्भव नहीं।

मन्त्रपदक्रमानुसारी अर्थ, और प्राचीन आचार्य—ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्तशास्त्र में जहाँ भी मन्त्रार्थ दर्शाया है, वहाँ सर्वत्र मन्त्रपद-क्रम के अनुसार ही मन्त्रार्थ किया है। उनमें कहीं भी अन्वयपूर्वक किया गया मन्त्रार्थ उपलब्ध नहीं होता। हमारी समझ में इसका एकमात्र कारण यह है कि इन ग्रन्थों के प्रवक्ता आचार्यों के काल में संस्कृत लोकभाषा थी, और उसमें उदात्तादि स्वरों का भी यथावत् प्रयोग होता था। अत एव पदक्रम-विन्यास के

परिवर्तन से स्वर के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है, और स्वरभेद से अर्थ में क्या सूक्ष्म भेद हो जाता है, इस विषय से वे भले प्रकार विज्ञ थे। अत एव उन्होंने मन्त्रपद-क्रम का भङ्ग करके मन्त्रार्थ करने का दुःसाहस नहीं किया।

सायण आदि के काल में संस्कृत लोकभाषा नहीं थी, उसमें पदक्रम के परिवर्तन से अर्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस सूक्ष्म तत्त्व का उन्हें ज्ञान नहीं था। लौकिक काव्यनिषेवण से उनकी बुद्धि विकृत हो गई थी। इसलिये उन्होंने वेद की व्याख्या भी लौकिक काव्य के समान अन्वयानुसारी कर दी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की अनुपम सूझ—स्वरशास्त्र की उपेक्षा करके, मन्त्रपदक्रमानुसारी सूक्ष्म अर्थ को तिलाञ्जलि देकर सायण आदि ने जो वेद के साथ अन्याय किया था, उसे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी अभूत-पूर्व प्रतिभा से जान लिया। और उन्होंने प्राचीन आचार्यों के समान मन्त्रपद-क्रमानुसारी पदार्थ नामक विस्तृत भाष्य लिखा। और वर्त्तमानकालिक साधारण जनों के लिये, जो विना अन्वय के पृथक् अर्थज्ञान में असमर्थ हैं, उनके लिये अन्वयानुसारी संक्षिप्त एकदेशी भाष्य पृथक् रचा। इस प्रकार उन्होंने मन्त्र-पदक्रमानुसारी भाष्य की पृथक् रचना करके प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखा, और साधारण लौकिक जनों के लाभार्थ प्रचलित अन्वयानुसारी अर्थ भी दर्शा दिया।[1]

रामायण, महाभारत आदि प्राचीन काव्य—हम पूर्व लिख चुके हैं कि इन ग्रन्थों की जिस काल में रचना हुई थी, उस काल में सस्वर संस्कृत-भाषा लोकव्यवहार की भाषा थी। अतः इनका भी उसी प्रकार अर्थ करना चाहिये, जैसे हमने ऊपर मन्त्रों में दर्शाया है। अर्थात इनका अर्थ भी श्लोक-पदक्रमानुसार ही करना चाहिये। ऐसा करने पर ही इनका वास्तविक कवि-सम्मत अर्थ अक्षुण्ण रह सकता है, अन्यथा नहीं।

कुरान का आयतपदानुक्रम अनुवाद—कुरान के जो प्राचीन प्रामा-णिक अनुवाद हैं, उसमें आयत के पदानुसार ही अनुवाद उपलब्ध होता है।

१—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में प्रतिमन्त्र चार प्रकार का अर्थ किया जाता है। परमविज्ञ के लिए मन्त्रसंगति रूप '...इत्युपदिश्यते' अंश (मन्त्र से पूर्व लिखित); सूक्ष्मवेदार्थ बुभुत्सु के लिये 'पदार्थ-भाष्य'; साधा-रण अर्थबुभुत्सु के लिए 'अन्वयविशिष्ट'; और साधारण जन के लिए 'भावार्थ-रूप'। देखिए—वेदवाणी वर्ष ९ अंक ८ में हमारा लेख।

उनके यहाँ प्राचीन वैदिक परम्परा का यह अंश कैसे सुरक्षित रहा, यह आश्चर्य की बात है !

क्या पुरानी अरबी सस्वर थी ? —अरबी भाषा में संस्कृत के समान तीन वचन हैं । उसमें अनेक पद अभी तक वैसे ही सुरक्षित हैं, जैसे वे वेद में मिलते हैं ।[1] कुरान की अनुवादशैली भी प्राचीन मन्त्रार्थशैली से मिलती है। इन सब से सन्देह होता है कि संस्कृत से साक्षात् विकृत प्राचीन अरबी में उदात्त आदि स्वरों का सद्भाव रहा होगा, और उसी के कारण कुरान की अनुवाद-शैली सुरक्षित रही हो । अस्तु, यह एक महत्त्वपूर्ण विवेचनीय विषय है । इस पर अति गम्भीरता से विचार होना चाहिये ।

इस प्रकार छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में साक्षाद् उपयोगिता का संक्षेप से निदर्शन कराके अगले अध्याय में छन्दों के सामान्य भेदों का वर्णन किया जायेगा ॥

—०—

१. 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ९१, ९२ संस्करण २ ।

षष्ठ अध्याय

छन्दों के सामान्य भेद

छन्द का लक्षण—प्रथम अध्याय के अन्त में हम छन्द का लक्षण लिख चुके हैं ।[1] तदनुसार 'छन्द' उस को कहते हैं, जिसका नाम श्रवण करते ही मन्त्र अथवा श्लोक[2] की यथार्थ अक्षरसंख्या का बोध हो जाये ।[3] इस लक्षण के अनुसार जिस छन्दोनाम के श्रवण से मन्त्राक्षरों की यथावत् संख्या का बोध न हो, वह छन्द:संज्ञा गौणी होगी । वैदिक वाङ्मय में उभय प्रकार की छन्द:-संज्ञाओं का प्रयोग उपलब्ध होता है । गौणी छन्द:संज्ञा का निर्देश क्यों किया जाता है? इसकी मीमांसा आगे की जाएगी ।

छन्दों के दो भेद—संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त छन्दों के दो प्रधान भेद हैं—वैदिक और लौकिक। इस ग्रन्थ में केवल वैदिक छन्दों की मीमांसा की जाएगी।

तीन भेद—पिङ्गल-छन्दःसूत्र के व्याख्याता हलायुध ने छन्दों के लौकिक, वैदिक और लोकवेद साधारण इस प्रकार तीन भेद दर्शाए हैं ।[4] भरत मुनि ने दिव्य, दिव्येतर (मानुष), और दिव्य मानुष तीन विभाग किये हैं ।[5] इन दोनों प्रकार के त्रिधा विभाग का वर्णन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

दो अन्य भेद—पूर्वनिर्दिष्ट छन्दों के दो विभाग और हैं । वे हैं—मात्रिक छन्द, और अक्षर छन्द ।

मात्रिक छन्द—जिन छन्दों में अक्षरों की इयत्ता के साथ-साथ लघु गुरु मात्राओं का भी ध्यान रखा जाता है, वे 'मात्रिक छन्द' कहाते हैं ।

अक्षर छन्द—जिन छन्दों में केवल अक्षरों की इयत्ता ही आवश्यक होती है (मात्राओं का विचार आवश्यक नहीं होता), वे 'अक्षरछन्द' कहाते हैं ।

---

१. पूर्व पृष्ठ १०।

२. 'तै: प्रायो मन्त्र: श्लोकश्च वर्तते'। ऋक्प्राति० १६।६॥

३. 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्द:' । ऋक्सर्वानु० । 'छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते' । अथर्व बृहत्सर्वानु० ।

४. छन्द:सूत्रभाष्य ४।८॥

५. नाट्यशास्त्र १४।१३॥

वैदिक छन्द—वैदिक छन्दों में प्रायः लघु गुरु मात्राओं का अनुसरण नहीं किया जाता। इसलिये समस्त वैदिक छन्द अक्षर छन्द हैं। प्रातिशाख्यों में गुरु लघु तथा उनकी वृत्तियों का भी वर्णन मिलता है।

वैदिक छन्दों के दो भेद—वेद में प्रयुक्त अक्षर छन्दों के दो प्रधान भेद हैं—केवल अक्षर-गणनानुसारी, और पादाक्षर-गणनानुसारी।

केवल अक्षर-गणनानुसारी—जिन छन्दों में केवल अक्षरगणना ही अभिप्रेत होती है, पाद आदि के विभाग की आवश्यकता नहीं होती, वे केवल 'अक्षर-गणनानुसारी' छन्द होते हैं। इन छन्दों का निर्देश प्रायः यजुः=गद्य-मंत्रों में किया जाता है। कतिपय प्राचीन आचार्य इनका निर्देश ऋक्=पद्य-मन्त्रों में भी करते हैं।[1] केवल अक्षर-गणनानुसारी छन्द के ही अनेक भेद-प्रभेद हैं, उनकी व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी।

पादाक्षर-गणनानुसारी—जिन छन्दों में अक्षर-गणना के साथ साथ पादाक्षर-गणना आवश्यक हो, उनको 'पादाक्षर-गणनानुसारी' छन्द कहते हैं। इन छन्दों का निर्देश केवल ऋक्=पद्य-मन्त्रों में ही होता है। इस छन्द के अनेक भेद-प्रभेद हैं। इनकी व्याख्या अगले अध्यायों में क्रमशः की जायेगी।

अक्षर शब्द का अर्थ—लोक में अक्षर शब्द वर्ण का पर्याय समझा जाता है। कतिपय प्राचीन वैयाकरण भी वर्ण की अक्षर संज्ञा करते थे।[2] वर्ण दो प्रकार के हैं—स्वर और व्यञ्जन। इनको पाणिनीय वैयाकरण क्रमशः अच् और हल् कहते हैं। स्वर ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद से क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक होते हैं। व्यञ्जनों का काल अर्धमात्र है। व्यञ्जनों का उच्चारण स्वर की सहायता के बिना स्वतन्त्ररूप से नहीं हो सकता[3], अतः लोक में इन्हें क-ख-ग-घ-ङ इस प्रकार अकार-विशिष्ट ही पढ़ते हैं। परन्तु इनका वास्तविक स्वरूप क् ख् ग् घ् ङ् ऐसा ही है।

छन्दःशास्त्र में अक्षर—वैदिक छन्दःशास्त्र में अक्षर शब्द से व्यञ्जन-

---

१. यथा—'भगो न चित्रम् (साम पू० ५।२।२।३) इति त्रिपदाऽऽसुरी गायत्री'। उपनिदान सूत्र, पृष्ठ १२। अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में ऐसा निर्देश प्रायः मिलता है। इस विषय की विशद मीमांसा आगे की जायेगी।

२. 'वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे। अथवा—पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते' महाभाष्य १।१ ऋमङ् सूत्रे।

३. 'अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति'। महाभाष्य १।२।२९॥

रहित स्वतन्त्र स्वर तथा व्यञ्जन-सहित स्वर दोनों का ग्रहण होता है[1]। एक स्वर के साथ अनेक व्यञ्जन होने पर भी वह एक ही अक्षर माना जाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक छन्दों की अक्षर-गणना में केवल स्वर की ही गणना होती है, व्यञ्जन की नहीं। अतः स्वर-रहित व्यञ्जन का छन्दःशास्त्र में कोई स्थान नहीं है।

अक्षरगणना-प्रकार— उपर्युक्त निर्देशानुसार वैदिक छन्दों में अक्षर-गणना करते समय व्यञ्जनों की पृथक् गणना नहीं होती है। वे जिस स्वर से संबद्ध होते हैं, उनकी गणना में ही व्यञ्जनों का अन्तर्भाव हो जाता है। वैदिक छन्दों में लघु गुरु मात्रा की भी गणना नहीं होती। अक्षर-गणना के प्रकार को स्पष्ट करने के लिए हम नीचे एक उदाहरण देते हैं। मन्त्र है—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ ऋ० १।१।१॥

इस मन्त्र के अक्षरों की गणना इस प्रकार की जाती है—

अ, ग्नि, मी,[2] ळे, पु, रो, हि, तम्, (१-८)
य, ज्ञ, स्य, दे, व, मृ[2] त्वि जम्, (९-१६)
हो ता र, र, त्न, धा, त, मम् (१७-२४)

इस प्रकार इस मन्त्र में २४ अक्षर हैं। अतः इस मन्त्र का छन्द गायत्री है। इसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र में अक्षर-गणना करनी चाहिए।

ऋङ्मन्त्रों में अक्षरों की न्यूनता में— ऋङ्मन्त्रों में जब पादाक्षर-गणना के अनुसार अक्षर-गणना की जाती है, तब कई मन्त्रों में नियत पादाक्षर-संख्या से न्यून अक्षर उपलब्ध होते हैं। उन अक्षरों की पूर्ति के लिए व्यूह= सन्धिछेद अथवा इय् उव् की कल्पना की जाती है। इस विषय में हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

वैदिक छन्दों के प्रमुख भेद

वैदिक छन्दों के प्रमुख भेदों के विषय में नाना मत हैं। हम क्रमशः उन का उल्लेख करते हैं—

---

१. स्वरोऽक्षरम्; सहाद्यैर्व्यञ्जनैः; उत्तरैश्चावसितैः। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य १।९९-१०१॥

२. इस मकार को 'ग्नि' के साथ जोड़कर 'ग्निम्—ई' इस प्रकार भी गिन सकते हैं। इसी प्रकार 'मृ' को 'वम्—ऋ'। परन्तु उपरिनिर्दिष्ट प्रकार ही सर्वसम्मत है।

तीन छन्द—ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थानों पर तीन ही छन्द कहे गए हैं। वे हैं—गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती।[1] ये भेद पादाक्षर-संख्या के आधार पर किए गए हैं। सभी छन्दों के पाद तीन ही प्रकार के हैं—अष्टाक्षर, एकादशाक्षर और द्वादशाक्षर। कुछ छन्दों में दशाक्षर पाद भी होते हैं; परन्तु वे अत्यल्प हैं। अतः उनकी उपेक्षा करके तीन ही प्रमुख भेद माने हैं।[2]

चार छन्द—कहीं-कहीं चार छन्दों का निर्देश मिलता है। वे हैं गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती। गायत्री ही चार अक्षर की अधिकता से उष्णिक् हो जाती है, और अनुष्टुप् बृहती बन जाता है। पंक्ति का व्यवहार अति स्वल्प है। अतः उष्णिक्, बृहती और पंक्ति की उपेक्षा करके-कहीं सहीं चार ही प्रधान छन्द गिने गए हैं।[3]

सात छन्द—अनेक आचार्य सात ही प्रधान छन्द मानते हैं।[4] उनके नाम हैं—

गायत्री, उष्णिक्[5], अनुष्टुप्[6], बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्[7], जगती।

---

१. ऋग्वेद १।१६४।२३ में भी इन्हीं तीन छन्दों का उल्लेख है। ये वस्तुतः सौर छन्द हैं। गायत्री का क्षेत्र पृथिवी, त्रिष्टुप् का अन्तरिक्ष, और जगती का द्युलोक है।

२. 'भवन्ति छन्दसानीह पदानि त्रीणि तद्यथा। एकमष्टाक्षरं दृष्टम् एकमेकादशाक्षरम्॥ द्वादशाक्षरमप्येकं तेन त्रीणीति भाषते। पदं दशाक्षरं चाल्पं वैराजं तदुपेक्षितम्'॥ वेङ्कटमाधव, छन्दोऽनु० ६।१।५,६॥

३. 'गायत्र्येवोष्णिगभवत् पङ्क्तिमल्पामुपेक्षते। अनुष्टुबेव बृहती तेन चत्वारि भाषते'॥ वेङ्कटमाधव छन्दोऽनु० ६।१।७॥

४. मैत्रायणी संहिता—'सप्तैव छन्दांसि'।

५. मूल शब्द 'उष्णिह्' हकारान्त है। तैत्तिरीय सं० २।४।११ में 'उष्णिह' अकारान्त भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। महाभाष्य ४।१।१ में 'उष्णिहककुभौ' में भी अकारान्त स्वीकार किया है (अोत्तरपदह्रस्वत्व यहां नहीं होता—द्र० महा०)। तै० सं० २।४।११ में 'उष्णिहा' आबन्त भी उपलब्ध होता है। ऋ० १०।१३०।४ में 'उष्णिहया सविता' में भी आबन्त प्रयुक्त है।

६. तैत्तिरीय संहिता २।५।१० में अनुष्टुप् के अर्थ में अनुष्टुग् गकारान्त प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

७. मूल शब्द 'त्रिष्टुभ्' है। इसी अर्थ में तै० सं० २।४।११ में 'त्रिष्टुग्' गकारान्त पद भी प्रयुक्त है। इसी संहिता में स्पष्ट लिखा है—'चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुग्।' २।५।१०; २।६।२॥

चौदह छन्द—ऋग्वेदी कात्यायन प्रभृति आचार्य चौदह छन्द मानते हैं। वे गायत्री आदि सप्तक के आगे निम्न सात छन्द भी मानते हैं—

अतिजगती, शक्वरी[1], अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति[2]।

इस सप्तक के लिए अतिछन्द पद का भी व्यवहार होता है।

ऋग्वेद में ये ही चौदह छन्द व्यवहृत हैं, ऐसा आचार्य शौनक का कथन है।[3] अतएव ऋग्भाष्यकार वेङ्कट माधव लिखता है—

चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि।
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति॥

अर्थात्—इस प्रकार [शौनक आदि] प्राचीन विद्वानों ने १४ छन्दों का अनुक्रमण किया है। इतने ही छन्द ऋक्संहिता में उपलब्ध होते हैं। शेष छन्द अन्य वेदों में देखे जाते हैं।

इक्कीस छन्द—पिङ्गल और जयदेव प्रभृति छन्दःशास्त्रकारों ने २१ वैदिक छन्दों का निर्देश किया है। उनमें चौदह छन्द तो पूर्वनिर्दिष्ट ही हैं। अगले सात छन्दों के नाम इस प्रकार हैं—

कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति, उत्कृति।[4]

छब्बीस छन्द—भरत[5], शौनक, गार्ग्य और जानाश्रयी छन्दोविचितिकार २६ वैदिक छन्द मानते हैं। उनमें इक्कीस छन्द तो पूर्वनिर्दिष्ट ही हैं। शेष पांच छन्द निम्नलिखित हैं—

मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, समा।[6]

---

१. तै० सं० १।७।११ के 'सप्तपदां शक्वरिमुदजयत्' पाठ में 'शक्वरि' ह्रस्व इकारान्त श्रुत है। तै० सं० २।६।२ में दीर्घ ईकारान्त का भी निर्देश मिलता है।

२. पतञ्जलि के निदानसूत्र में इन सात छन्दों की संज्ञाओं में भेद है। उनका उल्लेख यथास्थान करेंगे।

३. 'सर्वा दाशतयीष्वेताः, उत्तरास्तु सुभेषजे'। ऋक्प्राति० १६।८७, ८८॥ 'सुभेषजे आथर्वण इत्यर्थः' (उव्वट)।

४. इन सात छन्दों की संज्ञाएं पातञ्जल निदानसूत्र में सर्वथा भिन्न हैं।

५. 'षड्विंशतिः स्मृतान्येभिः पादैश्छन्दांसि संख्यया'। १४।४३॥

६. इन पांच छन्दों की संज्ञाएं विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न हैं।

इनका संकेत "गायत्र्याः प्राञ्चि छन्दांसि" नाम से किया गया है।

शौनक के विराज छन्द—शौनक ने उक्त २६ छन्दों के दो अक्षर न्यून के विराज नामक छन्द दर्शाए हैं। अतः शौनक के मत में (२६×२=)५२ छन्द होते हैं।

पतञ्जलि-प्रोक्त छन्दोविस्तार—पतञ्जलि ने निदानसूत्र में पूर्व-निर्दिष्ट २६ छन्दों का निर्देश करके इनके कृत त्रेता द्वापर और कलि भेद से चार विभाग और दर्शाए हैं। तदनुसार पतञ्जलि के मत में उक्त २६ छन्दों के (२६×४=)१०४ भेद हो जाते हैं।

छन्दों का वास्तविक वर्गीकरण—पूर्वाचार्यों ने जितने भी वैदिक छन्द दर्शाए हैं, उन सब का चार विभागों में वर्गीकरण किया जा सकता है।

छन्दों के चार वर्ग—छन्दों के चार वर्ग अथवा चार विभाग इस प्रकार बनते हैं—

१—प्राग्गायत्री-पञ्चक ३—द्वितीय सप्तक
२—प्रथम सप्तक ४—तृतीय सप्तक

हम इस ग्रन्थ में इन्हीं चार वर्गों के अनुसार छन्दों के साधारण भेद दर्शाते हैं।

छन्दों में चतुरक्षर-वृद्धि-क्रम—पूर्व उल्लिखित जितने भी छन्द हैं, उनमें क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है। सब से छोटा छन्द मा चार अक्षरों का है। और सब से बड़ा अथवा अन्तिम अभिकृति १०४ अक्षरों का होता है।

चतुरक्षर-वृद्धि और अथर्ववेद—छन्दों के उक्त चतुरक्षर-वृद्धिक्रम का साक्षात् निर्देश अथर्ववेद की निम्न श्रुति में उपलब्ध होता है—

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो॑ऽन्यस्मिन्नध्यार्पितानि। (पूर्वार्ध)
अथर्व० ८।९।१९॥

अर्थात्—सात छन्द [हैं] चतुरुत्तर (=चार-चार अक्षर जिसमें उत्तरोत्तर अधिक) अन्य-अन्य के ऊपर स्थित हैं। अथवा एक-दूसरे में पिरोये हुए है। [यथा—२६ अक्षर का स्वराड् गायत्री और विराट् उष्णिक् दोनों छन्द होते हैं। इसी प्रकार आगे भी जानें]।

प्राग्-गायत्री-पञ्चक

गायत्री से पूर्ववर्ती पांच प्रधान छन्द हैं। छन्दों में क्रमशः चार, आठ,

बारह, सोलह और बीस अक्षर होते हैं। इन पांच छन्दों के नाम विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये हम ग्रन्थों के नामों का निर्देश करके उनके नीचे उन-उनमें व्यवहृत संज्ञाओं का निर्देश करते हैं—

अक्षर०	ऋक्प्रा०[1]	निदा०[2]	उपनिदा०[3]	जानाश्रयी०[4]	नाट्य०[5]	पादाक्षर[6]
४	मा	कृति	उक्ता	उक्त	उक्त	१
८	प्रमा	प्रकृति	अत्युक्ता	अत्युक्त	अत्युक्त	२
१२	प्रतिमा	संकृति	मध्या	मध्यम	मध्य(मध्यम)	३
१६	उपमा	अभिकृति	प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठा	४
२०	समा	आकृति	सुप्रतिष्ठा	सुप्रतिष्ठा	सुप्रतिष्ठा	५

(उत्कृति-पाठा०)

याजुष संहिताओं में मा आदि छन्द—माध्यन्दिन (१४।१८) आदि याजुष संहिताओं में अनेक छन्दोनामों के साथ मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दः पाठ उपलब्ध होते हैं।

विशेष पाद-विभाग—आचार्य भरत और जानाश्रयी छन्दोविचितिकार ने पूर्वनिर्दिष्ट उक्त आदि पांच छन्दों के चार-चार पाद माने हैं। तदनुसार इनके प्रत्येक पाद में क्रमशः १,२,३,४,५ अक्षर होते हैं।[7]

प्रागगायत्री-पञ्चक का अव्यवहारत्व—गायत्री से पूर्व के 'मा' अथवा 'उक्त' आदि पांच छन्दों का प्रायः व्यवहार नहीं होता, ऐसा आचार्य भरत का मत है। नाट्यशास्त्र (१४।५४) में लिखा है—

गायत्रीप्रभृति त्वेषां प्रमाणं संप्रचक्ष्यते।
प्रयोगजानि सर्वाणि प्रायशो न भवन्ति हि ॥[8]

---

१. ऋक्प्राति० १७।१७॥ २. निदानसूत्र १।५, पृष्ठ ८।

३. उपनिदानसूत्र पृष्ठ ६। ४. जानाश्रयी छन्दोविचिति १।२, ३॥

५. नाट्यशास्त्र १४।४६॥ ६. भरत नाट्यशास्त्र १४।४६-४७॥

७. 'एकाक्षरं भवेदुक्तमत्युक्तं द्व्यक्षरं भवेत्। मध्यं त्र्यक्षरमित्याहुः प्रतिष्ठा चतुरक्षरा ॥४६॥ सुप्रतिष्ठा भवेत् पञ्च··· '॥४७॥ नाट्य० अ० १४॥ 'उक्तस्यैकमक्षरं पादः, अत्युक्तस्य द्वे, मध्यमस्य त्रीणि, एवं सर्वेषाम्'। जानाश्रयी० १।८ टीका।

८. इसी का आगे पाठान्तर इस प्रकार है— 'प्रयोगजानि पूर्वाणि प्रायशो न भवन्ति हि' नाट्यशास्त्र १४।६१॥ यह पाठ अधिक स्पष्ट है।

इसकी व्याख्या करता हुआ अभिनव गुप्त लिखता है—

अक्षरस्याष्टौ गायत्री प्रभृतीनि, तत एवारभ्य प्रयोगार्हतेति सूचयति, उक्तादीनामश्रवत्वात् । तदाह—प्रयोगजानीति, लक्ष्यतो स्थितानीति वेदवद्[1] दृश्यन्ते इति भावः । भाग २, पृष्ठ २३७॥

इससे भी यही प्रतीत होता है कि गायत्री से पूर्व के पाँच छन्द लोक में प्रयोगार्ह नहीं हैं ।

जानाश्रयी छन्दोविचितिकार का मत—जानाश्रयी छन्दोविचिति का प्रवक्ता लौकिक समवृत्तों के व्याख्यान-प्रसङ्ग (अ० ४।१—१०) में सब से पूर्व उक्त, अत्युक्त, मध्यम, प्रतिष्ठा और सुप्रतिष्ठा नाम के प्राग्गायत्री-पञ्चक छन्दों का वर्णन करता है । उनके लक्षण और उदाहरण देता है । इससे स्पष्ट है कि वह इन प्राग्गायत्री-पञ्चक छन्दों का लोक में भी प्रयोग मानता हैं ।

भरत मुनि ने इनके अव्यवहारत्व का निर्देश करते हुए 'प्रायशः' पद का निर्देश किया है । उससे भरत के मत में इनका लोक में क्वाचित्क प्रयोग ध्वनित होता है ।

वैदिकछन्दःप्रवक्ता और प्राग्गायत्री-पञ्चक—वैदिक-छन्दः-प्रवक्ताओं में पतञ्जलि, शौनक और गार्ग्य ने प्राग्गायत्री-पञ्चक का निर्देश किया है । इससे इन छन्दों का वैदिकत्व व्यक्त होता है । परन्तु वेद में इन पांच छन्दों का प्रयोग है अथवा नहीं, इस विषय में किसी ग्रन्थकार ने स्पष्टतया कुछ नहीं लिखा ।

आचार्य पिङ्गल और जयदेव ने वैदिक छन्दों के प्रसङ्ग में भी इन प्राग्गायत्री-पञ्चक छन्दों का उल्लेख नहीं किया । इससे प्रतीत होता है कि ये ग्रन्थकार इन्हें वेद में प्रयुक्त नहीं मानते । वेङ्कट माधव ने इन छन्दों का संकेतमात्र किया है, विशेष वर्णन नहीं किया ।

प्राग्गायत्री-पञ्चक के वैदिक उदाहरण—यदि अथर्ववेद के २० वें काण्ड के १२९—१३२,१३४ सूक्तों को ऋङ्मय माना जाए, तो उनसे प्राग्-गायत्री-पञ्चक के उदाहरण दिए जा सकते हैं । यथा—

१—चतुरक्षर—पृदाकवः ॥ परिं त्रयः ॥ २०।१२९।९,८॥

२—अष्टाक्षर—एता अश्वा आप्लंवन्ते ॥ प्रतीपं प्रातिंसत्वनंम् ॥ तासामेका हरिंक्निका ॥ २०।१२९।१-३॥

---

१. 'वेद एवं' इति युक्तः पाठः ।

३—द्वादशाक्षर–सघाघते् गोमीद्या गोगंतीरिति ॥२०।१२६।१३॥

४—षोडशाक्षर—शतमाश्वा हिरण्ययाः । शतं रथ्या हिरण्ययाः । २०।१३१।५ (पूर्वार्घ) ॥

५—विंशत्यक्षर—इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् वत्साः पुरुषन्त आसते। २०।१३४।२॥

प्रथम सप्तक

द्वितीय वर्ग के प्रथम सप्तक में क्रमशः २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ अक्षरों के सात छन्द हैं। इनके नाम सभी ग्रन्थों में एक जैसे हैं। यथा—

१—२४ अक्षर—गायत्री
५—४० अक्षर—पंक्ति
२—२८ अक्षर—उष्णिक्
६—४४ अक्षर—त्रिष्टुप्
३—३२ अक्षर—अनुष्टुप्
७—४८ अक्षर—जगती
४—३६ अक्षर—बृहती

भरत नाटचशास्त्र १४।४७-४८ तक इस सप्तक के पादाक्षर क्रमशः ६,७,८,९,१०,११,१२ कहे हैं।

इस सप्तक के छन्दों के अनेक अवान्तर भेद-प्रभेद हैं। उनके लक्षण और उदाहरण आगे यथास्थान लिखे जायेंगे।

द्वितीय सप्तक (अतिछन्द)

तृतीय वर्ग के द्वितीय सप्तक में क्रमशः ५२, ५६, ६०, ६४, ६८, ७२, ७६ अक्षरों के सात छन्द हैं। इनके नाम पिङ्गलसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, उपनिदानसूत्र, ऋक्सर्वानुक्रमणी, भरत-नाटचशास्त्र तथा जयदेवीय छन्दःशास्त्र में एक जैसे हैं, परन्तु निदानसूत्र में इन सप्तक के छन्दों के नामों में भिन्नता है। यथा—

१—५२ अक्षर—अतिजगती	(पिङ्गलादि)	विधृति	(निदान०)
२—५६ अक्षर—शक्वरी	,,	शक्वरी	,,
३—६० अक्षर—अतिशक्वरी	,,	अष्टि	,,
४—६४ अक्षर—अष्टि	,,	अत्यष्टि	,,
५—६८ अक्षर—अत्यष्टि	,,	अंह (मंहना)	,,
६—७२ अक्षर—धृति	,,	सरित्	,,
७—७६ अक्षर—अतिधृति	,,	सम्पा	,,

भरत नाट्यशास्त्र १४।४८-५० के अनुसार इन के पादाक्षर क्रमशः १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९ कहे हैं।

इन छन्दों के उदाहरण यथास्थान आगे दिए जायेंगे।

टिप्पणी—शौनक आदि के मत में इस सप्तक और उत्तर सप्तक का नाम अतिछन्द भी है।[1]

तृतीय सप्तक (अतिछन्द)

चतुर्थ वर्ग के तृतीय सप्तक में क्रमशः ८०, ८४, ८८, ९२, ९६, १००, १०४ अक्षरों के सात छन्द हैं। इनके नाम पिङ्गलसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, भरत-नाट्यशास्त्र तथा जयदेव के छन्दःशास्त्र में एक जैसे हैं, परन्तु निदानसूत्र में इस सप्तक के छन्दों के नाम सर्वथा भिन्न हैं। यथा—

१—८० अक्षर—कृति	(पिङ्गलादि)	सिन्धु (निदान०)
२—८४ अक्षर—प्रकृति	,,	सलिल ,,
३—८८ अक्षर—आकृति	,,	अम्भस् ,,
४—९२ अक्षर—विकृति	,,	गगन ,,
५—९६ अक्षर—संकृति	,,	अर्णव ,,
६—१०० अक्षर—अभिकृति	,,	आपः ,,
७—१०४ अक्षर—उत्कृति	,,	समुद्र ,,

भरत-नाट्यशास्त्र के २४।५२ के अनुसार इनके पादाक्षर क्रमशः २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६ कहे हैं।

इनके उदाहरण यथास्थान आगे लिखे जायेंगे।

२६ छन्दों के विराट् छन्द

पूर्वनिर्दिष्ट २६ छन्दों के दो-दो अक्षरों से न्यून छन्द विराट् कहाते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य और पातञ्जल निदानसूत्र में स्वतन्त्र छन्दोनाम लिखे हैं। ये दो अक्षरों से न्यून छन्द विराट् छन्द कहाते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य और निदानसूत्र में इन विराट् छन्दों के नामों में कुछ भिन्नता भी है। यथा—

अक्षरसंख्या	ऋक्प्राति०	निदान०
प्राग्गायत्री पञ्चक—		
२	हर्षीका[2]	हर्षीका[3]

---

१. 'द्वावतिछन्दसां वर्गो उत्तरौ चतुरक्षरौ'। ऋक्प्राति० १६।७९॥
२. ऋक्प्राति० १७।२०॥ ३. निदान० १।५, पृष्ठ ९।

अक्षरसंख्या	ऋक्प्राति०	निदान०
६	सर्षीका	शर्षीका (सर्षीका)[१]
१०	मर्षीका	सर्षीका (मर्षीका)
१४	सर्वमात्रा	सर्वमात्रा
१८	विराट्कामा	विराट्कामा
प्रथम सप्तक—		
२२	राट्[२] (ताराट्[३])	राट्[४] (विराट्)
२६	विराट्	सम्राट्
३०	स्वराट्	विराट्
३४	सम्राट्	स्वराट्
३८	स्ववशिनी	स्ववशिनी
४२	परमेष्ठी	परमेष्ठा (परमेष्ठी)
४६	प्रतिष्ठा	अन्तस्था
द्वितीय सप्तक—		
५०	प्रत्न[५]	प्रत्न[६]
५४	अमृत	अमृत
५८	वृषा	वृषा
६२	शुक्र	जीव
६६	जीव	तृप्त
७०	पयः	रस
७४	तृप्त	शुक्र
तृतीय सप्तक—		
७८	अर्णः	अर्णः
८२	अंश	अंश
८६	अम्भः	अम्भः
९०	अम्बु	अम्बु

१. इस प्रकरण के कोष्ठान्तर्गत पाठान्तर हैं। २. ऋक्प्राति० १७।१५॥
३. 'ताराट्' इत्येकं पदमित्युव्वटः, 'ताः' इति पूर्वपरामर्शक इति वयम्।
४. निदान० १।५, पृष्ठ ८। ५. ऋक्प्राति० १७।५॥
६. निदान० १।५,पृष्ठ ८।

अक्षरसंख्या	ऋक्प्राति०	निदान०
९४	वारि	वारि
९८	आप:	आप:
१०२	उदक	उदक

२६ छन्दों के कृत आदि अवान्तर भेद

निदानसूत्र में पूर्वनिर्दिष्ट चार अक्षरवाले कृति अथवा मा संज्ञक छन्द से लेकर १०४ अक्षरवाले समुद्र अथवा उत्कृति नामक छन्द-पर्यन्त २६ छन्दों की कृत संज्ञा; तथा उनमें एकाक्षर की न्यूनता होने पर त्रेता संज्ञा दर्शाई है। इसी प्रकार दो अक्षरवाले हर्षीका से लेकर १०२ अक्षरवाले उदकसंज्ञक छन्द-पर्यन्त २६ छन्दों की द्वापर संज्ञा, तथा उनमें एकाक्षर की न्यूनता होने पर कलि संज्ञा दर्शाई है। यथा—

	कृत-छन्द	त्रेता-छन्द		द्वापर-छन्द	कलि-छन्द
छन्दोनाम	अक्षरसं०	अक्षरसं०	छन्दोनाम	अक्षरसं०	अक्षरसं०
प्राग्गायत्री पञ्चक—					
कृति (मा)[1]	४	३	हर्षीका	२	१
प्रकृति (प्रमा)	८	७	शर्षीका (सर्षीका)[1]	६	५
संकृति (प्रतिमा)	१२	११	सर्षीका (मर्षीका)	१०	९
अभिकृति (उपमा)	१६	१५	सर्वमात्रा	१४	१३
उत्कृति (समा)	२०	१९	विराट्कामा	१८	१७
प्रथम सप्तक—					
गायत्री	२४	२३	राट (ताराट्)	२२	२१
उष्णिक्	२८	२७	सम्राट् (विराट्)	२६	२५
अनुष्टुप्	३२	३१	विराट् (स्वराट्)	३०	२९
बृहती	३६	३५	स्वराट् (सम्राट्)	३४	३३
पंक्ति	४०	३९	स्ववशिनी	३८	३७
त्रिष्टुप्	४४	४३	परमेष्ठा (परमेष्ठी)	४२	४१
जगती	४८	४७	अन्तस्था (प्रतिष्ठा)	४६	४५

१. इस प्रकरण में ( ) कोष्ठान्तर्गत नाम ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार हैं। देखो—पूर्व प्रकरण।

छन्दोनाम	कृत-छन्द अक्षरसं०	त्रेता-छन्द अक्षरसं०	छन्दोनाम	द्वापर-छन्द अक्षरसं०	कलि-छन्द अक्षरसं०
द्वितीय सप्तक—					
विधृति (अतिजगती)	५२	५१	प्रत्न	५०	४९
शक्वरी	५६	५५	अमृत	५४	५३
अष्टि (अतिशक्वरी)	६०	५९	वृषा	५८	५७
अत्यष्टि (अष्टि)	६४	६३	जीव (शुक्र)	६२	६१
अंहः (अत्यष्टि)	६८	६७	तृप्त (जीव)	६६	६५
सरित् (धृति)	७२	७१	रस (पयः)	७०	६९
सम्पा (अतिधृति)	७६	७५	शुक्र (तृप्त)	७४	७३
तृतीय सप्तक—					
सिन्धु (कृति)	८०	७९	अर्णः	७८	७७
सलिल (प्रकृति)	८४	८३	अंश	८२	८१
अम्भः (आकृति)	८८	८७	अम्भः	८६	८५
गगन (विकृति)	९२	९१	अम्बु	९०	८९
अर्णव (संकृति)	९६	९५	वारि	९४	९३
आपः (अभिकृति)	१००	९९	आपः	९८	९७
समुद्र (उत्कृति)	१०४	१०३	उदक	१०२	१०१

पूर्वनिर्दिष्ट तीन सप्तकों का अन्यथा विभाग

आचार्य भरत ने उक्त तीनों सप्तकों को क्रमशः दिव्य, दिव्येतर और दिव्यमानुष कहा है—

दिव्यो दिव्येतरश्चैव दिव्यमानुष एव च ।१४।११३।।

इस प्रकरण की व्याख्या करता हुआ अभिनव गुप्त लिखता है—

'इतिशब्देन प्रकारार्थेन व्याचष्टे दिव्य इति । प्रथम इति स्तोत्र-शस्त्रेषु सप्तानामेव छन्दसां बाहुल्येन दर्शनात् देवस्तुत्यादौ वक्तृव्ययं गण इति । गण इति द्वितीयो दिव्यनिवृत्तौ गण इत्यर्थः । तेन मानुषेषु वक्तृव्ययं प्रायेण । तृतीयस्तु दिव्यमानुषेषु च रामादिषु नरपतिषु च ।'
भाग २, पृष्ठ २४७ ।

अर्थात्—प्रथम गण (सप्तक) का प्रयोग बाहुल्य से स्तोत्रशस्त्रों में ही देखा जाता है । इसलिये देवों की स्तुति में प्रथमगण का प्रयोग होने से वह 'दिव्य' कहाता है । द्वितीयगण दिव्येतर अर्थात् मानुष है । उसका प्रयोग

मनुष्यसम्बन्धी स्तुतियों में ही प्रायः होता है। तृतीयगण दिव्यमानुष कहाता है। इसका प्रयोग दिव्य और मानुष उभयधर्मा राम आदि नरपतियों में होता है।

यह भरतोक्त विभाग प्रायिक है, यह अभिनव गुप्त की व्याख्या से स्पष्ट है।

अन्य त्रिधा विभाग—पिङ्गल छन्दःसूत्र के व्याख्याता हलायुध ने छन्दों का एक भिन्न त्रिधा विभाग दर्शाया है। वह लिखता है—

'पूर्वेषां छन्दसां वैदिकत्वमेव।इतः प्रभृत्यार्यादीनां चूलिकापर्यन्तानां लौकिकत्वमेव। समान्यादीनामुत्कृतिपर्यन्तानां वैदिकत्वं लौकिकत्वं च।'

पिङ्गल-भाष्य ४।८॥

अर्थात्—पूर्वनिर्दिष्ट छन्दों (तीनों सप्तकों) का वैदिकत्व ही है। उसके आगे आर्या (४।१४) से लेकर चूलिका (४।५२) पर्यन्त छन्दों का लौकिकत्व ही है। समानी (५।६) से लेकर उत्कृति (७।३०,३१) पर्यन्त छन्दों का वैदिकत्व और लौकिकत्व दोनों है।

यह विभाग भी मनन करने योग्य है।

पिङ्गलसूत्र ४।६ तथा उसके व्याख्यान में लिखा है—

आ त्रैष्टुभाच्च यदार्षम्।

हलायुध—गायत्र्यादित्रिष्टुप्पर्यन्तं यदार्षं छन्दोजातं वैदिके व्याख्यातं लौकिके च तत्तथैव द्रष्टव्यम्। किंच तदार्षम्? चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंत्यक्षरोष्णिक्, द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप्, षट्त्रिंशदक्षरा बृहती, चत्वारिंशदक्षरा पंक्तिः, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्।

अर्थात्—गायत्री से लेकर त्रिष्टुप् पर्यन्त जो आर्ष (ऋषिसंज्ञक) छन्द वैदिक प्रकरण में कहे हैं, उन्हें लोक में भी जानना चाहिये। २४ अक्षरों की गायत्री, २८ अक्षरों की उष्णिक्, ३२ अक्षरों की अनुष्टुप्, ३६ अक्षरों की बृहती, ४० अक्षरों की पंक्ति, ४४ अक्षरों की त्रिष्टुप्, ये आर्ष छन्द हैं।

इस प्रकार वैदिक छन्दों के सामान्य भेदों का वर्णन करके, अगले अध्याय में छन्दःसम्बन्धी कतिपय सामान्य परिभाषाओं का निर्देश करेंगे॥

सप्तम अध्याय

छन्दःसंबन्धी सामान्य परिभाषाएं

गत अध्याय में हमने छन्दों के सामान्य भेद दर्शाए। उनके विशेष भेद-प्रभेदों का वर्णन करने से पूर्व उनसे सम्बन्ध रखनेवाली कतिपय सामान्य परिभाषाओं का निर्देश करना आवश्यक है। इसलिये हम इस अध्याय में उन कतिपय परिभाषाओं का वर्णन करते हैं।

एक-दो अक्षरों की न्यूनता वा अधिकता से छन्दोभेद नहीं होता

ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता और छन्दःशास्त्रकारों का कथन है कि नियत अक्षरोंवाले छन्दों में एक वा दो अक्षरों की न्यूनता अथवा अधिकता से छन्दोभेद नहीं होता। ऐतरेय ब्राह्मण १।६ तथा २।३७ में लिखा है—

न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्।

ऐसा ही शतपथ ब्राह्मण के प्रवक्ता का मत है—

नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्याम् ।१३।२।३।३॥

कौषीतकिब्राह्मण के प्रवक्ता ने भी लिखा है—

नह्येकाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति न द्वाभ्याम् ।२७।१॥

इन सब का अभिप्राय यही है कि एक वा दो अक्षरों की न्यूनाधिकता से छन्दोभेद नहीं होता।

अक्षरों के न्यूनाधिक्य-द्योतक संकेत—छन्दों में एक वा दो अक्षरों की न्यूनता अथवा आधिक्य होने पर छन्दोभेद न मानने पर भी आवश्यक होता है कि मन्त्रों की नियत अक्षरसंख्या (कितने न्यून अथवा अधिक हैं) के द्योतनार्थ कुछ न कुछ संकेत किए जायें। छन्दःशास्त्र-प्रवक्ताओं ने इनके लिये निम्न विशेषणों का प्रयोग दर्शाया है—

एकाक्षरन्यून निचृत्[1]—जब किसी मन्त्र में छन्द के नियत अक्षरों से एक अक्षर न्यून होता है, तब उस एकाक्षर की न्यूनता को प्रदर्शित करने के लिए छन्द के नाम के साथ निचृत् विशेषण लगाया जाता है। यथा—

---

१. निचृन्निपूर्वस्य चृतेः। दै० ब्रा० ३।२० ॥

गायत्री—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। ऋ० ३।६२।१०।।

इस ऋचा के प्रथम पाद में ८ अक्षरों के स्थान में ७ अक्षर हैं। अतः इस में २३ अक्षर होने से यह निचृद् गायत्री है ।

अनुष्टुप्—तमित् सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।
स शक्र उत नः शकद् इन्द्रो वसु दयमानः ।। ऋ०१।१०।६।।

इस मन्त्र के द्वितीय पाद में ८ अक्षरों के स्थान में ७ अक्षर हैं। अतः इस में ३१ अक्षर होने से यह निचृद् अनुष्टुप् है ।

इसी प्रकार अन्य छन्दों में भी जानना चाहिये ।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र १४।१०१-१११ में, तथा जानाश्रयी छन्दोविचिति में निचृत् के स्थान में निवृत शब्द का प्रयोग मिलता है ।[1]

द्व्यक्षरन्यून विराट्—जब किसी मन्त्र में उसके छन्द के नियत अक्षरों से दो अक्षर न्यून होते हैं, तब उस द्व्यक्षर की न्यूनता को प्रकट करने के लिए उस छन्दोनाम के साथ विराट् विशेषण लगाया जाता है । यथा—

गायत्री—राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ।। ऋ० १।१।८।।

इस मन्त्र के प्रथम और तृतीय पाद में एक-एक अक्षर की न्यूनता है, अर्थात् मन्त्र में २४ अक्षरों के स्थान में २२ अक्षर हैं। अतः यह विराड् गायत्री है ।

अनुष्टुप्—उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे ।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च ।। ऋ० १।१०।५।।

इस ऋचा के प्रथम और चतुर्थ पाद में सात-सात अक्षर होने से ३२ के स्थान में ३० अक्षर होते हैं। अतः यह विराड् अनुष्टुप् कहाती है ।

इसी प्रकार अन्य छन्दों में भी जानना चाहिये ।

ऋक्प्रातिशाख्य १७।२ के अनुसार १ वा २ न्यूनाक्षर छन्दों के लिये निचृत् का ही प्रयोग होता है ।

---

१. श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा की 'प्रकाश' टीका के आरम्भ में पिङ्गल के दो सूत्र उद्धृत हैं। वहां पिङ्गलसूत्र में 'निवृत्' पाठ है। अग्निपुराण का छन्दोऽनुशासन पिङ्गल के मतानुसार है। उस में भी 'निवृत्' पाठ ही मिलता है। इस से पिङ्गल सूत्र में निचृत् का निवृत् पाठान्तर भी जानना चाहिये ।

एकाक्षर-अधिक भुरिक्[1]—जब किसी मन्त्र में उसके छन्द के नियत अक्षरों से एक अक्षर अधिक होता है, तब उस एकाक्षर की अधिकता को व्यक्त करने के लिये उस छन्दोनाम के साथ भुरिक् विशेषण लगाया जाता है। यथा—

गायत्री—मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन।
यूयं हि ष्ठा सुदानवः॥ ऋ० ॥१।१५।२॥

इस मन्त्र के प्रथम चरण में ९ अक्षर होने से इसमें २४ के स्थान में २५ अक्षर हैं। अतः यह भुरिग्गायत्री कहाती है।

अनुष्टुप्—तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्॥[2]

इसके प्रथम चरण में ९ अक्षर होने से ३३ अक्षर होते हैं। अतः यह भुरिग् अनुष्टुप् है।

ऋक्प्रातिशाख्य १७।२ के अनुसार १ वा २ अधिकाक्षर छन्दों के लिये भी 'भुरिक्' का ही प्रयोग होता है।

इसी प्रकार अन्य छन्दों के विषय में भी समझना चाहिए।

भरत के नाट्यशास्त्र १४।१००, १११ में भुरुक् विशेषण का प्रयोग मिलता है।

द्व्यक्षर अधिक स्वराट्—जब किसी मन्त्र में उसके छन्द के नियत अक्षरों से दो अक्षर अधिक होते हैं, तब उन दो अक्षरों की अधिकता को व्यक्त करने के लिये छन्दोनाम के साथ स्वराट् विशेषण लगाया जाता है। यथा—

अनुष्टुप्—अच्छ ऋषे मारुतं गणं दाना मित्रं न योषणा।
दिवो वा धृष्णव ओजसा स्तुता धीभिरिषण्यत॥ऋ० ५।५२।१४॥

इस ऋचा के प्रथम और तृतीय चरण में ९,९ अक्षर हैं। अतः दो अक्षर अधिक (३४) होने से यह स्वराड् अनुष्टुप् कहाती है।

बृहती—वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितो विपो जनानाम्।
उपक्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये॥ ऋ० ८।१।४॥

---

१. भरणाद् भुरिज उच्यते। दै० ब्रा० ३।२१।
२. यह भवदेव द्वारा उद्धृत ऋग्वेद खिल के लक्ष्मीसूक्त का मन्त्र है। द्र०—निर्णयसागर प्रेस बम्बई मुद्रित, पिङ्गल छन्दःसूत्र, पृष्ठ २५।

इस मन्त्र में ३८ अक्षर हैं। बृहती के ३६ अक्षरों से दो अक्षर अधिक हैं। अतः यह स्वराड् बृहती है।

इसी प्रकार अन्य छन्दों के विषय में भी समझना चाहिये।

उक्त विशेषणों से सम्बद्ध मीमांस्य विषय—उपर्युक्त विशेषणों से सम्बद्ध तीन विषय प्रधानरूप से मीमांस्य हैं। वे निम्न हैं—

१—निचृद् आदि विशेषणों का सम्बन्ध केवल वैदिक छन्दों तक ही सीमित है, अथवा लौकिक छन्दों में भी इनका प्रयोग होता है?

२—वैदिक छन्दों में गद्य और पद्य रूप सभी छन्दों के साथ निचृत् आदि का सम्बन्ध होता है, अथवा केवल गद्य छन्दों के लिए ही इनका प्रयोग हो सकता है ?

निचृत् आदि का व्यवहार लोक में भी—जानाश्रयी छन्दोविचिति-कार और भरतमुनि (नाट्य० अ० १४) के मत में निचृत् आदि का प्रयोग लौकिक छन्दों में भी होता है।

३—गायत्री आदि छन्दों में उत्तरोत्तर चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है, यह हम गत अध्याय में लिख चुके हैं। तदनुसार किसी मन्त्र में दो छन्दों की मध्यवर्ती अक्षरसंख्या होने पर सन्देह होता है कि वह मन्त्र पूर्व छन्द का 'स्वराट्' रूप माना जाए, अथवा उत्तर छन्द का 'विराट्' रूप ? यथा—

गायत्री के २४ अक्षर होते हैं, और उष्णिक् के २८। यदि किसी मन्त्र में २६ अक्षर हों,तो सन्देह होगा कि यह द्व्यक्षर-अधिक स्वराड् गायत्री है, अथवा द्व्यक्षर न्यून विराड् उष्णिक् ?

इन सभी मीमांस्य विषयों की मीमांसा आगे यथास्थान की जाएगी।

निचृद् आदि का क्षेत्र—ऋक्प्रातिशाख्य-व्याख्याता उव्वट के मतानुसार निचृद् आदि का क्षेत्र तीनों सप्तकों के २१ छन्दों तक व्याप्त है। (द्र०—ऋक्-प्राति० टीका १७।१॥ ऋक्सर्वानुक्रमणी-व्याख्याता षड्गुरु शिष्य के मत में यह गायत्र्यादि प्रथम सप्तक तक ही सीमित है—गायत्र्यादिसप्तानामेव भवति।

शङ्कुमती—किसी भी छन्द में कोई सा भी पाद पांच अक्षर का हो, तो वह छन्द 'शङ्कुमती' विशेषण से विशिष्ट होता है।[1] यथा—

---

१. पिङ्गल छन्दःसूत्र—'एकस्मिन् पञ्चके छन्दः शङ्कुमती' ।३।५५॥

गायत्री – त्वमग्ने यज्ञानां होता (१) विश्वेषां हितः (२) ।
देवेभिर्मानुषे जने (३) ॥ ऋ० ६।१६।१॥

इस ऋचा में निदानसूत्रकार पतञ्जलि के मत में द्वितीय चरण (विश्वेषां हितः) पांच अक्षर का है ।[1]

उष्णिक्—उत्तासो देवरदिति (१) रुरुष्यतां नाम उग्रः (२) ।
उरुष्यन्तमवतो (३) वृद्धश्रवसः (४)॥

यह मन्त्र 'भवदेव' द्वारा उद्धृत है ।[2] इसके चतुर्थ पाद में पांच अक्षर हैं।

अनुष्टुप्—पितुं नु स्तोषं (१) महो धर्माणं तविषीम् (२) ।
यस्य त्रितो व्योजसा (३) वृत्रं विपर्वमर्दयत् (४)॥ऋ० १।१८७।१॥

इस ऋचा के प्रथम चरण में पांच अक्षर हैं ।

ककुम्मती किसी भी छन्द में कोई एक पाद छः अक्षरों का हो, तो वह छन्द 'ककुम्मती' विशेषण से विशिष्ट कहाता है ।[3] यथा—

अनुष्टुप्—स पूर्व्यो महानां (१) वेनः क्रतुभिरानजे (२) ।
यस्य द्वारा मनुष्पिता (३) देवेषु धियं आनजे (४) ॥ऋ०८।६३।१॥

इस ऋचा में प्रथम चरण ६ अक्षरों का है ।

बृहती—इन्द्रं याहि मत्सु (१) चित्रेण देवरोधसा (२)।
स यो नः प्राप्त्युदर (३) सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्थिरम् (४)॥

यह मन्त्र भी 'भवदेव' द्वारा उद्धृत है । इसके प्रथम पाद में ६ अक्षर हैं।

पिपीलिकमध्या—जिस तीन पादवाले (गायत्री-उष्णिक्, क्वचित् अनुष्टुप् और बृहती) छन्द में मध्य का पाद अन्य पादों की अपेक्षा छोटा हो, वह छन्द 'पिपीलिकमध्या' विशेषण से विशिष्ट होता है ।[4] यथा—

---

१. 'अष्टाक्षर[पादः] आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति—विश्वेषां हित इति' । पृष्ठ १ ।

२. 'भवदेव' सम्भवतः पिङ्गल छन्दःसूत्र का व्याख्याता है । निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित छन्दःसूत्र में इसके अनेक उद्धरण दिये गये हैं । प्रकृत विषय में पृष्ठ २३ देखें ।

३. पिङ्गलछन्दःसूत्र—'षट्के ककुम्मती' ।३।५६॥

४. पिङ्गलछन्दःसूत्र—'त्रिपाद् अणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या' ।३।५७।

गायत्री—नृभिर्येमानो हर्यतो (१) विचक्षणो (२)।
राजा देवः समुद्रियः (३) ॥ ऋ० ९।१०७।१६॥

इस मन्त्र में मध्यम पाद में चार अक्षर हैं।[1]

उष्णिक्—हरी यस्य सुयुजा विव्रता (१) वेरर्वन्तानु शेपा (२)।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन् (३) ॥ ऋ० १०।१०५।२॥

इस मन्त्र के मध्यम पाद में सात अक्षर हैं, और प्रथम तथा तृतीय में क्रमशः १० और ११ हैं। अतः मध्यम पाद के छोटा होने से यह पिपीलिक-मध्या उष्णिक् है।

अनुष्टुप्—पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये (१) परि वृत्राणि सक्षणिः (२)।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे (३) ॥ ऋ० ९।११०।१॥

इस त्रिपाद् अनुष्टुप् के मध्य (द्वितीय) पाद में ८ अक्षर हैं।

बृहती—अवीभोवीरमध्यसीमदेषुगाय (१) गिरे सहा विचेतम् (२)।
इन्द्रं नाम शून्यं शाकिनं वचो यथा (३) ॥

यह मन्त्र भी 'भवदेव' द्वारा उद्धृत है। इसके मध्यम पाद में केवल ७ अक्षर हैं।

यवमध्या— जिस तीन पांववाले छन्द का मध्यम पाद अधिक अक्षरों का हो, और प्रथम तथा तृतीय पाद में अल्प अक्षर हों, वह 'यवमध्या' विशेषण से विशिष्ट होता है।[2] यथा—

गायत्री—मिमीहि श्लोकमास्ये (१) पर्जन्य इव ततनः (२)।
गाय गायत्रमुक्थ्यम् (३)॥ ऋ० १।३८।१४॥

---

१. पिपीलिका च्योंटी को कहते हैं। उसके आगे-पीछे के दोनों भाग स्थूल होते हैं, मध्य भाग पतला होता है। इसलिये जिस त्रिपाद् छन्द का मध्य भाग न्यून अक्षरों का हो, उसे उपमा से पिपीलिकमध्या कहा जाता है। द्र०—निरुक्त ७।१३—'पिपीलिकमध्येत्यौपमिकम्'॥ दै०ब्रा० में भी यही निर्वचन है।

२. पिङ्गलछन्दःसूत्र—'विपरीता यवमध्या' (३।५८)। यव के दोनों ओर के भाग पतले होते हैं, और मध्य का स्थूल। इसी प्रकर जिस छन्द के आगे-पीछे के पाद अल्पाक्षरों के हों, और मध्य के पाद में अधिक अक्षर हों, उसे उपमा से 'यवमध्या' कहते हैं।

इस मन्त्र के प्रथम और तृतीय चरण में सात-सात अक्षर हैं, मध्यम पाद में ८ अक्षर हैं।

'उष्णिक्—सुदे॒वः स॑महासति (१) सुवीरो॑ नरो मरुतः समर्त्यः (२)।

यं त्राय॑ध्वे॒ स्याम॒ ते (३) ॥ ऋ० ५।५३।१५॥

इसके द्वितीय पाद में ११ अक्षर हैं। प्रथम में ८ और तृतीय में ७ अक्षर हैं। इस प्रकार यह यवमध्या उष्णिक् है।

इसी प्रकार त्रिपाद् अनुष्टुप् और त्रिपाद बृहती में भी जानना चाहिये।

ये शङ्कुमती, ककुम्मती, पिपीलिकमध्या और यवमध्या नामक छन्दोभेद पादबद्ध ऋङ्मन्त्रों में भी प्रयुक्त होते हैं। गद्यमन्त्रों में पाद के अभाव के कारण इनका प्रयोग नहीं हो सकता।

अक्षर-गणना से संबद्ध व्यूह तथा इयादि-भाव

पादबद्ध ऋङ्मन्त्रों के अक्षरों की गणना करते समय जब शास्त्रविहित पादाक्षर-संख्या पूर्ण नहीं होती, तब पादाक्षर-संख्या की पूर्ति के लिये उस पाद में श्रुत किसी सन्धिविशेष के व्यूह, अथवा किसी संयुक्त य-व के स्थान में इय-उव की कल्पना की जाती है। यथा—

व्यूह का लक्षण—मन्त्र में सिद्ध सन्धियों को तोड़कर दो स्वतन्त्र अक्षरों की कल्पना को 'व्यूह' कहते हैं।

व्यूह-स्थान—पादाक्षर की पूर्ति के लिये किन सन्धियों का व्यूह करना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण आचार्य शौनक ने इस प्रकार किया है—

व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः॥१७।२२,२३॥

अर्थात्—पाद में अक्षर-संख्या की न्यूनता होने पर उसकी सम्पद् =पूर्णता के लिये एकाक्षरीभाव (=सवर्णदीर्घ, गुणवृद्धि, पूर्वरूप) संधियों का व्यूहन करे, और क्षेप्र वर्ण (=अन्तस्थ वर्ण) के संयोगों को तत्सदृश स्वरों से व्यवधानयुक्त करे।

कात्यायन ने भी ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में लिखा है—

पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्।

अर्थात्—पाद की पूर्ति के लिए क्षैप्रसंयोग तथा एकाक्षरीभाव का व्यूहन करे।

एकाक्षरीभाव का व्यूह—जिन दो अक्षरों=स्वरों की सन्धि होकर एक अक्षर हो जाता है, उसे एकाक्षरीभाव सन्धि कहते हैं। पाणिनीय वैयाकरणों के मतानुसार तीन प्रकार का एकाक्षरीभाव होता है—सवर्णदीर्घरूप, गुणवृद्धिरूप और पूर्वरूप।

सवर्णदीर्घ—सास्माकेभिरे॒तरी॒ न शू॒षैः। ऋ० ६।१२।४॥

यह त्रिष्टुप्छन्दस्क मन्त्र का प्रथम चरण है। त्रिष्टुप् के चरण में ११ अक्षर होने चाहिएँ, परन्तु यहाँ हैं १० अक्षर। अतः एकाक्षर की न्यूनता की पूर्ति के लिये सास्माकेभि० में विद्यमान सवर्णदीर्घ सन्धि का व्यूह करके सा आस्माकेभि० इस प्रकार पाठ स्वीकार करने से इस चरण में ११ अक्षर उपपन्न हो जाते हैं।

गुणवृद्धि—वाय॒वायाहि दर्शतेमे सोमा॒ अरंकृताः। ऋ० १।२।१॥

ये गायत्र मन्त्र के दो चरण हैं। द्वितीय चरण के प्रारम्भिक इमे पद की इकार का प्रथम पाद के दर्शत पद के अ के साथ गुणरूप सन्धि होने से द्वितीय चरण में सात ही अक्षर रह जाते हैं, चाहिएं आठ। अतः यहाँ भी गुणरूप सन्धि दर्शतेमे का दर्शत इमे व्यूह करने से द्वितीय चरण में आठ अक्षर उपपन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार वृद्धि-संधि में भी समझना चाहिए।

पूर्वरूप—स नः पितेव सू॒नवेऽग्ने सूपाय॒नो भव। ऋ० १।१।९॥

ये भी गायत्र मन्त्र के दो पाद हैं। यहाँ भी द्वितीय पाद के आरम्भ के अग्ने पद के अकार का पूर्वरूप हो जाने से इस पाद में सात ही अक्षर रहते हैं। इसलिए यहाँ भी ८ अक्षरों की पूर्ति के लिये सूनवेऽग्ने में श्रुत पूर्वरूप सन्धि का सूनवे अग्ने इस प्रकार व्यूह किया जाता है।

क्षैप्रवर्ण-संयोग का व्यवधान वा व्यूह—आचार्य शौनक क्षैप्रवर्ण-संयोग में क्षैप्र=अन्तस्थ वर्ण से पूर्व स्वसदृश स्वर से व्यवधान मानता है, और कात्यायन क्षैप्रसंयोग में व्यूह की कल्पना करता है। यथा—

त्र्यम्बकं यजामहे। ऋ० ७।५९।१२॥

यह आनुष्टुभ मन्त्र का प्रथम चरण है। अतः इसमें आठ अक्षर होने चाहिएँ, परन्तु हैं सात। अतः यहाँ त्र्य में त्रिय इस प्रकार इ का व्यवधान अथवा त्रिअ ऐसा व्यूह करने से इस पाद में भी आठ अक्षर उपपन्न हो जाते हैं।

शौनक और कात्यायन के मतों में भेद—हमने क्षैप्रसंयोग का जो

उदाहरण दिया है, उसमें दोनों के मत में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। चाहे त्र्य में य से पूर्व इ का व्यवधान त्रिय मानें, अथवा त्रिअ ऐसा व्यूह करें, आठ अक्षर बन जाते हैं।

शौनक-वचन के व्याख्याताओं में मतभेद—हमने शौनक के जो वचन पूर्व उद्धृत किए हैं, उनकी व्याख्या में व्याख्याकारों का मतभेद है। कई व्याख्याकारों का मत है कि जहां क्षैप्र (यण्) सन्धि होने से दो अक्षरों के स्थान में एकाक्षरीभाव (त्रि+अ=त्र्य) हो जाता है, वहां व्यूहेदेकाक्षरीभावान् सूत्र से व्यह करके वर्णसम्पत्ति (=संख्या की पूर्ति) करनी चाहिए। इन व्याख्याकारों के मत में त्र्यम्बकम् में व्यूहेदेकाक्षरीभावान् सूत्र से व्यूह (त्रि अ) होगा। इसलिये ये व्याख्याता क्षैप्रवर्णांश्च सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—जहां विना क्षैप्र सन्धि के क्षैप्रवर्णों का संयोग हो, वहां क्षैप्रवर्णांश्च सूत्र से सदृशस्वर का व्यवधान करना चाहिये।[1] इसलिये क्षैप्रवर्णांश्च सूत्र का उदाहरण होगा—

गोर्न पर्व॒ विर॑दा ति॒रश्चा। ऋ० १।६१।१२॥

यह त्रिष्टुप्छन्दस्क मन्त्र का एक चरण है। अतः इसमें ग्यारह अक्षर होने चाहिएँ, परन्तु हैं दस। अतः ग्यारह अक्षर की पूर्ति के लिए पर्व पद में श्रूयमाण र्व क्षैप्रसंयोग में व से पूर्व सदृश स्वर उ का व्यवधान करके पर्व को परुव बनाकर अक्षर-गणना करनी चाहिए। इस प्रकार उ का व्यवधान करने से इस चरण में ग्यारह अक्षर उपपन्न हो जाते हैं।

कात्यायन ने सदृशवर्ण-व्यवधान पक्ष का निर्देश नहीं किया। वह केवल व्यूहन का ही विधान करता है। व्यूहन=(सन्धिच्छेद) वहीं होता है, जहाँ सन्धि हुई हो। अतः कात्यायन के मत में र्व में व्यूहन न होगा।

इय आदि भाव—आचार्य पिङ्गल ने पादाक्षर की पूर्ति के लिए इय-उव भाव की कल्पना करने का विधान किया है। यथा—

इयादिपूरणः।३।२॥

अर्थात्—पाद की पूर्ति के लिए इय-उव की कल्पना करनी चाहिए।

पिङ्गलमतानुयायी जयदेव—पिङ्गल के मत का अनुसरण करते हुए जयदेव ने भी इय आदि से ही पाद-पूर्ति मानी है।

पिङ्गल और जयदेव ने अपने शास्त्र में इस बात का यत्किञ्चित् भी

---

१. देखिए उक्त सूत्रों की उव्वट की व्याख्या।

संकेत नहीं किया कि पादपूर्ति के लिए इय आदि भाव किस स्थान पर किए जाएँ? इसी प्रकार आदि शब्द से केवल उव भाव का ही संग्रह इष्ट है, अथवा शौनक आदि द्वारा स्वीकृत व्यूह का भी। पिङ्गल के व्याख्याता हलायुध ने भी कुछ संकेत नहीं किया। जयदेव के टीकाकार हर्षट ने केवल उव-भाव का संग्रह दर्शाया है।

टीकाकारों द्वारा उदाहृत मन्त्र—पिङ्गल और जयदेव के छन्दःशास्त्रों के व्याख्याकारों ने सूत्र की व्याख्या में तत्सवितुर्वरेण्यम् यह गायत्र पाद उद्धृत किया है। उनके मतानुसार वरेण्यम् को वरेणियम् मानने से पादाक्षर की पूर्ति हो जाती है।[1]

उव-भाव—इसी प्रकार पादाक्षर की पूर्ति के लिए उव-भाव द्वारा तन्वम् के स्थान में तनुवम्, स्वः के स्थान में सुवः आदि की प्रकल्पना की जाती है।

हर्षट का गूढ़ संकेत—जयदेव के छन्दःशास्त्र के व्याख्याता भट्ट मुकुल के पुत्र हर्षट ने इय-उव भाव क्यों करना चाहिए, इसके विषय में एक गूढ़ संकेत किया है। वह लिखता है—

'यथा क्वचिद् यागे चतुर्विंशत्यक्षरया गायत्र्या स्तोत्रे कर्तव्ये त्रयोविंशत्यक्षरया तन्न कृतं स्यात्, इत्याशङ्क्याह—आर्षं पादमियादिना।' (३।१,२,३)।

अर्थात्—किसी याग में २४ अक्षरवाली गायत्री से स्तोत्र सम्पन्न करने पर २३ अक्षरों की ऋचा से वह स्तोत्र सम्पन्न न होगा। इसलिए इय-उव द्वारा चौबीस अक्षरों की कल्पना करनी चाहिए।

हमारे विचार में हर्षट का लेख ठीक है, और सम्भवतः व्यूह की कल्पना के मूल में भी यही बात निहित हो। इस संकेत का गहरा अनुशीलन करने से व्यूह तथा इय आदि भाव के कल्पनाविषयक तत्व समझ में आयें।

व्यूह तथा इयादि भाव से सम्बद्ध अन्य विषय—उक्त अक्षरगणना

---

१. यह ध्यान रहे कि 'व्यूह' अथवा 'इय' आदि के द्वारा बढ़े हुए अक्षरों का उच्चारण नहीं किया जाता। व्यूह तथा इयादि भाव की कल्पना तो केवल अक्षरगणना की पूर्ति के लिये ही की जाती है। अतः मन्त्र के पाठ में यथाश्रुत अक्षरों का ही उच्चारण करना चाहिये। अर्थात् पिङ्गल के उक्त सूत्र के आधार पर 'वरेण्यम्' को 'वरेणियम्' पढ़ना अशुद्ध है।

से सम्बद्ध व्यूह (=सन्धि-विच्छेद) तथा इयादि भाव से सम्बद्ध निम्न मीमांस्य विषय हैं—

१—व्यूह तथा इयादि भाव की कल्पना के विना भी जब शुद्ध (यथाश्रुत) अक्षरगणना के अनुसार छन्दोनिर्देश सम्भव है, तब ब्राह्मणग्रन्थों तथा सर्वानुक्रमसूत्रों में ऐसे छन्दों का निर्देश क्यों किया जाता है, जिनमें पादाक्षर की पूर्ति के लिए व्यूह आदि की कल्पना करनी पड़ती है ?

२—जिन छन्दों में व्यूह आदि करने पर भी पादाक्षर की पूर्ति का संभव नहीं, ऐसे छन्दों का ब्राह्मणों के प्रवक्ता और सर्वानुक्रमसूत्रों के रचयिताओं ने निर्देश क्यों किया ?

इन विषयों की विशद मीमांसा हम आगे यथास्थान करेंगे ।

इस प्रकार इस अध्याय में छन्दःसम्बन्धी कतिपय सामान्य परिभाषाओं का निर्देश करके अगले अध्याय में केवल अक्षरगणनानुसारी दैव आदि छन्दों के विषय में लिखा जाएगा ॥

—:o:—

अष्टम अध्याय

केवल अक्षर-गणनानुसारी दैव आदि छन्द

षष्ठ अध्याय के आरम्भ में हमने वैदिक छन्दों के दो प्रधान भेदों का निर्देश किया है।[1] वे भेद हैं—केवल अक्षरगणनानुसारी और पादाक्षर-गणनानुसारी। इन दो प्रकार के छन्दों में से इस अध्याय में हम 'केवल अक्षरगणनानुसारी' छन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन करेंगे।

केवल अक्षरगणनानुसारी छन्दों के भेद—केवल अक्षरगणनानुसारी छन्दों के निम्न भेद हैं—

दैव, आसुर, प्राजापत्य, आर्ष, याजुष, साम्न, आर्च, ब्राह्म।

उक्त छन्दों के दो विभाग—उक्त दैव आदि आठ छन्दों के दो प्रधान विभाग हैं। प्रथम—दैव, आसुर, प्राजापत्य और आर्ष छन्दों का चतुष्क। तथा द्वितीय—याजुष, साम्न, आर्च और ब्राह्म का चतुष्क।

प्रथम चतुष्क के दैव आसुर और प्राजापत्य तीनों छन्दों के मिलकर जितने अक्षर होते हैं, उतने ही अक्षर इस चतुष्क के आर्ष छन्द में होते हैं। इसी प्रकार द्वितीय चतुष्क के याजुष साम्न और आर्च छन्दों के मिलकर जितने अक्षर होते हैं, उतने ही अक्षर इस चतुष्क के ब्राह्म छन्द में होते हैं (आगे उद्धृत कोष्ठकों में अक्षरसंख्या देखें)। इसी आधार पर ये छन्द दो चतुष्कों में विभक्त होते हैं।

दैव आदि छन्दों का प्रथम द्वितीय सप्तक के साथ संबन्ध—दैव आदि केवल अक्षरगणनानुसारी छन्द पूर्व अध्याय में निर्दिष्ट चार वर्गों के २६ छन्दों में से प्रथम और द्वितीय सप्तक के ही माने जाते हैं। परन्तु इस विषय में छन्दःप्रवक्ताओं में पर्याप्त मतभेद हैं। यथा—

प्रथम चतुष्क—पिङ्गल-छन्दःसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, उपनिदानसूत्र और जयदेवीय छन्दःशास्त्र में प्रथम चतुष्क के दैव आदि छन्द केवल प्रथम सप्तक (गायत्री आदि) के दर्शाए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थ भी इसी पक्ष का अनुमोदन करते हैं।[2] परन्तु निदानसूत्र में प्रथम चतुष्क के दैव आदि छन्द द्वितीय सप्तक (अतिजगती आदि) के भी माने गये हैं।

---

१. पृष्ठ ८८।

२. इस विषय की विवेचना इसी अध्याय में आगे विस्तार से की जाएगी।

द्वितीय चतुष्क—द्वितीय चतुष्क के याजुष आदि छन्दों का निर्देश निदानसूत्र में नहीं है। ऋक्प्रातिशाख्य, पिङ्गलसूत्र, उपनिदानसूत्र और जयदेव के छन्दःशास्त्र में याजुष आदि भेद प्रथम सप्तक के दर्शाए गए हैं।

ऋक्सर्वानुक्रमणी में दैव आदि छन्दों का अभाव—कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में जिन छन्दों का निर्देश किया है,वे याज्ञिक सम्प्रदायानुसारी छन्द हैं।[1] याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुसार पद्य=ऋङ्मन्त्रों में केवल अक्षर-गणनानुसारी छन्दों का आश्रय कहीं नहीं लिया जाता। अतः कात्यायन ने इन दैव आदि छन्दों का निर्देश नहीं किया। शौनक तथा गार्ग्य आदि आचार्य ऋङ्मन्त्रों में भी केवल अक्षरगणनानुसारी छन्दों का निर्देश युक्त मानते हैं। अतः एव उन्होंने अपने ऋङ्मन्त्रों के छन्दोबोधक ग्रन्थों में दैव आदि छन्दों का वर्णन किया है।[2]

दैव आदि छन्दों के सामान्य लक्षण

दैव आदि छन्दों की सोदाहरण व्याख्या लिखने से पूर्व हम इन छन्दों के सामान्य लक्षण लिखते हैं। यतः अगले प्रकरण में दैव आदि नाम गायत्री आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ प्रयुक्त होंगे, अतः इनका निर्देश यथास्थान दैवी आदि स्त्रीलिङ्ग रूप में भी किया जाएगा।

दैव—इस छन्द का आरम्भ १ अक्षर से होता है, और इसमें उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि होती जाती है। तदनुसार गायत्री १, उष्णिक २, अनुष्टुप् ३, बृहती ४, पंक्ति ५, त्रिष्टुप् ६, और जगती ७ अक्षरों की होती है। पतञ्जलि के मत में यह अक्षरवृद्धि द्वितीय सप्तक में भी होती है।

आसुर—इस छन्द का आरम्भ १५ अक्षरों से होता है। यह दैव छन्द का प्रतिद्वन्द्वी है। अतः इसमें उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर का ह्रास होता है। तदनुसार गायत्री १५,उष्णिक् १४,अनुष्टुप् १३, बृहती १२,पंक्ति ११, त्रिष्टुप् १०, और जगती ९ अक्षरों की होती है। पतञ्जलि के मत में द्वितीय सप्तक के छन्दों के भी आसुर भेद होते हैं, और उनमें भी उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर का ह्रास होता है।

प्राजापत्य—इस छन्द का आरम्भ ८ अक्षरों से होता है, और उत्तरोत्तर इसमें चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है। यथा—गायत्री ८, उष्णिक् १२, अनुष्टुप् १६,बृहती २०,पंक्ति २४, त्रिष्टुप् २८, और जगती ३२ अक्षरों की।

---

१. इस विषय की विवेचना आगे की जायेगी।

२. अनेक प्राचीन छन्दःप्रवक्ता ऋङ्मन्त्रों में दैव आदि छन्दों का निर्देश युक्त मानते हैं। इसकी सोदाहरण विशद मीमांसा आगे की जाएगी।

पतञ्जलि के मत में द्वितीय सप्तक के छन्दों में भी इसी प्रकार उत्तरोत्तर चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है।

आर्ष—इस छन्द की अक्षरसंख्या स्ववर्गीय दैव, आसुर और प्राजापत्य छन्दों के सम्मिलित अक्षरों के बराबर होती है। तदनुसार आर्षी गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, और जगती ४८ अक्षरों की होती है। पतञ्जलि के मत में यह छन्दोभेद उत्तर सप्तक में भी माना जाता है।

पद्य-छन्द आर्ष के भेद—ऋक् (पादबद्ध) मन्त्रों के जितने प्रकार के छन्द हैं, वे सब इस आर्ष छन्द के ही भेद हैं। शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है—

ऋषीणां तु त्रयो वर्गाः सप्तकाः,……। १६।१४॥
ऋषिच्छन्दांसि।१६।१५॥

अर्थात्—ऋषिछन्द के सात-सात के ३ वर्ग हैं……। [यहाँ से आगे] ऋषिछन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन होगा।

पिंगल के मत में आर्ष छन्द लोक में भी प्रयुक्त होते हैं, यह हम गत अध्याय के अन्त में लिख चुके हैं।

याजुष—यह छन्द आर्ष छन्द के एक पाद (चरण) के बराबर माना गया है।[1] तदनुसार इस छन्द का आरम्भ ६ अक्षरों से होता है, और उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है। अर्थात् गायत्री ६, उष्णिक् ७, अनुष्टुप् ८, बृहती ९, पंक्ति १०, त्रिष्टुप् ११, और जगती १२ अक्षरों का होता है।

साम्न—यह छन्द आर्ष छन्द के दो पादों के बराबर होता है।[2] अतः इसका आरम्भ १२ अक्षरों से होता है, और प्रत्येक में उत्तरोत्तर दो-दो अक्षर बढ़ते हैं। तदनुसार गायत्री १२, उष्णिक १४, अनुष्टुप् १६, बृहती १८, पंक्ति २०, त्रिष्टुप् २२, और जगती २४ अक्षरों का होता है।

आर्च—यह छन्द आर्ष छन्द के तीन पादों के बराबर माना गया है।[2] इसलिए इस छन्द का आरम्भ १८ अक्षरों से होता है, और प्रत्येक में उत्तरोत्तर

१. 'तत्पादो यजुषां छन्दः, साम्नां तु द्वौ, ऋचां त्रयः।' ऋक्प्राति० १६।१०॥ इसी प्रकार अन्यत्र भी।

२. द्रष्टव्य—याजुष की उपर्युक्त टिप्पणी नं० १।

तीन-तीन की वृद्धि होती है। तदनुसार गायत्री १८, उष्णिक् २१, अनुष्टुप् २४, बृहती २७, पंक्ति ३०, त्रिष्टुप् ३३, और जगती ३६ अक्षरों की होती है।

ब्राह्म—इस छन्द की अक्षरसंख्या अपने चतुष्क की याजुष साम्न और आर्च छन्दों की सम्मिलित अक्षरसंख्या के बराबर होती है। तदनुसार गायत्री ३६, उष्णिक् ४२, अनुष्टुप् ४८, बृहती ५४, पंक्ति ६०, त्रिष्टुप् ६६, और जगती ७२ अक्षरों की होती है।

इस प्रकार दैव आदि छन्दों के सामान्य लक्षण लिखकर अब हम क्रमशः गायत्री आदि प्रत्येक छन्द के दैवी आदि भेदों का सोदाहरण वर्णन करते हैं। इन छन्दों के भेद-प्रभेद के लिए जहां हमें कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हुआ, वहां उदाहरण नहीं दिया है। वैदिक विद्वानों को उनके उदाहरण ढूंढ़ने चाहिएं।

गायत्री छन्दः

दैवी—इस गायत्री में एक अक्षर होता है। यथा

ओम्[1] ॥ भूः ॥

आसुरी—इस गायत्री में १५ अक्षर होते हैं। यथा—

आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूभु॒र्वः स्वरोम्।
२ १ १ ३ २ ३ २ १ ११ १ २ ३ १ २

भगो न चित्रो अग्निर्महोना दधाति रत्नम्।

साम पू० ५।२।२।३ (उपनिदाने)॥

प्राजापत्या—इस छन्द में ८ अक्षर होते हैं। यथा—

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि। यजुः ८।८ (दयानन्दभाष्ये[2])॥

आर्षी—इन छन्द में २४ अक्षर होते हैं। यथा—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ ऋ० १।१।१॥

याजुषी—इस छन्द में ६ अक्षर होते हैं। यथा—

अक्षि॑ति॒ भूय॑सीम्। अथर्व० १८।४।२७ (बृहत्सर्वा०)॥

---

१. 'किं छन्द इति। गायत्रं हि छन्दः। गायत्री वै देवानामेकाक्षरा'। गो० ब्रा० १।१।२७॥ 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, अग्निर्देवता, ब्रह्म इत्यार्षम्, गायत्रं छन्दः।' नारायणोपनिषद्।

२. यहां दयानन्द भाष्य के 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है।

साम्नी—इस छन्द में १२ अक्षर होते हैं। यथा—

उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा। यजः ७।१६ (द० भाष्ये)॥

आर्ची—इस छन्द में १८ अक्षर होते हैं।

ब्राह्मी—इस छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। यथा—

बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धामं भवति तस्य प्राच्यां दिशि। अथर्व० १५।२।४ (बृहत्सर्वा०)॥

उष्णिक् छन्दः

दैवी—दैवी उष्णिक् में दो अक्षर होते हैं। यथा—

भुवः॥ (ओं भुवः—प्राणायाम मन्त्र)।

आसुरी—इस उष्णिक् में १४ अक्षर होते हैं। यथा—

दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदि नक्षत्। यजुः ८।५३ (द० भाष्ये)॥

प्राजापत्या—इस उष्णिक् में १२ अक्षर होते हैं। यथा—

एनसएनसोऽवयजनमसि। यजुः ८।१३ (द० भाष्ये)॥

आर्षी—इस उष्णिक् में २८ अक्षर होते हैं। यथा—

बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ २ ऋध्यासम्। यजुः ८।९ (द० भाष्ये)॥

याजुषी—इस उष्णिक् में ७ अक्षर होते हैं। यथा—

माहिर्भूर्मा पृदाकुः॥ यजुः ८।२३ (द० भाष्ये)॥

साम्नी—इस उष्णिक् में १४ अक्षर होते हैं। यथा—

मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। यजुः ८।१३ (द० भाष्ये)॥

आर्ची—इस उष्णिक् में २१ अक्षर होते हैं। यथा—

उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा। यजु० ७।३२ (द० भाष्ये)॥

ब्राह्मी—इस उष्णिक् में ४२ अक्षर होते हैं। यथा—

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा॥ यजुः ७।११ (द० भाष्ये)॥

अनुष्टुप् छन्दः

दैवी—दैवी अनुष्टुप् में ३ अक्षर होते हैं। यथा—

हृदयम्। (ओं हृदयम्—इन्द्रियस्पर्श मन्त्र)

आसुरी—इस अनुष्टुप् में १३ अक्षर होते हैं। यथा—

प्राणायं मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। यजु० ७।२७ (द० भाष्ये)॥

प्राजापत्या—इस अनुष्टुप में १६ अक्षर होते हैं। यथा—

विवस्वन्नादित्यै॒ष ते॑ सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व। यजुः८।५(द०भाष्ये)॥

आर्षी—इस अनुष्टुप् में ३२ अक्षर होते हैं। यथा—

आ ति॑ष्ठ वृत्रह॒न् रथं॑ यु॒क्ता ते॒ ब्रह्म॑णा हरी॑।

अ॒र्वा॒ची॒नꣳ सु ते॒ मनो॒ ग्रावा॑ कृणोतु व॒ग्नुना॑॥यजुः८।३३(द०भाष्ये)॥

याजुषी—इस अनुष्टुप् में ८ अक्षर होते हैं। यथा—

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि। यजुः ७।२५ (द० भाष्ये)॥

साम्नी—इस अनुष्टुप् में १६ अक्षर होते हैं। यथा—

भू॒तं च॑ भवि॒ष्यच्च परिष्कन्दो मनो॑ विप॒थम्। अथर्व०१५।२।६(बृहत्सर्वा०)॥

आर्ची—इस अनुष्टुप् में २४ अक्षर होते हैं। यथा—

शुम्भ॑न्तां लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑ने त्वा लो॒क आ सा॑दयामि॥

अथर्व०१८।४।६७ (बृहत्सर्वा०)॥

ब्राह्मी—इस अनुष्टुप् में ४८ अक्षर होते हैं। यथा—

अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः। अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒-

मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पुरु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि॥ यजु० ३।४८ (द०भाष्ये)॥

बृहती छन्दः

दैवी—दैवी बृहती में ४ अक्षर होते हैं। यथा—

भूर्भु॑वः॒ स्वः॑॥ यजु० ३।५ (द० भाष्ये)॥

आसुरी—इस बृहती में १२ अक्षर होते हैं। यथा—

नमो॑ वः पितरः स्व॒धा वः॑ पितरः॥ अथर्व०१८।४।८५(बृहत्सर्वा०)॥

प्राजापत्या—इस बृहती में २० अक्षर होते हैं। यथा—

अ॒स्माकꣳ शत्रू॒न् परि॑ शूर वि॒श्वतो॑ द॒र्मा द॑र्षीष्ट वि॒श्वतः॥

यजु० ८।५३ (द० भाष्ये)॥

आर्षी—इस बृहती में ३६ अक्षर होते हैं। यथा—

आपो॑ दे॒वीर्बृ॑ह॒तीर्वि॑श्वशम्भुवो॒ द्यावा॑पृथि॒वी उरो॑ अ॒न्तरि॑क्ष ।
बृह॒स्पत॑ये ह॒विषा॑ विधेम॒ स्वाहा॑ ।। यजु० ४।७ (द० भाष्ये) ।।

याजुषी—इस बृहती में ९ अक्षर होते हैं । यथा—

र॒क्षो॒हणं॑ वलग॒हन॑म् । यजु० ५।२३ (द० भाष्ये) ।।

साम्नी—इस बृहती में १८ अक्षर होते हैं । यथा—

श॒क्रं त्वा॑ शु॒क्र आधू॑नो॒म्यह्नो॑ रू॒पे सूर्य॑स्य र॒श्मिषु॑ ।।
यजु० ८।४८ (द० भाष्ये)।।

आर्ची—इस बृहती में २७ अक्षर होते हैं ।

ब्राह्मी—इस बृहती में ५४ अक्षर होते हैं । यथा—

रा॒या व॒यꣳ स॑स॒वाꣳसो॑ मदेम ह॒व्येन॑ दे॒वा यव॑सेन॒ गावः॑ ।
तां धे॒नु॑ मित्रावरुणा यु॒वं नो॑ वि॒श्वाहा॑ धत्तमन॑पस्फुरन्तीमे॒ष ते॒
योनि॑र्ऋ॒तायु॒भ्यां॑ त्वा ।। यजु० ७।१० (द० भाष्ये) ।।

पंक्ति छन्दः

दवी—दैवी पंक्ति में ५ अक्षर होते हैं । यथा—

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । अथर्व० १५।१५।१ (बृहत्सर्वा०) ।।

आसुरी—इस पंक्ति में ११ अक्षर होते हैं । यथा—

सोमा॑य पि॒तृम॑ते स्व॒धा नमः॑ ।। अथर्व० १८।४।७२ (बृहत्सर्वा०)।।

प्राजापत्या—इस पंक्ति में २४ अक्षर होते हैं । यथा—

सोद॑क्राम॒त् सा दे॒वाꣳनाग॑च्छ॒त् तां दे॒वा अ॑घ्नत॒ सार्धमा॒से सम॑भवत्।।
अथर्व० ८।१०।(३) ५(बृहत्सर्वा०)।।

आर्षी—इस पंक्ति में ४० अक्षर होते हैं । यथा—

यस्ते॑ अश्व॒सनि॑र्भ॒क्षो यो गो॒सनि॒स्तस्य॑ त इ॒ष्टय॑जुषः स्तु॒तस्तो॑मस्य
श॒स्तोक्थ॒स्योप॑हूत॒स्योप॑हूत॒स्योह॒त॑तो भक्षयामि ।। यजु० ८।१२ (द० भाष्ये)।।

याजुषी—इस पंक्ति में १० अक्षर होते हैं । यथा—

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसी॒षे त्वा॑ ।। यजु० ७।३० (द० भाष्ये) ।।

साम्नी—इस पंक्ति में २० अक्षर होते हैं । यथा—

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
यजु० ५।२२ (द० भाष्ये)।।

आर्ची—इस पंक्ति में ३० अक्षर होते हैं । यथा—

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा । विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ यजु० ८।१ (द० भाष्ये) ॥

ब्राह्मी—इस पंक्ति में ६० अक्षर होते हैं । यथा—

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्या इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा । अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः ॥ यजु० ४।२२(द० भाष्ये)॥

त्रिष्टुप् छन्दः

दैवी—इस त्रिष्टुप् में ६ अक्षर होते हैं । यथा—

अथो इयन्निति ॥ अथर्व० २०।१३०।१८॥

आसुरी—इस त्रिष्टुप् में १० अक्षर होते हैं । यथा—

वेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि ॥ यजु० ८।४८ (द० भाष्ये) ॥

प्राजापत्या—इस त्रिष्टुप् में २८ अक्षर होते हैं । यथा—

नास्यास्मिल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ अथर्व० १५।१२।११ (बृहत्सर्वा०) ॥

आर्षी—इस त्रिष्टुप् में ४४ अक्षर होते हैं । यथा—

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवींष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥
यजु० ८।१८ (द० भाष्ये) ॥

याजुषी—इस त्रिष्टुप् में ११ अक्षर होते हैं । यथा—

भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि ॥ यजु० ८।४ (द० भाष्ये) ॥

साम्नी—इस त्रिष्टुप् में २२ अक्षर होते हैं । यथा—

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् ॥
यजु० ८।३७ (द० भाष्ये) ॥

आर्ची—इस त्रिष्टुप् में ३३ अक्षर होते हैं । यथा—

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ यजु० ७।३८ (द० भाष्ये) ॥

ब्राह्मी—इस त्रिष्टुप् में ६६ अक्षर होते हैं । यथा—

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव ।

अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय।
अतस्त्वं देव वनस्पते-शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥
यजु० ५।४३ (द० भाष्ये) ॥

जगती छन्दः

दैवी—इस जगती में ७ अक्षर होते हैं। यथा—

तस्मै ध्रुवाया दिशः। अथर्व० १०।४।१३ (बृहत्सर्वा०)।

आसुरी—इस जगती में ९ अक्षर होते हैं। यथा—

तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्। अथर्व० १५।३। (बृहत्सर्वा०)।

प्राजापत्या—इस जगती में ३२ अक्षर होते हैं। यथा—

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। यजुः १।७ (द० भाष्ये)।

आर्षी—इस जगती में ४८ अक्षर होते हैं। यथा—

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳ स्वाहा ॥
यजुः ८।३० (द० भाष्ये)।

याजुषी—इस जगती में १२ अक्षर होते हैं। यथा—

ककुननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। यजुः ८।४ (द० भाष्ये) ॥

साम्नी—इस जगती में २४ अक्षर होते हैं। यथा—

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।
यजुः ४।२० (द० भाष्ये)।

आर्ची—इस जगती में ३६ अक्षर होते हैं। यथा—

ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद। अथर्व० १५।४।६ (बृहत्सर्वा०)।

ब्राह्मी—इस जगती में ७२ अक्षर होते हैं। यथा—

उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥
(यजुः ५।२७ द० भाष्ये) ॥

द्वितीय सप्तक

पतञ्जलि ने निदानसूत्र में प्रथम चतुष्क के दैवी, आसुरी, प्राजापत्या और आर्षी भेद द्वितीय सप्तक के छन्दों के भी दर्शाए हैं। इसलिए हम उन के भेद आगे लिखते हैं। यतः निदानसूत्र और पिङ्गलसूत्र आदि में द्वितीय सप्तक के नामों में भिन्नता है, इसलिए हम पहले ( ) कोष्ठक में पिङ्गलसूत्रानुसारी, तथा कोष्ठक के बाहर निदानसूत्रानुसारी नामों का उल्लेख करेंगे। यतः इन भेदों का निर्देश निदानसूत्र के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता, इसलिए किसी भी छन्दोनिर्देशक ने इन भेदों का निर्देश छन्दःप्रसंग में नहीं किया। अतः हम भी यहाँ उनके उदाहरण देने में इस समय असमर्थ हैं।

(अतिजगती) विधृति-छन्दः

दैवी—इस छन्द में ८ अक्षर होते हैं।
आसुरी—इस छन्द में भी ८ अक्षर होते हैं।
प्राजापत्या—इस छन्द में ३६ अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ५२ अक्षर होते हैं।

(शक्वरी) शक्वरी-छन्दः

दैवी—इस छन्द में ९ अक्षर होते हैं।
आसुरी—इस छन्द में ७ अक्षर होते हैं।
प्राजापत्या—इस छन्द में ४० अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ५६ अक्षर होते हैं।

(अतिशक्वरी) अष्टि-छन्दः

दैवी—इस छन्द में १० अक्षर होते हैं।
आसुरी—इस छन्द में ६ अक्षर होते हैं।
प्राजापत्या—इस छन्द में ४४ अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ६० अक्षर होते हैं।

(अष्टि) अत्यष्टि-छन्दः

दैवी—इस छन्द में ११ अक्षर होते हैं।
आसुरी—इस छन्द में ५ अक्षर होते हैं।
प्राजपत्या—इस छन्द में ४८ अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ६४ अक्षर होते हैं।

(अत्यष्टि) अंहः छन्दः

दैवी—इस छन्द में १२ अक्षर होते हैं।

आसुरी—इस छन्द में ४ अक्षर होते हैं।
प्राजापत्या—इस छन्द में ५२ अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ६८ अक्षर होते हैं।

(धृति) सरित्-छन्दः

दैवी—इस छन्द में १३ अक्षर होते हैं।
आसुरी—इस छन्द में ३ अक्षर होते हैं।
प्राजापत्या—इस छन्द में ५६ अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ७२ अक्षर होते हैं।

(अतिधृति) सम्पा-छन्दः

दैवी—इस छन्द में १४ अक्षर होते हैं।
आसुरी—इस छन्द में २ अक्षर होते हैं।
प्राजापत्या—इस छन्द में ६० अक्षर होते हैं।
आर्षी—इस छन्द में ७६ अक्षर होते हैं।

दैव आदि छन्द और ब्राह्मण ग्रंथ

ब्राह्मणग्रन्थों में दैव आदि दो चतुष्कों के आठ छन्दों में से केवल दैव और आसुर छन्दों का ही वर्णन मिलता है। ताण्डय ब्राह्मण १२।१३।२७ में लिखा है—

एकाक्षरं वै देवानामवमं छन्द आसीत्, सप्ताक्षरं परम्।
नवाक्षरमसुराणामवमं छन्द आसीत्, पञ्चदशाक्षरं परम्॥

अर्थात्—देवों का छोटा छन्द एक अक्षर का था और बड़ा सात अक्षर का। असुरों का छोटा छन्द नौ अक्षरों का था और बड़ा पन्द्रह अक्षरों का।

ब्राह्मण ग्रन्थ के इस वचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि दैव छन्द उत्तरोत्तर वर्धमानाक्षर हैं, और असुरों के छन्द ह्रसमानाक्षर।

तै० सं० ६।६।१ में लिखा है—षडक्षराण्यतिरेचयन्ति। अर्थात् आसुर छन्द के १५ अक्षरों में से क्रमशः ६ अक्षर न्यून होकर छोटा आसुर छन्द ६ अक्षरों का होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ और निदान-सूत्र में भिन्नता

ताण्डय ब्राह्मण के पूर्व उल्लिखित वचन से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण प्रवक्ता दैव और आसुरी छन्दोंभेद केवल प्रथम सप्तक के ही मानते हैं, द्वितीय सप्तक के नहीं। परन्तु निदानसूत्र-प्रवक्ता पतञ्जलि ने प्रथम चतुष्क के चारों

छन्दोभेद प्रथम और द्वितीय दोनों सप्तकों के माने हैं (यह हम पूर्व लिख चुके हैं)। तदनुसार दैव छन्दों की अक्षरसंख्या एकाक्षर गायत्री से बढ़ते-बढ़ते द्वितीय सप्तक के अन्तपर्यन्त १४ तक पहुँचती है। उसके अनन्तर आसुर छन्दों की अक्षरसंख्या गायत्री की १५ वीं संख्या से घटते-घटते द्वितीय सप्तक के अन्त पर्यन्त २ संख्या तक उतरती है।

निदानसूत्र की व्याख्या—निदानसूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट दैव और आसुरी छन्दों की अक्षरसंख्याओं के सम्मिश्रण से एक ऐसा वृत्त बनता है, जिसके पूर्व अर्धभाग में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, और उत्तरार्ध में क्रमशः ह्रास होता है। इस प्रकार पूरे वृत्त के २८ विभाग बनते हैं।

भारतीय इतिहास में २८ संख्या का महत्त्व—भारतीय इतिहास में २८ संख्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय इतिहास में काल के अनेक विभागों को अट्ठाईस-अट्ठाईस उपविभागों में बांटा गया है। यथा—

क—जगत् के सर्गकाल को १४ मन्वन्तरों[1] और प्रलयकाल को १४ मन्वन्तरों में बाँटा गया है। अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन और एक रात (= सर्ग-प्रलय) के २८ मन्वन्तररूपी अवान्तर विभाग किए गए हैं।

ख—पुराणों में प्रत्येक युग को अट्ठाईस-अट्ठाईस अवान्तर विभागों में बाँटा गया है। और इनकी 'परिवर्त' संज्ञा रखी है।[2]

इस अट्ठाईस संख्या का माहात्म्य अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

इस प्रकार काल के विभिन्न २८ उपविभागों की दैव और आसुर छन्दों की क्रमशः वर्धमान और ह्रसीयमान (१४+१४=२८) अट्ठाईस संख्या से तुलना करने पर व्यक्त होता है कि इन दैव और आसुर छन्दों के छन्द-शास्त्रोक्त अक्षरसंख्या-विभाग निश्चय ही किसी आधिदैविक तत्त्व के अनुकरण पर किए गए हैं।[3]

---

१. आर्यों के इन १४ मन्वन्तरों ने मुसलमानों के यहाँ १४ सदियों का रूप धारण किया है। वे भी १४वीं सदी के अन्त में प्रलय मानते हैं। अब अनेक मुसलिम विद्वान् १४वीं सदी की इयत्ता नहीं मानते।

२. द्वापर के अवान्तर विभागों (परिवर्तों) के लिए देखिए वायु-पुराण अ० २३, श्लोक ११८—२१८ तक। त्रेता के कुछ परिवर्तों की संख्या, वायुपुराण अ० ७० श्लोक ३१,४८।

३. यज्ञों की कल्पना भी आधिदैविक जगत् के अनुकरण पर की गई है। इसके लिए देखिए हमारा 'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा' ग्रन्थ। तथा 'मीमांसा-शाबर भाष्य हिन्दी-व्याख्या' ग्रन्थ प्रथम भाग के आरम्भ में 'श्रौत यज्ञ-मीमांसा'॥

हमारा विचार है कि जैसे प्राचीन कतिपय भारतीय आचार्य[1] तथा वर्तमान पाश्चात्य विद्वान् रात्रि की मध्य सीमा (१२ बजे) के अनन्तर अगले दिन का आरम्भ मानते हैं, उसी प्रकार दैव और आसुर छन्द भी सृष्टि की उत्पादक दैवी शक्तियों और प्रलय करनेवाली आसुरी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक स्वस्वरूप में स्थित नहीं रहता, उसमें वृद्धि अथवा क्षय अवश्य होता रहता है।[2] इस दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की स्वस्वरूप में पूर्ण अवस्था भी केवल एक क्षण के लिए ही होती है। प्रलय का यह एक क्षणमात्र काल ही सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्थारूप है। इससे पूर्व और उत्तर क्षण विकृतिरूप ही होते हैं।

दिन और रात का दृष्टान्त—जिस प्रकार सूर्यास्त के अनन्तर प्रकाश की मात्रा का उत्तरोत्तर ह्रास और अन्धकार की मात्रा की वृद्धि होती है, ठीक मध्य रात्रि की सीमा तक पहुँचते-पहुँचते प्रकाश की मात्रा अतिशय क्षीण हो जाती है, और अन्धकार अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। इसके उत्तर क्षण से ही अवस्था में विपरीत परिवर्तन होने लगता है। प्रतिक्षण प्रकाश की मात्रा बढ़ने लगती है, और अन्धकार घटता जाता है। सूर्योदय के काल में अन्धकार सर्वथा क्षीण हो जाता है। तत्पश्चात् दिन के मध्यभाग तक सूर्य की प्रखरता बढ़ती जाती है, और मध्य दिन की सीमा का अतिक्रमण करके सूर्य की प्रखरता घटने लगती है।

इसी प्रक्रिया के अनुसार सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्थारूपी क्षण को सृष्टि के सर्ग और प्रलय का मध्य केन्द्र अथवा केन्द्र-बिन्दु मानकर दैव और आसुर छन्दों को वर्धमान और ह्रसीयमान अक्षरसंख्या की व्याख्या अत्यधिक युक्तिपूर्ण हो जाती है। तदनुसार दैव छन्द के उत्तरोत्तर वृद्धिवाले १४ अक्षर जगत् के सर्ग (उत्पत्ति) काल की उत्तरोत्तर वर्धमान १४ मन्वन्तररूपी विभागों में विभक्त सर्गात्मक दैवी शक्तियां हैं, और आसुर छन्द की ह्रसीयमान अक्षर-संख्या जगत् की १४ विभागों में विभक्त ध्वंसनात्मक शक्तियां हैं। ये आसुर

---

१. 'अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः'। काशिका १।२।५७ में उद्धृत पूर्वाचार्य वचन।

२. 'प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वर्धते वा यावदनेन वर्धितव्यम्, अपायेन वा युज्यते। तच्चोभयं सर्वत्र'। महाभाष्य ४।१।३॥

शक्तियां सृष्टि-तत्त्वों का ध्वंस करते-करते उन्हें पुनः साम्यावस्था तक पहुँचा देती हैं।

-जिस प्रकार सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्थारूपी क्षण ध्वंसावस्था का अन्तिम रूप सर्जनात्मक अवस्था के आरम्भ की मध्यवर्ती सीमा है, उसी प्रकार सृष्टि की पूर्णवृद्धि का अन्तिम क्षण ध्वंसनात्मक अवस्था के आरम्भ की मध्यवर्ती सीमा है। अब हम इस तत्त्व को वृत्तरूप में गोलाकार करके स्पष्ट करते हैं—
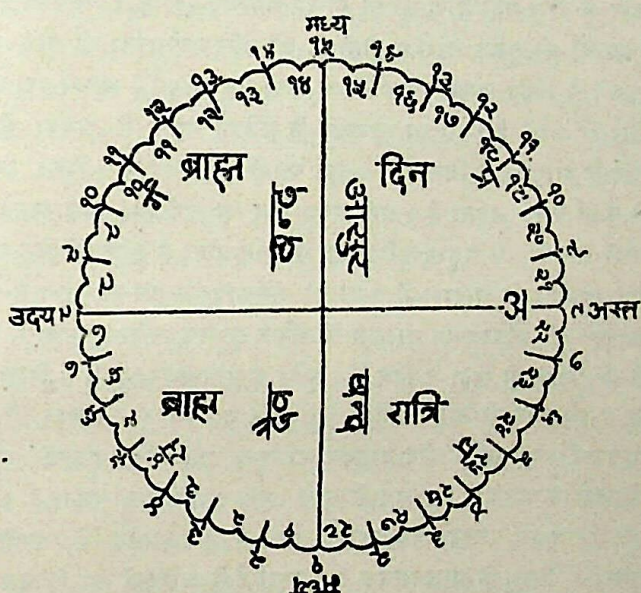
चित्रस्थ संकेतों का स्पष्टीकरण

(क) रेखा के बाहर की संख्या सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्था के उत्तर क्षण से सर्गात्मक दैवी शक्तियों के द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धयमान सर्ग (=उत्पत्ति) का निदर्शन कराती हुई १५ संख्या तक सर्ग की पूर्णावस्था को सूचित करती है। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर ह्रासात्मक संख्याओं के द्वारा पूर्णता को प्राप्त सर्ग के उत्तरोत्तर ह्रास का निदर्शन कराती हुई पुनः १ संख्या पर पहुँच कर सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्था अर्थात् पूर्ण प्रलय का संकेत करती है। ये ही वृद्ध्यात्मक दैवी छन्द हैं, और ह्रासात्मक आसुर छन्द।

(ख) रेखा के अन्दर की संख्या सर्ग और प्रलय के १४+१४ (=२८) मन्वन्तरों को सूचित करती है।

(ग) जैसे लोक में सूर्योदय से दिन का आरम्भ माना जाता है, उसी प्रकार उदय शब्द ब्राह्म दिन के आरम्भ का बोधक है। अस्त शब्द ब्राह्म दिन की समाप्ति का निदर्शक है। उदय और अस्त के बीच का 'मध्य' शब्द ब्राह्म दिन की मध्यता तथा अस्त और उदय के बीच का 'मध्य' शब्द ब्राह्म रात्रि की मध्यता को सूचित करता है।

उपर्युक्त चित्र तथा उसके स्पष्टीकरण से व्यक्त है कि चतुर्थ तामस मन्वन्तर तक तम की प्रधानता रहती है, अर्थात् इस काल तक उत्पन्न पदार्थ अन्धकार में लीन पदार्थों के समान इन्द्रिय-अगोचर होते हैं। तत्पश्चात् ऐसे स्थूल पदार्थों की सृष्टि आरम्भ होती है, जो इन्द्रिय-गोचरता की ओर अग्रसर होने लगते हैं। छठे चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त तक सम्पूर्ण स्थूल पदार्थों की निष्पत्ति हो जाती है। चाक्षुष मन्वन्तर के अन्तिम भाग में अथवा वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ में विवस्वान्=सूर्य अपनी कक्षा में स्थिर होकर नियमित रूप से कार्य करने लगता है। यही ब्राह्म दिन का सूर्योदय(=आरम्भ) काल है। इसी मन्वन्तर में मनुष्य-सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। पुराणों के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ में ब्रह्मा का सर्गकार्य समाप्त हो जाता है। इसी वैदिक तत्त्व की प्रतिच्छाया बाइबल में वर्णित सृष्ट्युत्पत्ति-प्रकरण में दिखाई पड़ती है। वहां भी खुदा ६ दिन में सृष्टि उत्पन्न करता है। (निश्चय ही वैदिक ६ मन्वन्तर ही बाइबल में ६ दिन बन गए हैं)। तत्पश्चात् पौराणिक ब्रह्मा सातवें मन्वन्तर में और बाइबल का खुदा सातवें दिन (सण्डे=रविवार =वैवस्वत मन्वन्तर) सर्गकार्य से मुक्त होकर विश्राम करता है। इसके अनन्तर विष्णु का पालन-कार्य आरम्भ होता है। वैवस्वत से अगले सात मन्वन्तरों में विष्णु के पालनात्मक कर्म द्वारा दैवी शक्तियों का विकास होता रहता है। इस प्रकार सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्था से लेकर १४ मन्वन्तर पर्यन्त सर्जनात्मक दैवी शक्तियों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। तत्पश्चात् दैवी शक्तियों का ह्रास और ध्वंसनात्मक आसुरी शक्तियों का उदय होता है। उनके द्वारा अगले सात मन्वन्तरों में वृद्धिगत पदार्थों का क्रमशः ह्रास होता है। तदनन्तर जैसे सूर्यास्त के बाद अन्धकार का आगमन होता है, उसी प्रकार प्रलय-कालीन सातवें मन्वन्तर के अनन्तर सृष्टि अदृश्य होने लगती है, और प्रलय काल के चौदहवें मन्वतर के अन्त तक सारा जगत् पुनः सत्त्वरजस्तम की साम्यवस्था तक पहुंच जाता है (इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वनिर्दिष्ट सृष्टि-वृत्त का चित्र देखें।)

ब्राह्मण ग्रन्थ आदि का अभिप्राय—ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उसके आधार

पर छन्दःशास्त्रों का प्रवचन करनेवाले आचार्यों ने दैवी छन्द के प्रथम सप्तक के ही वृद्धयात्मक भेद माने हैं। उनका अभिप्राय इतना ही है कि जैसे मध्यरात्रि के पश्चात् प्रकाश की मात्रा के बढ़ने और अन्धकार की मात्रा के घटने का जो उपक्रम होता है, वह सूर्योदय पर्यन्त समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जगत् की सत्त्वरजस्तमरूपी प्रलयावस्था के अनन्तर जगत् का जो सर्गकार्य आरम्भ होता है, वह सातवें वैवस्वत मन्वन्तर पर्यन्त समाप्त हो जाता है। इस प्रकार सर्गात्मक दैवी शक्तियों द्वारा उत्तरोत्तर होनेवाली सर्ग-वृद्धि सप्तक मन्वन्तर पर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों का सर्जन करके कृतकार्य हो जाती है। तथा जैसे मध्याह्न के पश्चात् दिन का ह्रास होने लगता है, उसी प्रकार सर्गावस्था के १४ वें मन्वन्तर के अन्त (ब्राह्म दिन के मध्य) में ध्वंसनात्मक आसुरी शक्तियों का उदय होता है, और वे आसुरी शक्तियाँ वृद्धि को प्राप्त पदार्थों को सात मन्वन्तर पर्यन्त क्रमशः क्षीण क्षीणतर और क्षीणतम करती जाती हैं। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों और छन्दःसूत्रों के प्रवक्ता आचार्यों ने दैवी और आसुरी आदि छन्दों के भेद प्रथम सप्तक के ही दर्शाए हैं।

निदानसूत्रकार का अभिप्राय—निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने दैवी और आसुरी आदि छन्दों के भेद द्वितीय सप्तक पर्यन्त दर्शाए हैं। उनका अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्योदय तक प्रकाश की मात्रा पूर्ण हो जाती है, पुनरपि मध्याह्न तक उसमें उत्तरोत्तर प्रखरता बढ़ती रहती है, उसी प्रकार सातवें मन्वन्तर तक सर्गकार्य के पूर्ण हो जाने पर भी अगले सात मन्वन्तरों में भी सर्गात्मक प्रवृत्तियां कुछ न कुछ सर्जन कार्य करती ही रहती हैं। इसी प्रकार जैसे सूर्यास्त के अनन्तर तम एक दम व्याप्त नहीं होता, उसमें शनैः शनैः वृद्धि होती है, उसी प्रकार ब्राह्म दिन के चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में सृष्टि का लय एक दम नहीं होता। उसका क्रमशः लय होता है। इसी सर्ग और प्रलयात्मक प्रवृत्तियों की पूर्ण व्याख्या करने के लिये निदानसूत्रकार ने ब्राह्म दिन और रात्रि के चौदह-चौदह मन्वन्तरों के अनुरूप दैवी और आसुरी छन्दों के प्रथम और द्वितीय दोनों सप्तकों (७+७=१४) के भेद स्वीकार किए हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में केवल अक्षरगणनानुसारी दैव आदि छन्दों के लक्षण, उदाहरण तथा उनके भेद-प्रभेदों की व्याख्या करके अगले अध्याय में हम पादबद्ध छन्दों के अन्तर्गत गायत्री, उष्णिक् और अनुष्टुप् छन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन करेंगे॥

—:०:—

नवम अध्याय

आर्च-छन्द (१)

गायत्री, उष्णिक् और अनुष्टुप्

पूर्व अध्याय में अक्षरगणनानुसारी गायत्री आदि छन्दों के जो भेद दर्शाए हैं, उनमें एक आर्षसंज्ञक भी है। अनेक छन्दःशास्त्रकारों के मतानुसार आगे लिखे जानेवाले आर्च-छन्द (ऋचाओं=पद्यमन्त्रों में प्रयुक्त होनेवाले छन्द) पूर्वनिर्दिष्ट तत्तत् छन्दों के आर्ष भेद के ही अवान्तर भेद-प्रभेद हैं। अब हम क्रमशः पूर्वप्रतिपादित गायत्री आदि के आर्ष भेद के अवान्तर भेद-प्रभेदों का वर्णन करेंगे।

इन आर्च-छन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन करनेवाले सम्प्रति निम्न ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

पिसू	पिङ्गलछन्दःसूत्र	उनिसू	उपनिदान सूत्र
ऋक्प्रा	ऋक्प्रातिशाख्य	जसू	जयदेवीय छन्दःसूत्र
ऋक्स	ऋक्सर्वानुक्रमणी		
निसू	निदानसूत्र	वेमाछ	वेङ्कटमाधवीय छन्दोऽनुक्रमणी

इनके अतिरिक्त एक याजुष सर्वानुक्रमणी भी है, उसके अन्तिम अध्याय में आर्च छन्दों का उल्लेख है। परन्तु वह अध्याय ऋक्सर्वानुक्रमणी से ज्यों का त्यों अक्षरशः उद्धृत किया गया है। अतः उसकी स्वतन्त्र सत्ता न होने से हमने उसका यहाँ निर्देश नहीं किया।

आर्च छन्दों के आगे लिखे जानेवाले भेद-प्रभेद उपर्युक्त ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध नहीं होते। इसलिए हम प्रत्येक भेद का उल्लेख करके उस-उस ग्रन्थ का संक्षिप्त संकेत करेंगे। इस संकेत में किस ग्रन्थ का क्या संक्षिप्त नाम लिखा जायेगा, इसका निर्देश हमने ऊपर ग्रन्थनामों के साथ दिया है।

गायत्री छंद

गायत्री छन्द में मुख्यतया तीन पाद होते हैं। किसी-किसी में एक, दो, चार और पांच पाद भी देखे जाते हैं। इसलिए गायत्री के पादसंख्या के अनुसार निम्न भेद होते हैं—

एकपदा, द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, पञ्चपदा।

त्रिपदा गायत्री के प्रत्येक पाद में प्रायः आठ-आठ अक्षर होते हैं। जब इन पादाक्षरों की संख्या में विपर्यास देखा जाता है, तब प्रत्येक पाद की अक्षर-संख्या का बोध कराने के लिए शास्त्रकारों ने उनकी पृथक्-पृथक् संज्ञाओं का उल्लेख किया है। इन संज्ञाओं के श्रवणमात्र से यह ज्ञान हो जाता है कि किस पाद में कितने अक्षर हैं?

पाद अथवा उनके अक्षरों के न्यूनाधिक होने से गायत्री छन्द के जितने भेद-प्रभेद शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं, उनका वर्णन हम आगे करते हैं—

गायत्री के भेद

गायत्री के भेदों में त्रिपदा गायत्री की प्रधानता होने से हम पहले त्रिपदा के भेद-प्रभेदों का वर्णन करेंगे। तत्पश्चात् चतुष्पदा, पञ्चपदा, द्विपदा और एकपदा के।

१—गायत्री—जब तीनों पादों में ८+८+८ (=२४) अक्षर समान रूप से होते हैं, तब वह छन्द सामान्य 'गायत्री' नाम से व्यवहृत होता है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ)। यथा—

> अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
> होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ ऋ० १।१।१॥

२—पादनिचृत्—जब तीनों पादों में प्रत्येक में ७+७+७ (=२१) अक्षर होते हैं, तब वह प्रत्येक पाद में निचृत्=एक अक्षर की न्यूनता[1] होने से 'पादनिचृद् गायत्री' कहलाती है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, उनिसू, वेमाछ)[2]। यथा—

> यु॒वाकु॒ हि शची॑नां यु॒वाकु॑ सुमती॒नाम्।
> भू॒याम॑ वाज॒दाव्ना॑म्॥ ऋ० १।१७।४॥

ऋक्प्रातिशाख्य १६।२१ में इसका नाम विराड् गायत्री भी लिखा है।

३—अतिपादनिचृद्—जब प्रथम पाद में ६, द्वितीय में ८, और तृतीय में ७ अक्षर (६+८+७=२१ अक्षर) होते हैं, तब उसे 'अतिपादनिचृद गायत्री' कहते हैं (पिसू)। यथा—

---

१. 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ'। पिसू० ३।५९॥

२. इन नामनिर्देशों में जिस ग्रन्थ का संकेत न हो, उसमें उक्त छन्द का अभाव जानना चाहिए। यथा—यहां 'निसू' संकेत न होने से निदानसूत्र में इसका निर्देश नहीं है। ऐसा समझना चाहिए।

प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।
अग्निं रथं न वेद्यम् ॥ ऋ० ८।८४।१॥

४—अतिनिचृत्—तीनों पादों में क्रमशः ७+६+७ (=२०) अक्षर होने पर 'अतिनिचृद् गायत्री' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि।
वाजेभिर्वाजयताम् ॥ ऋ० ६।४५।२ ॥

५—ह्रसीयसी (अतिनिचृद्)—जब तीनों पादों में क्रमशः (६+६+७ (=१९) अक्षर होते हैं, तब वह 'ह्रसीयसी गायत्री' कहाती है (ऋक्स)। ऋक्प्रातिशाख्य में इसे 'अतिनिचृद्' नाम से ही स्मरण किया है। यथा—

प्रेष्ठम् प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम्।
अग्निं रथानां यमम् ॥ ऋ० ८।१०३।१०॥

ऋक्प्रातिशाख्य १६।२३ में इस मन्त्र के द्वितीय पाद को स्वभावतः षडक्षर माना है, और व्यूह से अष्टाक्षर।

६—वर्धमाना (क)—जब तीनों पादों में क्रमश, ६+७+८(=२१) अक्षर होते हैं, तब वह 'वर्धमाना' गायत्री' कहाती है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ ऋ० ६।१६।१॥

विशेष—निदानसूत्रकार ने इस मन्त्र के 'होता' पद को पूर्वान्वयी माना है। अतः उनके मत में तीनों पादों में क्रमशः ८+५+८ अक्षर होते हैं। 'होता' पद के पूर्वान्वयी होने में और उत्तरान्वयी होने में अर्थ में क्या भेद पड़ता है, इसकी मीमांसा हम 'छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' नामक अध्याय में विस्तार से कर चुके हैं।

७—वर्धमाना (ख)—ऋक्प्रातिशाख्य में किन्हीं आचार्यों के मत म जिसके पादों में क्रमशः ८+६+८ (=२२) अक्षर होते हैं, उसे भी 'वर्धमाना' कहा है। इसका उदाहरण अन्वेषणीय है।

८—प्रतिष्ठा—जब वर्धमाना(क) से विपरीत पादाक्षरसंख्या ८+७+६ (=२१) होती है, तब वह 'प्रतिष्ठा गायत्री' कहाती है (पिसू, ऋक्स, उनिसू, वेमाछ)। यथा—

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ऋ० १।२३।२१॥

९—वाराही—जब प्रथम पाद में ६, द्वितीय और तृतीय में नौ-नौ (६+९+९=२४) अक्षर होते हैं, तब वह 'वाराही'[1] गायत्री' कहाती है (पिसू)।

इस छन्द का उदाहरण अन्वेषणीय है।[2]

१०—नागी—जब वाराही से विपरीत ९+९+६ (=२४) पादाक्षर-संख्या होती है, तब वह 'नागी'[3] गायत्री' कहाती है (पिसू)। यथा—

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं भद्रं न हृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा त ओहैः॥ ऋ० ४।१०।१॥

११—यवमध्या—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ७+१०+७ (=२४) अक्षर होते हैं, वह 'यवमध्या[4] गायत्री' कहाती है (ऋप्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम्।
सोमो यः सुक्षितीनाम्॥ ऋ० ९।१०८।१३॥

विशेष—आचार्य पिङ्गल के मत में 'यवमध्या' विशेषण उन सभी त्रिपाद् छन्दों में प्रयुक्त हो सकता है, जिनके आदि और अन्त के पादों की

---

१. वराह (=सूवर) का मुख आगे से सूक्ष्म (=पतला) होता है, और मध्य तथा अन्त्य भाग (पुच्छ को छोड़कर अंसरूप भाग) स्थूल होता है। इसी प्रकार इस छन्द के पादाक्षरों की संख्या होने से इसे 'वाराही' कहते हैं।

२. निर्णयसागरमुद्रिते पिङ्गलसूत्रे सम्पादकेन वाराह्या 'अग्ने मृळ महाँ (१) असि य ई मा देवयुं जनम् (२)। इयेथ बर्हिरासदम् ॥' (ऋ० ४।९।१) इति यदुदाहरणमुपन्यस्तं तच्चिन्त्यम्। असिपदस्य अनुदात्तस्वरानुरोधात् पूर्वान्वयीत्वात्। तृतीयचरणे चैकाक्षरन्यूनत्वात्। वेणीरामशर्मव्याख्याते पिङ्गलीये वैदिकछन्दःप्रकरणे 'वीतं स्तुके-स्तुके (१) युवमस्मासु नियच्छतम् (२)। प्र प्रयज्ञपतिं तिर' (३)॥ (तै० आ० ३।११।२०) इति प्रत्तमुदाहरणमपि तृतीयपादस्य निचृत्वाच्चिन्त्यम्। यत्तु टिप्पण्यां 'पर' इति व्यूहत्वान्नवाक्षरत्वम उक्तं तद्व्यूह्यमानाक्षराज्ञानमूलकमेव।

३. नाग=सर्प के समान अग्रभाग और मध्यभाग स्थूल होने, और अन्त्य भाग के सूक्ष्म होने से इस प्रकार की गायत्री को 'नागी' कहते हैं।

४. जौ के दोनों छोर सूक्ष्म होते हैं, और मध्यभाग स्थूल होता है, वही अवस्था इस छन्द के पादाक्षरों की है। अतः उपमा से इसे 'यवमध्या' कहते हैं।

अक्षरसंख्या अल्प हो, और मध्यम पाद की अधिक हो (द्र०—पिसू ३।५८)।

१२—पिपीलिकमध्या—यह यवमध्या से विपरीत होती है। जिस छन्द के पादाक्षर क्रमशः ९+६+९ (...२४) होते हैं, वह 'पिपीलकमध्या'[1] गायत्री' कहाती है।

विशेष—पिङ्गल के मत में 'पिपीलिकमध्या' विशेषण उन सभी त्रिपाद् छन्दों में प्रयुक्त हो सकता है, जिनके आद्यन्त पादों में अधिक अक्षर हों, और मध्य पाद में न्यून (द्र०—पिसू ३।५७)।

१३—उष्णिग्गर्भा—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ६+७+११(=२४) अक्षर होते हैं, उसे 'उष्णिग्गर्भा[2] गायत्री, कहते हैं (ऋप्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

ता मे॒ अश्व्या॑नां॒ हरी॑णां नि॒तोश॑ना।
उ॒तो नु कृत्व्या॑नां नृ॒वाह॑सा॥ ऋ० ८।२५।२३॥

विशेष—यह उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार है। इसके प्रथम पाद में ५ अक्षर हैं, परन्तु 'श्व्या' में व्यूह करके इसे षडक्षर माना है। इसी प्रकार तृतीय चरण में १० अक्षर हैं, उसमें भी 'त्व्या' में व्यूह करके ११ अक्षर माने हैं। वस्तुतः जिसमें व्यूह न करना पड़े, ऐसा उदाहरण अन्वेषणीय है।

१४—भुरिग्गायत्री—जिस छन्द के पादाक्षर क्रमशः ८+१०+७ (=२५) हों, उसे 'भुरिग्गायत्री' कहते हैं (ऋक्प्रा, वेमाछ)। यथा—

वि॒द्वांसा॑वि॒द्दुरः॑ पृच्छे॒द् अवि॑द्वानि॒त्थाप॑रो अचे॒ताः।
नू चि॒न्नु मर्त्ते॒ अक्रौ॑॥ ऋ० १।१२०।२॥

विशेष—(क)—ऋक्सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का छन्द 'ककुबुष्णिक्' लिखा है।[3] सर्वानुक्रमणी के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य ने लिखा है कि ब्राह्मण

---

१. पिपीलिका चींटी को कहते हैं। उसके आगे-पीछे के भाग स्थूल होते हैं, और मध्यभाग (दोनो को जोड़नेवाला) सूक्ष्म होता है। यही अवस्था जिन छन्दों के पादाक्षरों की होती है, वे उपमा से 'पिपीलिकमध्या' कहाते हैं। 'पिपीलिकमध्येत्यौपमिकम्।' निरुक्त ७।१३॥

२. उष्णिक् छन्द में एक चरण में १२ अक्षर होते हैं, यह आगे कहेंगे। यहां तृतीय चरण में एकाक्षर न्यून (११ अक्षर का) पाद होने से इसे 'उष्णिग्गर्भा' कहा है।

३. 'आद्या गायत्री, द्वितीया ककुब्'...॥१।१२०॥

में इस ऋचा के भुरिग्गायत्री और ककुबुष्णिक् दोनों छन्द देखे जाते हैं।[1]

(ख) आचार्य पिङ्गल के मत में भुरिक् विशेषण उन सभी छन्दों के साथ लग सकता है, जिनमें नियताक्षर से एक अक्षर अधिक हो। तदनुसार 'भुरिग्गायत्री' स्वतन्त्र छन्दोभेद नहीं हो सकता।

१५—त्रिपाद् विराट्—जिसके तीनों पादों में ११+११×११ (=३३) अक्षर हों, वह 'त्रिपाद् विराड्गायत्री' कहाती है (पिसू)। यथा—

दुहीयन्मित्रधितये युवाकु राये चं नो मिमीतं वाजवत्यै।
इषे चं नो मिमीतं धेनमत्यै॥ ऋ० १।१२०।९॥

विशेष—(क)--ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी और वेङ्कट की छन्दोऽनुक्रमणी में इस छन्द को अनुष्टुप् का भेद माना है।

(ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्भाष्य में उक्त ऋक् का छन्द 'भुरिगनुष्टुप्' लिखा है।

१६—चतुष्पाद्—जिसमें चार पाद हों, और प्रत्येक में ६+६+६+६ (=२४) अक्षर हों, उसे 'चतुष्पाद् गायत्री' कहते हैं (पिसू, ऋक्प्रा, निसू, उनिसू, वेमाछ)। यथा—

इन्द्रः शचीपतिर् बलेन वीळितः।
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहि॥
ऋक्प्राति० १६।१७ में पठित।

पेटिलालकन्ते पेटाविटकन्ते।
तत्र ककुब्बद्धस् तजग्धि परेहि॥[2] निदानसूत्र में उद्धृत।[3]

१७—पदपंक्ति (क)—जिसके पांचों पादों में पांच-पांच अक्षर (५+५+५+५+५=२५) हों, वह 'पदपंक्ति गायत्री' कहाती है (ऋक्प्रा)। यथा—

घृतं न पूतं तनूरंरेपाः शुचि हिरंण्यम्।
तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः॥ ऋ० ४।१०।६॥

विशेष—(क) ऋक्प्रातिशाख्य १६।१९ में इस छन्द का शौनक ने

---

१. 'तत् किं 'विद्वांसाविद्दुरः' इत्यस्य गायत्रीत्वमुष्णिक्त्वं वोच्यते? इयं हि पञ्चविंशत्यक्षरा।......उच्यते ब्राह्मणद्वयदर्शनात्तदेवमुक्तम्। व्यूहेन चाक्षरसम्पत्तिः'॥

२. पाठ के अत्यन्त भ्रष्ट होने से इसका अभिप्राय कुछ भी समझ में नहीं आता।

३. इसे 'पाञ्चाला उदाहरन्ति' निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है।

यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह उदाहरण दो कारणोंसे चिन्त्य है। प्रथम—इसके पञ्चम चरण में छह अक्षर होने से उत्तर छन्द का यह उदाहरण होना चाहिए। दूसरा—'रोचत' को पादादि में मानने पर अनुदात्त नहीं हो सकता। अतः इस छन्द का वास्तविक उदाहरण अन्वेषणीय है।

(ख) पिङ्गल, गार्ग्य और पतञ्जलि इसको तथा अगली पदपंक्ति छन्दों को पंक्ति छन्द के अन्तर्गत पढ़ते हैं, इन्हें गायत्री का भेद नहीं मानते।

१८—पदपंक्ति (ख)—जिसके पांच पादों में से तीन में पांच-पांच अक्षर हों, एक में चार तथा एक में छह, वह 'पदपंक्ति गायत्री' कहाती है। (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)।

विशेष—चार अक्षरवाला पाद आदि में, अथवा द्वितीय, तृतीय, पञ्चम किसी भी स्थान पर हो सकता है। इसका कोई बन्धन नहीं है। षडक्षर प्रायः अन्त में ही देखा जाता है। यथा—

> अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः।
> रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥ ऋ० ४।१०।२॥

> एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
> अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥ ऋ० ४।१०।३॥

इनमें प्रथम मन्त्र के प्रथम चरण में, और दूसरे मन्त्र के तृतीय चरण में चार अक्षर हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।[1] सूत्रनिर्देश के अनुसार षडक्षर चरण भी अन्त्य से अन्यत्र भी उपलब्ध हो सकता है।

१९—(भुरिक्) पदपङ्क्ति (ग)—जिसके पाँच पादों में से चार में पाँच पांच अक्षर हों, और एक में छह, वह भी 'पदपंक्ति गायत्री' कहाता है (ऋक्स, वेमाछ)। ऋक्प्रातिशाख्य में इसे 'भुरिक् पदपंक्ति' कहा है। यथा—

> घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्।
> तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः॥ ऋ० ४।१०।६॥

विशेष—इसके विषय में प्रथम पदपंक्ति में लिखा विशेष वक्तव्य देखना चाहिए।

२०—द्विपदा (क)—जिस छन्द में बारह-बारह (१२+१२=२४) अक्षरों के दो पाद हों, वह 'द्विपदा गायत्री' कहाती है। इसका निर्देश केवल ऋक्प्रातिशाख्य में है। यथा—

> सनो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत्। ऋ० ८।४६।१३॥

१. चतुर्थ चरण में चार अक्षर ऋ० ४।१०।१ में मिलते हैं।

विशेष—मुद्रित ग्रन्थों में 'पुरस्थाता' पद के आगे पूर्ण विराम उपलब्ध होता है। उस अवस्था में द्विपदा होने पर भी बारह-बारह अक्षर के दो पाद नहीं बनते। अतः ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार मध्य में विराम नहीं होना चाहिए, और पूर्वपाद 'पुरूवसुः' तक समझना चाहिए। पूर्व चरण में बारह अक्षरों की पूर्ति 'व्व' में व्यूह करके करनी चाहिए।

२१—द्विपदा (ख)—जिस छन्द में आठ-आठ (८+८=१६) अक्षरों के दो पाद हों, वह 'द्विपदा गायत्री' कहाती है (निसू, उनिसू)। यथा—

३२ ३२३ ३ २३ २ ३ १ २ ३२ ३२
एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे।
साम पू० ५।६।२४ ।। (पूर्णसंख्या ४३८)

२२—द्विपाद् विराड् (क)—जिस छन्द में क्रमशः १२+८(=२०) अक्षरों के दो पाद हों, वह 'द्विपादविराड् गायत्री' कहाती है (पिसू)। यथा—

नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो।
राजा देवः समुद्रियः ।। ऋ० ९।१०७।१६।।

२३—(द्विपाद्) विराट् (ख)—जिस छन्द में क्रमशः १०+१० (=२०) अक्षरों के दो पाद होते हैं, वह 'विराड् गायत्री' कहाती है (उनिसू)। यथा—

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्। ऋ० १।६६।३।।

२४—(द्विपाद्) स्वराट्—जिस छन्द में क्रमशः ९+९ (=१८) अक्षरों के दो पाद होते हैं, वह 'स्वराड् गायत्री' कहाती है (उनिसू)। यथा—

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
अग्ने त्वन्नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
साम पू० ५।७।२।। (पू० सं० ४४८)

२५—एकपदा—जिसमें आठ अक्षर का एकही पाद हो, वह 'एकपदा गायत्री' कहाती है (उनिसू)। यथा—

भद्रं नो अपि वातय। (ऋ० १०।२०।१)

विशेष—इसके विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १७।४२ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार उपलब्ध वैदिक छन्दोग्रन्थों में गायत्री के २६ भेद मिलते हैं। मूल संहिताओं के अनुशीलन से और भी अवान्तर भेद उपलब्ध हो सकते हैं।

गायत्री के पूर्वलिखित भेदों को सुगमता से हृदयंगम कराने के लिये नीचे हम उनका चित्र प्रस्तुत करते हैं—

गायत्री के भेदों का चित्र

पादाक्षरसंख्या	पूर्णसंख्या	पिंगलसूत्र	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वेमा छन्दो०	जयदेव०
८+८+८	२४	गायत्री	गायत्री	गायत्री	गायत्री	गायत्री	गायत्री	गायत्री
७+७+७	२१	पादनिचृत्	पादनिचृत्	पादनिचृत्	×	पादनिचृत्	पादनिचृत्	×
६+८+७	२१	अतिपादनिचृत्	×	×	×	×	×	×
७+६+७	२०	×	अतिनिचृत्	अतिनिचृत्	×	×	अतिनिचृत्	×
६+६+७	१९	×	,,	ह्रसीयसी	×	×	×	×
६+७+८	२१	वर्धमाना	वर्धमाना	वर्धमाना	×	वर्धमाना	वर्धमाना	×
८+६+८	२२	×	,, (एकेषाम्)	×	×	×	×	×
८+७+६	२१	प्रतिष्ठा	×	प्रतिष्ठा	×	प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठा	×
६+९+९	२४	वाराही	X	X	X	X	X	X
९+९+६	२४	नागी	X	X	X	X	X	X
७+१०+७	२४	†यवमध्या	यवमध्या	यवमध्या	X	X	यवमध्या	X
९+६+९	२४	†पिपीलिकमध्या	X	X	x	X	X	x

† पिङ्गल के मत में यवमध्या, पिपीलिकामध्या सामान्य विशेषण है, और अनेक प्रकार की हैं। ऋक्प्रातिशाख्य आदि में विशेष वर्णन होने से इनका यहाँ संग्रह किया है। ईसी प्रकार ककुम्मती और शङ्कुमती भी पिङ्गल के मत में सामान्य विशेषण है।

पादाक्षरसंख्या	पूर्णसंख्या	पिंगलसूत्र	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वेमा छन्दो०	जयदेव०
६+७+११	२४	×	उष्णिग्गर्भा	उष्णिग्गर्भा	×	×	उष्णिग्गर्भा	X
८+१०+७	२५	×	भुरिग्गायत्री	×	×	×	भुरिग्गायत्री	X
११+११+११	३३	त्रिपाद् विराट्	×	×	×	×	×	X
६+६+६+६	२४	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	X
५+५+५+५+५	२५	×	पदपङ्क्ति	×	×	×	×	X
४+५+५+५+६	†२५	×	पदपङ्क्ति	पदपङ्क्ति	×	×	पदपङ्क्ति	X
५+५+५+५+६	२६	×	भुरिक् पदपङ्क्ति	×	×	×	भुरिक्पदपङ्क्ति	X
१२+१२	२४	×	द्विपदा	×	×	×	×	X
८+८	१६	×	×	X	द्विपदा	द्विपदा	X	X
१२+८	२०	द्विपाद् विराट्	X	X	X	X	X	द्विपाद् विराट्
१०+१०	२०	X	X	X	X	विराट्	X	X
९+९	१८	X	X	X	x	स्वराट्	X	X
८	८	X	X	X	X	एकपाद्	X	X

प्रतिष्ठा गायत्री के अनुक्त भेद—वेद में गायत्री के उक्त भेदों के अतिरिक्त भी कुछ भेद देखने में आते हैं। यथा—ऋग्वेद १।५।२ तथा १।२७।३ में क्रमशः ७+६+८ अक्षरों के तीन पाद हैं। ऋ० १।२६।३ तथा १।३८।४ में क्रमशः ८+६+७ अक्षरों के पाद हैं। इन्हें प्रतिष्ठा के अनुक्त भेद जानना चाहिये।

† इस छन्द में ४ अक्षर का पाद कहीं भी हो सकता है। यथा—५+५+४+५+६ अथवा ५+५+५+४+६ अथवा ५+४+५+५+६।

२–उष्णिक् छन्द

उष्णिक् छन्द में प्रायः तीन पाद और २८ अक्षर होते हैं । अर्थात् गायत्री से इसमें चार अक्षर अधिक होते हैं । इस छन्द का 'उष्णिक्' नाम औपमिक है ।[1] उष्णिक् पगड़ी को कहते हैं, वह शिरोभाग पर होती है । और जैसे वह दूर से स्पष्ट दिखाई देती है, उसी प्रकार गायत्री से बढ़े हुए चार अक्षर प्रायः अन्त्यपाद में होते हैं ।[2] क्वचित् आदि और मध्य के पादों में भी देखे जाते हैं । ये बढ़े हुए चार अक्षर जिस पाद में रहते हैं, वह पाद अन्य पादों की अपेक्षा बड़ा होने से स्पष्टरूप से पृथक् भासित होता है ।

उष्णिक् के भेद

गायत्री की अपेक्षा बढ़े हुए चार अक्षर जिस पाद में होते हैं, उसी के अनुसार इस छन्द के प्रधान भेद उत्पन्न होते हैं । यथा—

१.—ककुप्—जिसके मध्य पाद में बारह अक्षर हों, और आदि या अन्त के पादों में आठ आठ ((८+१२+८=२८)हों, वह 'ककुबुष्णिक्'[3] कहाती है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ) । यथा—

यष्मा॑कं स्मा॒ रथाँ॒ अनु॑ मु॒दे द॑धे मरुतो जीरदानवः ।
वृष्टी द्यावो॑ य॒तीरि॑व ॥ ऋ० ५।५३।५॥[4]

२. पुरउष्णिक्—जिसके प्रथम पाद में बारह अक्षर हों, और मध्य तथा अन्त के पादों में आठ आठ (१२+८+८=२८), वह 'पुरउष्णिक्' कहाती

---

१. 'उष्णिक्...उष्णिषिणीवेत्यौपमिकम्' निरुक्त ७।१२॥

२. इसी कारण ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू संकेतित ग्रन्थों में इसका नाम केवल उष्णिक् ही लिखा है, पिङ्गलसूत्र आदि में इसे परोष्णिक् कहा है ।

३. 'ककुभ्' कुब्बड़ को कहते हैं । कुबड़े का मध्य भाग अन्य भागों से ऊंचा उठा हुआ होता है । अतः यह नाम भी औपमिक है ।

४. ऋक्प्रा. तथा पिङ्गल की टीका में ५।५३।१५ मन्त्र उदाहृत है । उसके मध्य के पाद में ११ और अन्त्य के पाद में ७ अक्षर हैं । उनमें व्यूह करने से संख्या पूर्ण होती है ।

है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ)। यथा—

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ।।
ऋ० ७।६६।१६।।

३ परोष्णिक्—उष्णिक—जिसके अन्त्य पाद में बारह अक्षर हों, और आदि तथा मध्य के पादों में आठ-आठ (८+८+१२=२८), वह 'परोष्णिक्' अथवा 'उष्णिक' कहाती है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ)। यथा—

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ।। ऋ० १।७९।४।।

विशेष—ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू तथा वेमाछ संकेतित ग्रन्थों में इस छन्द का नाम केवल उष्णिक् है। उष्णिक्=पगड़ी शरीर के ऊंचे शिरोभाग पर रहती है, इसी प्रकार इसमें बढ़े हुए चार अक्षर अन्त्य में होते हैं। पिङ्गल सूत्र आदि में 'पर' विशेषण स्पष्टार्थ लगाया है।

४—ककुम्न्यङ्कुशिरा—जिसके पादों में क्रमशः ११+१२+४(=२७) अक्षर होते हैं, वह 'ककुम्न्यङ्कुशिरा उष्णिक्' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ) यथा—

ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् ।
नूनमथ ।। ऋ० ८।४६।१५।।

विशेष—इस छन्द में २७ अक्षर होते हैं, अतः ऋक्प्रातिशाख्य में इसका 'निचृत्' विशेषण लगाया है। इस मन्त्र (ऋक्प्रा० उदा०) के प्रथम पाद में १० अक्षर होते हैं। व्यूह से ११ की सम्पत्ति होती है।

५.—तनुशिरा (तनुशीर्ष)—जिसके पादों में क्रमशः ११+११+६ (=२८) अक्षर हों, उसे 'तनुशिरा उष्णिक्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ) यथा—

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम् ।
प्रैषयुर्न विद्वान् ।। ऋ० १।१२०।५।।

६—पिपीलिकामध्या—जिसके पादों में क्रमशः ११+६+११ (=२८) अक्षर हों, उसे 'पिपीलिकामध्या उष्णिक्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेर अर्वन्तानु शेपा।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन्॥ ऋ० १०।१०५।२॥

७—चतुष्पाद्—जिसमें चार पाद हों, और प्रत्येक पाद में सात-सात (७+७+७+७=२८) अक्षर हों, उसे 'चतुष्पाद् उष्णिक्' कहते हैं (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, वेमाछ)। यथा—

नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्।
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि॥ ऋ० ८।६९।२॥

विशेष—ऋक्प्रातिशाख्य में इस मन्त्र को तथा 'मंसीमहि' (ऋ० १०।२६।४) को इस छन्द के उदाहरण रूप में उद्धृत करके लिखा है कि अक्षरों की गिनती से ये दोनों उष्णिक्छन्दस्क हैं। पादों की दृष्टि से अनुष्टुप्। इससे यह ध्वनित होता है कि ऋक्प्रातिशाख्यकार उष्णिक् में चार पाद नहीं मानता। यह भी ध्यान रहे कि इन दोनों मन्त्रों में सत्ताईस-सत्ताईस अक्षर हैं। अर्थात् व्यूह से २८ संख्या पूरी होती है।

८—अनुष्टुब्गर्भा—जिसके चार पादों में क्रमशः ५+८+८+८ (=२९) अक्षर हों, उसे 'अनुष्टुब्गर्भा उष्णिक्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ ऋ० १।१८७।१॥

विशेष—पिङ्गल और गार्ग्य के सामान्य नियम के अनुसार जिसके प्रथम पाद में ५ अक्षर हों, वह 'शङ्कुमती उष्णिक्' कहाती है।

उष्णिक् छन्द के ये प्रधान भेद वर्तमान शास्त्रों में उल्लिखित हैं। परन्तु वेद में इनसे भिन्न प्रकार की भी उष्णिक्छन्दस्क ऋचाएं देखी जाती हैं। उनके लक्षणों की इसी प्रकार ऊहा कर लेनी चाहिए।

उष्णिक् के पूर्वलिखित भेदों का चित्र इस प्रकार है—

उष्णिक् के भेदों का चित्र

पादाक्षरसंख्या	पूर्णसंख्या	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वेमाछन्दो०	जयदेव०
८+१२+८	२८	ककुप्	ककुप्	ककुप्	ककुप्	ककुप्	ककुप्	ककुप्
१२+८+८	२८	पुर उष्णिक्	पुर उष्णिक्	पुर उष्णिक्	पुर उष्णिक्	पुर उष्णिक्	पुर उष्णिक्	पुर उष्णिक्
८+८+१२	२८	परोष्णिक्	उष्णिक्	उष्णिक्	उष्णिक्	परोष्णिक्	उष्णिक्	परोष्णिक्
११+१२+४	२७	x	ककुम्न्यङ्कुशिरा	ककुम्न्यङ्कुशिरा	x	x	ककुम्न्यङ्कुशिरा	x
११+११+६	२८	x	तनुशिरा	तनुशिरा	x	x	तनुशीर्षं	x
११+६+११	२८	x	पिपीलिकामध्या	पिपीलिकामध्या	x	x	पिपीलिकामध्या	x
७+७+७+७	२८	चतुष्पाद्	(चतुष्पाद्)	(चतुष्पाद्)	(चतुष्पाद्)	(चतुष्पाद्)	चतुष्पाद्	(चतुष्पाद्)
५+८+८+८	२९	(शङ्कुमती)	अनुष्टुब्गर्भा	अनुष्टुब्गर्भा	x	(शङ्कुमती)	अनुष्टुब्गर्भा	x

३–अनुष्टुप् छन्द

अनुष्टुप् छन्द में उष्णिक् (=२८ अक्षर) से ४ अक्षर अधिक (३२ अक्षर) होते हैं। अनुष्टुप् में सामान्यतया चार पाद माने जाते हैं, और प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। परन्तु छन्दःशास्त्रकारों ने अनुष्टुप् के जो भेद दर्शाए हैं, उनमें अधिक संख्या त्रिपाद् अनुष्टुप् की है। इसलिए हम भी पहले त्रिपाद् अनुष्टुप् के, तदनन्तर चतुष्पाद् आदि के भेद-प्रभेदों का वर्णन करेंगे।

अनुष्टुप् के भेद

पादसंख्या तथा उनके अक्षरसंख्या की न्यूनाधिकता से होनेवाले जितने भेद-प्रभेद उपलब्ध छन्दःशास्त्रों में वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं—

१—पुरस्ताज्ज्योति (त्रिपाद्—क)—जिस त्रिपाद् अनुष्टुप् के पादों में क्रमशः ८+१२+१२ (=३२) अक्षर हों, वह 'पुरस्ताज्ज्योति अनुष्टुप्' कहाती है (निसू, उनिसू)। पिङ्गलसूत्र में इसे केवल त्रिपाद् नाम से स्मरण किया है।

विशेष—इस अनुष्टुप् का उदाहरण किसी ने नहीं दिया। उपनिदान-सूत्र के व्याख्याकार ने तो उदाहरण के विषय में स्पष्टरूप से 'मृग्यम्' लिखा है।

२—मध्येज्योतिः (पिपीलिकामध्या, त्रिपाद्—ख)—जिस छन्द के पादों में क्रमशः १२+८+१२ (=३२) अक्षर हों, वह 'मध्येज्योति अनुष्टुप्' कहाती है (निसू, उनिसू)। ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा वेङ्कट की छन्दोऽनुक्रमणी में इसे 'पिपीलिकमध्या अनुष्टुप्' कहा है। निदान-सूत्र में इसका 'पिपीलिकमध्या अनुष्टुप्' नाम लिखकर बह्वृचों के मत में 'मध्येज्योति' नाम लिखा है। पिङ्गल सूत्र में इसे केवल 'त्रिपाद्' नाम से स्मरण किया है। यथा—

> पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
> द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे ॥ ऋ० ९।११०।१॥

विशेष—इसके प्रथम पाद में ११ अक्षर हैं। व्यूह से द्वादशाक्षरत्व की पूर्ति होती है।

३—उपरिष्टाज्ज्योति (कृति, त्रिपाद्-ग)—जिस छन्द के पादों में क्रमशः १२+१२+८ (=३२) अक्षर हों, वह 'उपरिष्टाज्ज्योति अनुष्टुप्'

कहाती हैं (निसू, उपनिसू)। ऋक्प्रा, ऋक्स और वेमाछ में इसे 'कृति अनुष्टुप्' कहा है। पिङ्गल ने त्रिपाद् सामान्य नाम से स्मरण किया है। यथा—

मा कस्मै धातम्भ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः।
स्तनभुजो अशिश्वीः॥ ऋ० १।१२०।८॥

विशेष—इस उदाहरण के तीनों पादों में एक-एक अक्षर न्यून है, व्यूह से अक्षरपूर्ति मानकर उदाहरण दिया गया है। मध्येज्योति और उपरिष्टाज्ज्योति दोनों के ये उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्य में तथा पिङ्गलसूत्र की टीका में निर्दिष्ट हैं।

४—काविराट्—जिसके पादों में क्रमशः ९+१२+९(=३०) अक्षर हों, उसे 'काविराड् अनुष्टुप्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य।
प्रार्चद् दयमानो युवाकुः॥ ऋ० १।१२०।३॥

काविराट् शब्द का अर्थ—छन्द में वर्तमान ३० अक्षरों में विराट् संख्या १० तीन बार पूर्ण होने पर भी प्रथम और तृतीय चरण में अक्षरों की न्यूनता की दृष्टि से इसका नाम काविराट्[1] है।

विशेष—प्रातिशाख्य अ० १६ के सूत्र हैं—

नवकौ द्वादशी द्व्यूना तां विद्वांसेति काविराट् ॥४०॥
तेषामेकाधिकावन्त्यौ नष्टरूपा विपृच्छामि ॥४१॥

अर्थात्—दो पाद नौ-नौ अक्षरों के, और एक पाद द्वादश अक्षरों का जिसमें हो, वह 'काविराट् अनुष्टुप्' होती है। जैसे—'तां विद्वांसा' (ऋ० १। १२०।३)। उन्हीं पादों में अन्त्य के दो पादों में एक-एक अक्षर अधिक हो, तो वह नष्टरूपा होती है। जैसे—'विपृच्छामि' (ऋ० १।१२०।४)

यहां पर यह चिन्त्य है कि यदि 'काविराट्' के पादों में क्रमशः ९+९+१२ अक्षर मानें, तो उत्तर सूत्र की संगति ठीक लगती है। अर्थात् इन्हीं पादों के अन्त्य के दो पादों में एकाक्षर की वृद्धि (९+१०+१३) से नष्टरूपा अनुष्टुप् बनती है। परन्तु काविराट् की उक्त पादाक्षरसंख्या उदाहृत 'तां

१. यद्यपि अल्पार्थ में 'कु' को 'का' आदेश पाणिनीय तन्त्र के अनुसार पथि अक्षि और उष्ण शब्द परे ही कहा है (द्र०—अष्टा० ६।३।१०३,१०६) तथापि विराट् शब्द के परे भी 'का' आदेश का उपसंख्यान करना चाहिये।

विद्वांसा' मन्त्र में ठीक नहीं बैठती। उसमें क्रमशः ६+१२+६ हैं। यदि पूर्वसूत्र में कथंचित् ६+१२+६ क्रमशः संख्या स्वीकार करलें, तो उत्तर सूत्र की नष्टरूपा अनुष्टुप् का उदाहरण नहीं बनता। उसमें क्रमशः ६+१३+१० अक्षर न होकर ६+१०+१३ अक्षर हैं। अतः ऋक्प्रातिशाख्य का पाठ विचारणीय है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में काविराट् की पादाक्षरसंख्या क्रमशः ६+१२+६ तथा नष्टरूपा की ६+१०+१३ स्पष्ट रूप से कही है।

५—नष्टरूपा (नष्टरूपी)—जिसमें क्रमशः ६+१०+१३ (=३२) अक्षरों के पाद हों, वह 'नष्टरूपा' अनुष्टुप् कहाती है (ऋक्प्रा, वेमाछ)। ऋक्स में इसका नाम 'नष्टरूपी लिखा' है। यथा—

वि पृ॑च्छामि पा॒क्या॑३॒ न दे॒वान् वष॑ट्कृतस्याद्भु॒तस्य॑ दस्रा।
पा॒तं च॒ सह्य॑सो यु॒वं च॒ रभ्य॑सो नः॥ ऋ० १।१२०।४॥

नष्टरूपा शब्द का अर्थ—पादों में विषमसंख्या होने से जिसका अनुष्टुप् रूप नष्ट हो गया है। केवल ३२ अक्षर संख्यामात्र से ही अनुष्टुप्त्व है। अतः इसका नाम नष्टरूपा है।

६—विराट् (क)—जिस छन्द के पादों में क्रमशः १०+१०+१० (=३०) अक्षर होते हैं, उसे 'विराडनुष्टुप्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

श्रु॒धी हवं॑ विपिपा॒नस्याद्रे॒र् बोधा॒ विप्र॒स्यार्च॑तो मनी॒षाम्।
कृ॒ष्वा दुवां॒स्यन्त॑मा॒ सचे॒मा॥ ऋ० ७।२२।४॥

तै० सं० २।५।१० में भी कहा है—'त्रिंशदक्षरा विराट्'।

७—विराट् (ख)—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ११+११+११ (=३३) अक्षर होते हैं, उसे भी 'विराडनुष्टुप्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

अग्न॒ इन्द्र॑श्च दा॒शुषो॑ दुरो॒णे सु॒ताव॑तो य॒ज्ञमि॒होप॑ यातम्।
अम॑र्धन्ता सोम॒पेया॑य देवा॥ ऋ० ३।२५।४॥

विशेष—'विराट्' शब्द के दो अर्थ यहां व्यक्त हो चुके। एक वह, जिसके तीनों पादों में दस-दस अक्षर हों। दूसरा वह जिसके तीनों पादों में ग्यारह-ग्यारह अक्षर हों। 'विराट्' शब्द का तीसरा अर्थ है—दो अक्षरों की न्यूनता। जिस छन्द में भी नियताक्षर संख्या से दो अक्षर न्यून हों, उसके साथ 'विराट्' विशेषण लगाया जाता है। यथा—विराड्गायत्री (२२ अक्षर की), विराट् उष्णिक् (२६ अक्षर की)। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

विराट् शब्द के इन तीनों अर्थों का बोध कराने के लिये निरुक्तकार यास्क ने तीन निर्वचन किये हैं—विराट् विराजनाद्वा, विराधनाद्वा, विप्रापणाद् वा (निरुक्त ७।१३)। निरुक्त के इस स्थल की विशेष व्याख्या के लिए इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ३०-३१ देखें।

८—चतुष्पाद् (अनुष्टुप्)—जिसमें चार पाद हों, और प्रत्येक में आठ आठ (८+८+८+८=३२) अक्षर हों, वह 'चतुष्पाद् अनुष्टुप्' कहाती है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, वेमाछ)। यथा—

सुविवृतं सुनिरजम् इन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥ ऋ० १।१०।७॥

९—पादैरनुष्टुप्—जिस छन्द में सात-सात अक्षर के चार पाद होते हैं, उसे 'पादैरनुष्टुप्' (पादसंख्या के कारण अनुष्टप्) कहते हैं। इसका उल्लेख केवल ऋक्प्रातिशाख्य में है।

पूर्व उष्णिक् प्रकरण में निर्दिष्ट 'चतुष्पाद् उष्णिक्' को ही शौनक ने अक्षरसंख्या से उष्णिक् और पादसंख्या से अनुष्टुप् कहा है। द्र०—पृष्ठ १४०। इसका उदाहरण पूर्वनिर्दिष्ट 'नदं वा ओदतीनाम्' (ऋ० ८।६९।२) तथा 'मंसीमहि' (ऋ० १०।२६।४) ही हैं।

१० महापदपंक्ति—जिस छन्द में क्रमशः ५+५+५+५+५+६ (=३१) अक्षरों के छह पाद होते हैं, उसे 'महापदपंक्ति अनुष्टुप्' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

तव स्वादिष्ठाऽग्ने संदृष्टिर् इदा चिदह्न इदा चिदक्तोः।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके॥ ऋ० ४।१०।५॥

विशेष—(क) इसके द्वितीय पाद में चार अक्षर हैं, व्यूह से पञ्चाक्षरत्व की पूर्ति करनी होती है।

(ख) उत्तरार्ध में 'न' पद को पञ्चम पाद में गिनने पर 'रोचते' क्रिया षष्ठ पाद के आदि में होती है। पादादि में तिङ् अनुदात्त नहीं होता, उदात्त होता है। अतः यह पादकल्पना स्वरशास्त्र से विपरीत होने के कारण त्याज्य है। यह बात गायत्री के अन्तर्गत पदपंक्ति (क) के उदाहरण में भी (पृष्ठ १३३) लिख चुके हैं।

(ग) ध्यान रहे कि महापदपंक्ति का यह उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्यकार शौनक ने दिया है।

(घ) पदपंक्ति गायत्री का भेद लिख चुके हैं। उसमें पांच-पांच अक्षर के पांच पाद हैं। इसमें उससे १ पाद ६ अक्षर का अधिक है, इसलिए इसका नाम महापदपंक्ति' रखा है।

अनुष्टुप् के पूर्वलिखित भेदों का चित्र इस प्रकार है—

अनुष्टुप् के भेदों का चित्र

पादाक्षरसंख्या	पूर्ण संख्या	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वेमाछन्दो०	जयदेव०
८+१२+१२	३२	त्रिपाद्	X	X	पुरस्ताज्ज्योतिः	पुरस्ताज्ज्योतिः	X	अनुष्टुप्
१२+८+१२	३२	,,	पिपीलिकामध्या	पिपीलिकामध्या	मध्येज्योतिः पिपीलिकामध्या]	मध्येज्योतिः	पिपीलिकामध्या	,,
१२+१२+८	३२	,,	कृति	कृति	उपरिष्टाज्ज्योतिः	उपरिष्टाज्ज्योतिः	कृति	,,
९+१२+९	३०		काविराट्	काविराट्			काविराट्	
९+१०+१३	३२		नष्टरूपा	नष्टरूपी			नष्टरूपा	
१०+१०+१०	३०		विराट्	विराट्			विराट्	
११+११+११	३३		,,	,,			,,	
९+८+८+८	३२	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	चतुष्पाद्	X
७+७+७+७	२८		पादैरनुष्टुप्					
५+५+५+५+६	३१		महापदपङ्क्ति	महापदपङ्क्ति			महापदपङ्क्ति	

दशम अध्याय

आर्च छन्द (२)

बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती

आर्च छन्दों के प्रथम सप्तक के गायत्री, उष्णिक् और अनुष्टुप् के भेद-प्रभेदों का वर्णन पूर्व अध्याय में कर चुके। इस अध्याय में प्रथम सप्तक के शेष बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया जाएगा।

४—बृहती छन्द

बृहती छन्द में अनुष्टुप् (३२ अक्षर) से चार अक्षर अधिक होते हैं। इस प्रकार बृहती छन्द ३६ अक्षर का होता है। यह प्रायः चार पादों का होता है। पाद-संख्या और उनकी अक्षर-संख्या की न्यूनाधिकता से इसके अनेक भेद होते हैं।

बृहती के भेद

बृहती छन्द के जितने भेद उपलब्ध छन्दःशास्त्रों में वर्णित हैं, उसका हम आगे वर्णन करते हैं—

१—बृहती (क)—जिस छन्द के चारों पादों में ९+९+९+९(=३६) अक्षर होते हैं, उसे 'बृहती' कहते हैं (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, वेमाछ)। यथा—

चक्षुषो हेते मनसो हेते वाचो हेते ब्रह्मणो हेते।
यो माघायुरभिदासति तमग्ने मेन्या मेनि कृण्वु॥
तै० ब्रा० २।४।२।१॥

विशेष—(क) इस उदाहरण में प्रथम पाद में १० अक्षर हैं। अतः इसे भुरिग्बृहती कहना होगा। यह उदाहरण वेणीराम शर्मा द्वारा पिङ्गल छन्दः-सूत्रव्याख्या में उद्धृत है।

(ख) शौनक ने ऋक्प्रा० (१६।५१) में बृहती के उपेदमुपर्चनम् (ऋ० ६।२८।८) तथा आहार्षं त्वा (ऋ० १०।१६१।५) उदाहरण दिए हैं। इनमें से प्रथम में (८+८+८+७) ३१ अक्षर हैं। दूसरे में भी

(७+८+८+८)=३१ अक्षर हैं। शौनक ने इन उदाहरणों को देते हुए स्पष्ट लिखा है—सर्वे व्यूहे नवाक्षराः—अर्थात् व्यूह करने पर सब पाद नौ-नौ अक्षरोंवाले होते हैं। निदानसूत्र में भी उपेदम् (ऋ० ६।२८।८) मन्त्र ही उदाहरण दिया है। इस पर व्याख्याकार ने लिखा है—सूत्रपठितानि तत्राक्षराणि विकर्षेण गणनीयानि। अर्थात् सूत्रपठित अक्षरों की गिनती विकर्ष=व्यूह से करनी चाहिए।

(ग) ऋक्सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने उपेदम् (ऋ० ६।२८।८) तथा आहार्षम् (ऋ० १०।१६१।५) दोनों को अनुष्टुप् लिखा है। कात्यायन का लेख शौनक की अपेक्षा ठीक है।

(२) बृहती (ख)—जिस छन्द के चारों पादों में क्रमशः १०+१०+८+८(=३६) अक्षर हों, उसे भी 'बृहती' कहते हैं (पिसू, जसू) यथा—

कां सो॑स्मि॒तां हिर॑ण्यप्राकारा॑म् आ॒र्द्रां ज्वल॑न्तीं तृ॒प्तां त॒र्पय॑न्तीम्।
प॒द्मे॒ स्थि॒तां प॒द्मव॑र्णां तामि॒होप॑ह्वये॒ श्रियम्॥

ऋ० ४।४।३४ का परिशिष्ट श्रीसूक्त ४।

विशेष—(क) इस उदाहरण के द्वितीय पाद में ११ अक्षर हैं, अतः यह भुरिग्बृहती छन्द होगा।

(ख) इस उदाहरण के द्वितीय पद 'सो॒स्मि॒तां' में दो अनुदात्त छपे हैं (श्री पं० सातवलेकर जी के ऋक्संस्क० पृ० ७७२)। स्वरशास्त्र के नियमानुसार द्वितीय पद में दो एक साथ अनुदात्त नहीं हो सकते। अतः यहाँ स्वर-पाठ भ्रष्ट है, यह स्पष्ट है।

(ग) जयदेव के छन्दःसूत्र तथा उसकी व्याख्या के अनुसार इस छन्द में क्रमशः ८+८+१०+१० अक्षर होने चाहिएं। यदि यहाँ पाठ की गड़बड़ न हो, तो इसे बृहती का तीसरा भेद मानना होगा, और इसका उदाहरण ढूँढना होगा।

३—पुरस्ताद्बृहती—जिसके पादों में क्रमशः १२+८+८+८(=३६) अक्षर हों, उसे 'पुरस्ताद् बृहती' कहते हैं (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ)। यथा—

म॒हो यस्पति॒ः शव॑सो॒ असा॒म्या म॒हो नृ॒म्णस्य॑ तू॒ तु॒जिः।
भ॒र्ता वज्र॑स्य धृ॒ष्णोः पि॒ता पु॒त्रमि॑व प्रि॒यम्॥

ऋ० १०।२२।३॥

विशेष—शौनक ने 'पुरस्ताद् बृहती' का उपर्युक्त उदाहरण लिखा है। इसके प्रथम पाद में ११ और तृतीय में ७ अक्षर होने से दो की व्यूह से पूर्ति करनी होती है। शौनक ने इसी छन्द का दूसरा उदाहरण 'अधीन्वत्र' (ऋ० १०।९३।१५) दिया है। इसमें क्रमशः १२+७+७+८ अक्षर हैं, अर्थात् ३ अक्षर न्यून हैं। कात्यायन ने भी इन मन्त्रों का 'पुरस्ताद् बृहती' छन्द ही माना है।

४—उरोबृहती, स्कन्धोग्रीवी, न्यङ्कुसारिणी—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ८+१२+८+८(३६) अक्षर हों, उसे 'उरोबृहती, स्कन्धोग्रीवी बृहती, न्यङ्कुसारिणी बृहती' इन तीन नामों से स्मरण करते हैं(पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ)। यथा—

मत्स्यपा॑यि ते॒ महः॒ पात्र॑स्येव हरिवो मत्स॒रो मदः॑।
वृषा॑ ते॒ वृष्ण॒ इन्दु॑र् वा॒जी स॑हस्र॒सात॑मः॥ ऋ० १।१७५।१॥

विशेष— (क) शौनक द्वारा प्रस्तुत इस उदाहरण के प्रथम और तृतीय पाद में सात-सात अक्षर हैं, अर्थात् दो न्यून हैं। दूसरा उदाहरण ईजानमिद् (ऋ० १०।१३२।१) का दिया है। उसके प्रथम में ९ तथा दूसरे में ११ अक्षर हैं, अन्यों में ८-८। इसमें अक्षर-पूर्ति तो हो जाती है। पर लक्षण का पूरा समन्वय नहीं होता।

(ख) पिङ्गल के अ० ३ सूत्र २९, ३० से विदित होता है कि इस छन्द का 'स्कन्धोग्रीवी' नाम क्रोष्टुकि आचार्य के मत में है, और 'उरोबृहती' यास्क के मत में। इस समय इन दोनों आचार्यों के छन्दोग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इनके विषय में विशेष परिज्ञान के लिए हमारा 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ देखना चाहिये (यह शीघ्र प्रकाशित होगा)।

(ग) निदानसूत्र के अनुसार 'स्कन्धोग्रीवी' नाम आगे वक्ष्यमाण 'पथ्या-बृहती' का है। अगले भेद का विशेष वक्तव्य देखें।

५—पथ्या, सिद्धा (स्कन्धोग्रीवी)—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ८+८+१२+८ (=३६) अक्षर होते हैं, उसे 'पथ्या बृहती' कहते हैं (पिसू, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ)। उपनिदान सूत्र में इसका 'सिद्धा' नामान्तर भी लिखा है। निदानसूत्र में इसका नामान्तर स्कन्धोग्रीवी भी निर्दिष्ट है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसे केवल 'बृहती' नाम से स्मरण किया है।

यथा—

मा चिदुन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥

ऋ० ८।१।१॥

विशेष—निदानसूत्र का जैसा पाठ उपलब्ध है, उसके अनुसार पथ्या बृहती का नामान्तर 'स्कन्धोग्रीवी' भी है । सब शास्त्रों की तुलना करने से हमें यहाँ पाठ में विपर्यास हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है । यह विपर्यास बहुत पुराना है । वेङ्कट माधव ने छन्दोनुक्रमणी में निदानसूत्र का यही मत उद्धृत किया है। अतः उससे पूर्व ही पाठ विपर्यस्त हो चुका था, यह स्पष्ट है ।

६—उपरिष्टाद्बृहती—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ८+८+८+१२ (=३६) अक्षर हों, उसे 'उपरिष्टाद् बृहती' कहते हैं (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ) ।यथा—

शुनमुस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा ।
शर्म यच्छन्तु सुप्रथ आदित्यासो यदीमहे अति द्विषः ॥

ऋ० १।१२६।७॥

विशेष—शौनक ने इस छन्द का उदाहरण नतमंहो (ऋ० १।१२६।१) दिया है । इसके द्वितीय चरण में सात अक्षर हैं, व्यूह से एक अक्षर की पूर्ति करनी होती है । निदान सूत्र की व्याख्या में 'तातप्रसाद' ने विश्वा पृतनाः मन्त्र उद्धृत किया है । वह अशुद्ध है, क्योंकि इसमें ४८ अक्षर हैं । अतः यह जगती छन्दवाला अथवा व्यूह से अतिजगती छन्दवाला है । निदानसूत्र के सम्पादक ने इस महती भूल पर कोई टिप्पणी नहीं दी ।

७—विष्टारबृहती—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ८+१०+१०+८ (=३६) अक्षर होते हैं, वह 'विष्टारबृहती' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ) । यथा—

युवं ह्यास्तं महो रन् युवं वा यन्निरततंसतम् ।
ता नो वसू सुगोपा स्यातं पातं नो वृकादघायोः ॥

ऋ० १।१२०।७॥

विशेष—शौनक द्वारा प्रदत्त उक्त उदाहरण के प्रथम पाद में ७ तथा तृतीय में ९ अक्षर हैं । प्रथम में 'ह्या' में व्यूह हो सकता है, परन्तु तृतीय पाद में व्यूह्यमान कोई वर्ण नहीं है ।

८—विषमपदाबृहती—जिस छन्द के पादों में क्रमशः ९+८+११+८ (=३६) अक्षर हों, वह 'विषमपदा बृहती' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेप्राछ)। यथा—

सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत।
प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्॥

ऋ० ८।४६।२०॥

विशेष—इस उदाहरण के अन्त्यपाद में सात अक्षर हैं, व्यूह से अक्षर-पूर्ति मानी जाती है।

९—महाबृहती, सतोबृहती, ऊर्ध्वबृहती, विराडूर्ध्वबृहती, त्रिपदा-बृहती—जिस छन्द में बारह-बारह अक्षर के तीन पाद (१२+१२+१२=३६) हों, वह पिङ्गल और गार्ग्य के मत में 'महाबृहती' अथवा 'सतोबृहती' कहाती है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसे 'ऊर्ध्वबृहती'; ऋक्प्रातिशाख्य तथा वेङ्कट की छन्दोनुक्रमणी में 'विराडूर्ध्वबृहती'; और निदानसूत्र में 'त्रिपदाबृहती' के नाम से स्मरण किया है। यथा—

अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना।
यूथे न निःष्ठा वृषभो वि तिष्ठसे॥ ऋ० ९।११०।९॥

विशेष—(क) शौनक ने ऋ० ९।११०।४ का उदाहरण दिया है, उस में प्रथम पाद के दो अक्षरों की पूर्ति व्यूह से करनी होती है। जब इसी सूक्त में हमारे द्वारा उद्धृत ऐसा मन्त्र विद्यमान है, जिसमें व्यूह की आवश्यकता ही नहीं होती, स्वभाव से ही पूर्णाक्षर है, तब भी शौनक ने दो अक्षर न्यून का उदाहरण क्यों दिया, यह समझ में नहीं आता? सम्भव है, यह उदाहरण उसने पूर्वाचार्यों के किसी ग्रन्थ से लिया हो। यही अवस्था निदानसूत्र के वृत्तिकार द्वारा उद्धृत उदाहरण की है।

(ख) शौनक, कात्यायन और वेङ्कट माधव के मत में 'सतोबृहती' नाम पंक्तिछन्द के अवान्तर भेद का है। उसका वर्णन आगे किया जाएगा।

(ग) पिङ्गलसूत्र ३।२९ के अनुसार तण्डी आचार्य के मत में 'महाबृहती' का 'सतोबृहती' नाम था।

बृहती छन्द के भेदों को स्पष्टरूप से हृदयङ्गम कराने के लिए हम आगे उनका चित्र प्रस्तुत करते हैं—

बृहती के भेदों का चित्र

पादाक्षर०	पूर्णाक्षर०	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वे०छन्दो०	जयदेव०
९+९+९+९	३६	बृहती	बृहती	बृहती	बृहती	बृहती	बृहती	x
१०+१०+८+८	३६	,,	x	x	x	x	x	बृहती
१२+८+८+८	३६	पुरस्ताद्बृहती	पुरस्ताद्बृहती	पुरस्ताद्बृहती	पुरस्ताद्बृहती	पुरस्ताद्बृहती	पुरस्ताद्बृहती	पुरस्ताद्बृहती
८+१२+८+८	३६ {	उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणी	उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणी	उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणी	उरोबृहती x न्यङ्कुसारिणी	उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणी	उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणी	उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणी
८+८+१२+८	३६	पथ्या x	x x	बृहती x	पथ्या स्कन्धोग्रीवी]	पथ्या सिद्धा]	पथ्या x	पथ्या x
८+८+८+१२	३६	उपरिष्टाद्बृ०	उपरिष्टाद्बृ०	उपरिष्टाद्बृ०	उपरिष्टाद्बृ०	उपरिष्टाद्बृ०	उपरिष्टाद्बृ०	उपरिष्टाद्बृ०
८+१०+१०+८	३६	x	विष्टारबृहती	विष्टारबृहती	x	x	विष्टारबृहती	x
९+८+११+८	३६	x	विषमपदाबृ०	विषमपदाबृ०	x	x	विषमपदाबृ०	x
१२+१२+१२	३६	महाबृहती सतोबृहती]	विराडूर्ध्वबृहती x	ऊर्ध्वबृहती x	x x	महाबृहती सतोबृहती]	विराडूर्ध्वबृ० x	x x

५—पंक्ति छन्द

बृहती के ३६ अक्षरों में चार अक्षरों की वृद्धि से ४० अक्षर का 'पंक्ति' छन्द बनता है। यह प्रायः चार पाद का होता है। कभी-कभी न्यूनाधिक पाद का भी देखा जाता है। पाँच के समाहार का नाम पंक्ति है[1]। तदनुसार जिस छन्द में पाँच पाद हों, वही अभिवृत्ति से पंक्ति कहा जा सकता है। परन्तु पञ्चपदा पंक्ति वेद में अतिस्वल्प उपलब्ध होती है।

पंक्ति के भेद

पंक्ति छन्द के जितने भेद उपलब्ध छन्दःशास्त्रों में निर्दिष्ट हैं, उन्हें हम आगे लिखते हैं।

१—सतः पंक्ति (क), सतोबृहती, सिद्धा (क), विष्टार (क), सिद्धाविष्टार—जिस छन्द में क्रमशः १२+८+१२+८ (=४०) अक्षरों के चार पाद होते हैं, उसे 'सतः पंक्ति' (पिसू, उनिसू, जसू), अथवा 'सतोबृहती पंक्ति' (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ), अथवा 'सिद्धापंक्ति' तथा 'विष्टारपंक्ति' (उनिसू), अथवा 'सिद्धाविष्टारपंक्ति' (निसू) कहते हैं। यथा—

अ॒ग्निना॑ तु॒र्वशं॒ यदुं॑ परा॒वत॑ उ॒ग्रादे॑वं हवामहे ।
अ॒ग्निर्न॑य॒न्नव॑वास्त्वं बृ॒हद्र॑थं तु॒र्वीतिं॒ दस्य॑वे॒ सहः॑ ॥ ऋ० १।३६।१८॥

विशेष—पिङ्गलसूत्र, निदानसूत्र, उपनिदानसूत्र और जयदेव छन्दःसूत्र में 'सतोबृहती' नाम बृहती छन्द के एक भेद का है। तण्डी के मत में सतोबृहती नाम पूर्वनिर्दिष्ट 'महाबृहती' का है (पिसू० ३।३६)।

२—सतःपंक्ति (ख), विपरीता, सिद्धा (ख), विष्टार (ख)—जिस छन्द में क्रमशः ८+१२+८+१२ (=४०) अक्षरों के चार पाद होते हैं उसे 'विपरीता पंक्ति' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, वेमाछ)। पिसू, जसू तथा उनिसू में इसे भी 'सतःपंक्ति' कहा है। उनिसू में इसके 'सिद्धापंक्ति' और 'विष्टारपंक्ति' नाम भी उल्लिखित हैं। यथा—

---

१. द्रष्टव्य अष्टाध्यायी ५।१।५९ सूत्र तथा उसकी वृत्ति। गायत्री के भेदों में भी एक पदपंक्ति छन्द लिखा गया है (पिङ्गल तथा गार्ग्य इसे पंक्ति का भेद मानते हैं)। उसके पंक्ति नाम का भी यही कारण है कि उसमें भी पाँच पाद ही होते हैं।

य ऋ॒ष्वः श्रा॑वयत्स॑खा विश्वेत् स वेद॒ जनि॑मा पुरुष्टु॒तः ।

तं विश्वे॒ मानु॑षा यु॒गे--न्द्रं॑ हवन्ते तवि॒षं य॒तस्रु॑चः ।। ऋ० ८।४६।१२।।

विशेष--तण्डी के मत में इन दोनों छन्दों का नाम 'विष्टारपङ्क्ति' है (उनिसू) । चतुर्थ पाद के अक्षरों की पूर्ति व्यूह से करनी चाहिए ।

३—आस्तारपंक्ति—जिस छन्द में क्रमशः ८+८+१२+१२ (=४०) अक्षरों के पाद होते हैं, वह 'आस्तारपङ्क्ति' कहाता है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ) । यथा—

भ॒द्रं नो॒ अपि॑ वातय॒ मनो॒ दक्ष॑मु॒त क्रतु॑म् ।

अधा॑ ते स॒ख्ये अन्ध॑सो॒ वि वो॒ मदे॒ रण॒न् गावो॒ न यव॑से॒ विव॑क्षसे ।।

ऋ० १०।२५।१।।

४—प्रस्तारपंक्ति—जिसमें क्रमशः १२+१२+८+८ (=४०) अक्षरों के पाद हों, वह 'प्रस्तारपङ्क्ति' छन्द कहाता है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ) । यथा—

भ॒द्रमिद् भ॒द्रा कृ॑णव॒त् सर॑स्वत्यक॑वारी चेतति वा॒जिनी॑वती ।

गृ॒णा॒ना ज॑मदग्नि॒वत् स्तु॑वा॒ना च॑ वसिष्ठ॒वत् ।। ऋ० ७ ९६।३।।

विशेष—द्वितीय पाद की अक्षरपूर्ति व्यूह से करनी चाहिए ।

५—संस्तारपंक्ति—जिसमें क्रमशः १२+८+८+१२ (=४०) अक्षरों के पाद हों, वह 'संस्तारपङ्क्ति' छन्द कहाता है (पिसू, ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, उनिसू, जसू, वेमाछ) । यथा—

पि॒तुभृ॒तो॒ न तन्तु॒मित् सु॒दान॑वः प्रति॑ दध्मो॒ यजा॑मसि ।

उ॒षा अप॒ स्वसु॒स्तम॒ः सं॑वर्त॒यति वर्त॒नि॑ सु॑जा॒तता॑ ।। ऋ०१०।१७२।२।।

विशेष—(क) ऋक्प्रातिशाख्य मूल तथा निदानसूत्र तथा पिङ्गलसूत्र के व्याख्याकारों ने संस्तारपंक्ति का यही उदाहरण दिया है । परन्तु ऋक्सर्वानुक्रमणी के मत में यह एक मन्त्र नहीं है, अपितु दो द्विपदाएं हैं ।

(ख) ऋक्सर्वानुक्रमणी के मतानुसार 'सुदानवः' पद द्वितीद पादान्तर्गत है ।

(ग) ऋग्वेद में १४० ऐसी द्विपदाएं हैं, जिनको अध्ययनकाल में तथा अर्थ करते समय दो-दो द्विपदाओं को मिलाकर एक चतुष्पदा ऋक् बना लेते हैं । इस प्रकार १४० द्विपदाओं की ७० चतुष्पदाएं बन जाती हैं ।

(घ) मैक्समूलर ने अपने मूल ऋक्संस्करण में प्रथम मण्डल (सूक्त ६५–७०) की ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा ऋक् बनाकर छापा है। शेष ८० द्विपदाओं को द्विपदारूप में ही रहने दिया है। इस प्रकार १४० द्विपदाओं को एक ढंग से (या तो सब को द्विपदारूप से छापता, अथवा सब को चतुष्पदा बनाकर छापता) न छापकर अर्धजरतीयन्याय से छापा है। इस कारण ऋग्वेद की ऋक्संख्या की गणना करनेवाले मैक्डानल, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यव्रत सामश्रमी, स्वामी हरिप्रसाद और श्री पं० भगवद्दत्त जी आदि से कई भूलें हुई हैं। यतः सब ने मैक्समूलर के ऋक्संस्करण को आदर्श मानकर ऋग्गणना की है। उसके द्वारा अर्धजरतीय न्याय से छापी गई द्विपदा ऋचाओं की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। अतः कोई भी ऋग्वेद की वास्तविक ऋक्संख्या की गणना में समर्थ नहीं हुआ।

हमने उपर्युक्त सभी लेखकों की भूलें दर्शाते हुए ऋग्वेद की द्विपदा और चतुष्पदा दोनों पक्षों में वास्तविक ऋक्संख्या का निर्देश किया है। इसके लिए देखिए हमारी 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' पुस्तिका।

६—विष्टारपंक्ति—जिस छन्द में क्रमशः ८+१२+१२+८ (=४०) अक्षरों के पाद हों, उसे 'विष्टारपंक्ति' कहते हैं (ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू उनिसू, जसू, वेमाछ)। यथा—

अग्ने॒ तव॒ श्रवो॒ वयो॒ महि॑ भ्राजन्ते अ॒र्चयो॑ विभावसो।
बृह॑द्भानो॒ शव॑सा॒ वाज॑मु॒क्थ्यं॒ दधा॑सि दा॒शुषे॑ कवे॥ ऋ० १०।१४०।१॥

विशेष—तृतीय पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति होती है।

७—आर्षीपंक्ति—जिसमें क्रमशः १२+१२+१०+१० (=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'आर्षीपंक्ति' कहाता है (द्र०—जसू ३।१७ तथा इसकी टीका)।

विशेष—यह भेद अन्यत्र निर्दिष्ट नहीं है। उदाहरण भी मृग्य है।

८—विराट्पङ्क्ति (क)—जिस छन्द में दस-दस अक्षरों के चार पाद १०+१०+१०+१० (=४०) हों, वह 'विराट्पंक्ति' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, उनिसू, वेमाछ)। यथा—

मन्ये॑ त्वा य॒ज्ञियं॑ य॒ज्ञिया॑नां॒ मन्ये॑ त्वा॒ च्यव॑न॒मच्यु॑तानाम्।
मन्ये॑ त्वा॒ सत्व॑नामिन्द्र के॒तुं मन्ये॑ त्वा वृष॒भं च॑र्षणी॒नाम्॥ ऋ० ८।९६।४॥

९—विराट्पङ्क्ति (ख)—जिस छन्द में दस-दस अक्षरों के तीन

पाद १०+१०+१०(=३०) हों, उसे भी उपनिदानसूत्र में 'विराट्-पंक्ति' कहा है।

उदाहरण मृग्य है।

१०—पथ्यापङ्क्ति—जिस छन्द में आठ-आठ अक्षरों के पांच पाद ८+८+८+८+८(=४०) हों, उसे 'पथ्यापंक्ति' कहते हैं (पिसू, उनिसू, जसू)। ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू और वेमाछ में इसे केवल 'पंक्ति' नाम से स्मरण किया है। यथा—

क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृधे शवः।

श्रिय ऋष्व उपाकयोर् निशिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम्॥

ऋ० १।८१।४॥

विशेष—शौनक ने इस छन्द का जो उदाहरण दिया है, उसमें दो पादों में व्यूह से अक्षरपूर्ति करनी पड़ती है।

११—पदपंक्ति (क)—जिस छन्द में पांच-पांच अक्षरों के पांच पाद ५×५(=२५) हों, वह 'पदपंक्ति' कहाता है (पिसू, निसू, जसू)।

१२—पदपङ्क्ति (ख)—जिस छन्द में एक पाद चार अक्षर का, एक पाद ६ अक्षर का, और तीन पाद पांच-पांच (=२५) अक्षरों के हों, उसे भी 'पदपंक्ति' कहते हैं (पिसू, निसू, जसू)।

विशेष—(क) संख्या ११, १२ के पदपंक्ति छन्द ऋक्प्रा, ऋक्स, तथा वेमाछ के अनुसार गायत्री के भेद हैं।

(ख) इन दोनों के उदाहरण गायत्री-प्रकरण में दिये हैं, वहाँ देख लें।

(ग) द्वितीय पदपंक्ति में चार, छह और पांच अक्षरों के पादों का क्रम विवक्षित नहीं है। यह पूर्व गायत्री अधिकार में भी लिख चुके हैं।

१३—अक्षरपंक्ति (क)—जिस छन्द में पांच-पांच अक्षरों के चार पाद (५×४=२०) हों, उसे 'पिसू' तथा 'उनिसू' में 'अक्षरपंक्ति'; और 'ऋक्प्राति०' तथा 'निसू' में 'चतुष्पदा अक्षरपंक्ति' कहा है। यथा—

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तम्।

नमो युजानं नमो वहन्तम्॥ ऋ० १।६५।१॥

विशेष—कात्यायन के मत में यह 'द्विपदा विराट्पंक्ति' है। अतः उसके मत में 'चतन्तं' के आगे विराम नहीं है। इसी कारण 'न्तं' अनुदात्त भी है।

यह मन्त्र उन द्विपदाओं के अन्तर्गत है, जिनको अध्ययनकाल में दो-दो द्विपदाओं को जोड़कर एक चतुष्पदा बना लेते हैं। उस अवस्था में इस छन्द को उदाहरण मृग्य होगा।

१४ अक्षरपंक्ति (ख)—जिस छन्द में पांच-पांच अक्षरों के दो ही पाद होते हैं, उसे भी 'अक्षरपंक्ति' कहते हैं (उनिसू)। पिङ्गल ने इसे 'अल्पशः अक्षरपंक्ति' कहा है, और निदानसूत्रकार ने 'द्विपदा 'अक्षरपङ्क्ति' माना है। यथा—

सदो विश्वायुः शर्म सप्रथाः। तै० आ० ४।११॥

विशेष—यह उदाहरण वेणीराम शर्मा ने पिङ्गलछन्दःसूत्र की व्याख्या में दिया है।

१५—द्विपदापंक्ति, विराट्पङ्क्ति, द्विपदाविष्टारपङ्क्ति—जिस छन्द के प्रथम पाद में १२ और द्वितीय पाद में ८ अक्षर हों, उसे 'निसू' में द्विपदापङ्क्ति; 'उनिसू' में 'विराट्पङ्क्ति'; उसी को तण्डी के मत से 'द्विपदा-विष्टारपङ्क्ति' कहा है।

उदाहरण मृग्य है।

१६—जगतीपङ्क्ति, विस्तारपङ्क्ति (विष्टारपङ्क्ति)—जिस छन्द में आठ-आठ अक्षरों के ६ पाद ८X६(=४८) होते हैं, उसे पिङ्गल-सूत्र में 'जगतीपङ्क्ति', तथा जयदेवीय छन्दःसूत्र में 'विस्तारपङ्क्ति' (पाठा० विष्टार) नाम से स्मरण किया है। यथा—

महिं वो महतामवो वरुण मित्रं दाशुषें।
यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशद
अनेहसों व ऊतयः सुऊतयों व ऊतयः॥ ऋ० ८।४७।१॥

विशेष— इसी छन्द का पिङ्गल, निदान और उपनिदानकार ने 'षट्पदा जगती' के नाम से आगे उल्लेख किया है। 'ऋक्प्रा', 'ऋक्स' और 'वेमाछ' में इसे 'महापङ्क्ति' नाम से स्मरण किया है।

पंक्ति छन्द के जितने भेद-प्रभेद पूर्व दर्शाये हैं, उनका चित्र इस प्रकार है—

पङ्क्ति के भेदों का चित्र

पादाक्षरसंख्या	पूर्णाक्षरसंख्या	पिंगल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वे० छन्द०	जोयदेव०
१२+८+१२+८	४०	सत:पङ्क्ति	सतोबृहती-पंक्ति	सतोबृहती-पंक्ति	सिद्धाविष्टार-पंक्ति	सत:पंक्ति	सतोबृहती	सत:पंक्ति
		×	×	×	×	सिद्धापंक्ति	X	X
		×	×	×	×	विष्टारपंक्ति	X	X
८+१२+८+१२	४०	सत:पंक्ति	विपरीता-पङ्क्ति	विपरीता-पङ्क्ति	विपरीता-पङ्क्ति	सत:पङ्क्ति	X	X
		×	×	×	×	सिद्धापंक्ति	X	X
		×	×	×	×	शिष्टारपंक्ति	X	X
८+८+१२+१२	४०	आस्तारपंक्ति	आस्तारपंक्ति	आस्तारपंक्ति	आस्तारपंक्ति	आस्तारपंक्ति	आस्तारपंक्ति	आस्तारपंक्ति
१२+१२+८+८	४०	प्रस्तारपंक्ति	प्रस्तारपंक्ति	प्रस्तारपंक्ति	प्रस्तारपंक्ति	प्रस्तारपंक्ति	प्रस्तारपंक्ति	प्रस्तारपंक्ति
१२+८+८+१२	४०	संस्तारपंक्ति	संस्तारपंक्ति	संस्तारपंक्ति	संस्तारपंक्ति	संस्तारपंक्ति	संस्तारपंक्ति	संस्तारपंक्ति
८+१२+१२+८	४०	विष्टारपंक्ति	विष्टारपंक्ति	विष्टारपंक्ति	विष्टारपंक्ति	विष्टारपंक्ति	विष्टारपंक्ति	विष्टारपंक्ति
१२+१२+१०+१०	४४	X	X	X	X	X	X	आर्षीपंक्ति
१०+१०+१०+१०	४०	X	विराट्पंक्ति	विराट्पंक्ति	X	विराट्पंक्ति	विराट्पंक्ति	×

पादाक्षरसंख्या	पूर्णाक्षरसंख्या	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वे०छन्दो०	जयदेव०
१०+१०+१०	३०[1]	X	X	X	X	विराट्पंक्ति	X	X
८+८+८+८+८	४०	पथ्यापंक्ति	पंक्ति	पंक्ति	पंक्ति	पथ्यापंक्ति	X	पथ्यापंक्ति
५+५+५+५+५	२५	पदपंक्ति	(गायत्रीभेदः)	(गायत्रीभेदः)	पदपंक्ति	X	(गायत्रीभेदः)	पदपंक्ति
४+६+५+५+५	२५	"	"	"	"	X	"	"
५+५+५+५	२०	अक्षरपङ्क्ति	चतुष्पदा-अक्षरपंक्ति	x	चतुष्पदा अक्षरपंक्ति	अक्षरपङ्क्ति	x	x
५+५	१०	अल्पशः	x	x	द्विपदाअक्षर पङ्क्ति	अक्षरपङ्क्ति	x	x
		अक्षरपङ्क्ति	x	x				
१२+८	२०	x	x	x	द्विपदापंक्ति	विराट्पङ्क्ति	x	x
		x	x	x	x	द्विपदाविष्टार-पंक्ति (तण्डी)	x	x
८+८+८+८+८+८	४८	जगतीपङ्क्ति	x	x	x	x	x	विस्तारपंक्ति

छान्दोग्यमन्त्र ब्राह्मण १।२।१३ का मन्त्र है—सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमेयम् । सख्यं ते मा योषाः सख्यं ते मायोष्ठ्याः । इस मन्त्र के भाष्य में गुणविष्णु और सायण दोनों ने इस मन्त्र का छन्द 'सामिकी पंक्तिरियम्' लिखा है । यह नाम अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया । यदि सामिकी पंक्ति से अभिप्राय साम्नी पङ्क्ति से माना जाये, तो यह भी उपपन्न नहीं होता । क्योंकि साम्नी पङ्क्ति में २० अक्षर होते हैं (द्र०—पूर्व पृष्ठ ११८) । इस मन्त्र में २६ अक्षर हैं ।

१ त्रिंशदक्षरा विराट् । तै० सं० २।५।१०॥

६—त्रिष्टुप् छन्द

त्रिष्टुप् छन्द में पङ्क्ति(=४०अक्षर)से चार अक्षर अधिक(=४४)होते हैं। इसमें मुख्यतया ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के चार पाद होते हैं। किन्तु पाद और अक्षरसंख्या की न्यूनाधिकता से इसके अनेक भेद हैं।

त्रिष्टुप् के भेद

उपलब्ध छन्दःशास्त्रों में त्रिष्टुप् के जितने भेद-निर्दिष्ट हैं, उनका वर्णन नीचे किया जाता है—

१—त्रिष्टुप्—जिस छन्द में ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के चार पाद ११+११+११+११(=४४) हों, वह 'त्रिष्टुप्' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, वेमाछ)। यथा—

पिबा सोममभि यमुग्र तर्द ऊर्वं गव्यं महि गृणान इन्द्र।
वियो धृष्णो वधिषो वज्रहस्त विश्वा वृत्रममित्रिया शवोभिः॥

ऋ० ६।१७।१॥

२—जागती त्रिष्टुप्—जिस छन्द में दो पाद बारह-बारह अक्षरों के हों, और दो ग्यारह-ग्यारह के १२+१२+११+११(=४६), अथवा ११+११+१२+१२(=४६), वह 'जगती त्रिष्टुप्' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥

ऋ० १।१६२।१२॥

विशेष—(क) इस छन्द में विशेष नियम नहीं है कि अक्षरसंख्या किस क्रम से हो।

(ख) जब इस पादाक्षरसंख्या का मन्त्र त्रैष्टुभ सूक्त में होगा, तो वह 'जगती त्रिष्टुप्' कहा जायेगा। और यदि जागत सूत्र में होगा, तो वह जगती का भेद माना जाएगा।

(ग) ऋक्प्रातिशाख्य में इसका उदाहरण 'सनेमि चक्रमजरम् (ऋ० १।१६४।१४) दिया है। इसके प्रथम पाद में तो १२ अक्षर हैं, परन्तु उत्तर पादों में ग्यारह-ग्यारह ही हैं। हमने जो ऊपर उदाहरण दिया है, वह वेङ्कट-माधव द्वारा उद्धृत है।

३— अभिसारिणी—जिसमें क्रमशः १०+१०+१२+१२(=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह 'अभिसारिणी त्रिष्टुप्' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥

ऋ० १०।२३।५॥

विशेष—इस उदाहरण के तृतीय पाद में ११ अक्षर हैं, १२ की पूर्ति व्यूह से करनी पड़ती है ।

४—विराट्स्थाना(क)—जिसमें क्रमशः ६+६+१०+११ (=३६) अक्षर हों, वह 'विराट्स्थाना त्रिष्टुप्' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋ० १।८९।६॥

विशेष—यह उदाहरण वेङ्कटमाधव द्वारा निर्दिष्ट हैं। इसके चतुर्थपाद में ११ अक्षरों के स्थान में १० ही अक्षर हैं, व्यूह से पूर्ति करनी चाहिए ।

५—विराट्स्थाना (ख) —जिसमें दो पाद दस-दस अक्षरों के, एक नौ का, और एक ग्यारह अक्षरों का हो (=४० अक्षर), वह भी 'विराट्स्थाना त्रिष्टुप्' कहाती है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः स्याम ते दावने वसूनाम् ।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥

ऋ० २।११।१॥

विशेष—(क) इस छन्द में पाद-क्रम नियत नहीं है ।

(ख) उपर्युक्त उदाहरण में क्रमशः १०+९+१०+११ अक्षर हैं ।

६—विराट्स्थाना (ग)—जिसमें एक पाद ९ अक्षर का, एक दस अक्षर का, और दो ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के हों (=४१ अक्षर), वह भी 'विराट्स्थाना त्रिष्टुप्' कहाती है (ऋक्प्रा०)।

विशेष—यह ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार लक्षण लिखा है, उदाहरण मृग्य है ।

७—विराड्रूपा—जिस छन्द के तीन पादों में ग्यारह-ग्यारह, और एक में ८ अक्षर (=४१) हों, वह 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

तुभ्यं॑ श्चोतन्त्यध्रिगो शचीव: स्तो॒कासो॑ अग्ने॒ मेद॑सो घृ॒तस्यं॑ ।

क॒वि॒श॒स्तो बृ॑ह॒ता भा॒नुनाग॑ ह॒व्या जु॑षस्व मेधिर ॥ ऋ० ३।२१।४॥

विशेष—(क) ऋक्प्रातिशाख्य में 'क्रीडन्नो रश्म आ भुव:' (ऋ०५। १९।५) मन्त्र इस छन्द के उदाहरण में लिखा है। इस मन्त्र में क्रमश: ८+११+१०+१० पादाक्षर हैं। इससे प्रकट होता है कि शौनक के मत में आठ अक्षर का पाद आदि में हो चाहे अन्त में, दोनों अवस्था में वह 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' छन्द होगा। वेङ्कटमाधव ने 'तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो' उदाहरण दिया है। इसके चतुर्थ पाद में आठ अक्षर हैं। वेङ्कट ने तो लक्षण में भी स्पष्ट लिखा है—पादश्चतुर्थस्तथाष्टक:। अर्थात् चतुर्थ पाद आठ अक्षर का, और पूर्व के तीन ग्यारह-ग्यारह अक्षर के होने चाहियें।

(ख) ऋक्प्रातिशाख्य के उदाहरण में दो पादों में एक-एक अक्षर की न्यूनता है। वेङ्कट के उदाहरण में एक पाद में एक अक्षर न्यून है। वेङ्कट के उदाहरण में व्यूह से अक्षरपूर्ति करनी पड़ेगी।

(ग) शौनक ने विराड्रूपा के लक्षण में ही लिखा है—

विराड्रूपा ह नामैषा त्रिष्टुम्नाक्षरसम्पदा।

अर्थात् विराड्रूपा त्रिष्टुप् में अक्षरों की पूर्ति नहीं होती।

इसकी व्याख्या करता हुआ उव्वट किसी प्राचीन ग्रन्थ का वचन उद्धृत करता है—

त्रिष्टुभो या विराट्स्थाना विराड्रूपास्तथापरा:।
बहुना अपि ता ज्ञेयास्त्रिष्टुभो ब्राह्मणं यथा॥

अर्थात्—विराट्स्थाना और विराड्रूपा जो त्रिष्टुप् हैं, उनमें बहुत अक्षरों की न्यूनता होने पर भी ब्राह्मणवचन के अनुसार त्रिष्टुप् मानी जाती हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि शौनक तथा कात्यायन प्रभृति आचार्यों ने जो छन्दोलक्षण लिखे हैं, वे ब्राह्मणग्रन्थों को दृष्टि में रखकर लिखे हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों के जो छन्द लिखे हैं, उनमें यज्ञप्रक्रिया के निर्वाह के लिए गौणता का भी आश्रय लिया है। पिङ्गल के छन्द:शास्त्र के लक्षण प्राय: इस दोष से रहित हैं। अतएव पिङ्गल का ग्रन्थ सर्वसाधारण (=सामान्य) समझा जाता है। हमने इसकी विशद विवेचना 'ब्राह्मण, श्रौत और सर्वानु-

ऋमणी आदि के छन्दों की 'अयथार्थता और उसका कारण' नामक अध्याय में की है। जिसको इस विषय की विशेष जिज्ञासा हो, वे वहीं अवलोकन करें।

८—पुरस्ताज्ज्योतिः (क)—जिस छन्द में क्रमशः ८+१२+१२+१२ (=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह 'पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)।

विशेष—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् का उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्य में नहीं दिया है। वेङ्कट माधव इस विषय में लिखता है—

इमे त इन्द्र ते वयं ये त्वारभ्य चरामसि ।
इत्यध्ययनमेकेषां मुख्यः पादस्तदाष्टकः ॥
अस्माकं तु जगत्येषा पुरुष्टुतपदान्विता ।

अर्थात्—कई शाखावाले—

इमे त इन्द्र ते वयं ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥

इस प्रकार मन्त्र पढ़ते हैं। उनके पाठ में प्रथम पाठ आठ अक्षर का मिलता है। हमारे अध्ययन में यह ऋक् जगती छन्द की है। इसके प्रथम पाद का पाठ है—इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत (ऋ० १।५७।४)। इस पाठ में प्रथम पाद में भी १२ अक्षर होने से यह जागतछन्दस्का ऋक् है।

९—मध्येज्योतिः (क)—जिस छन्द में क्रमशः १२+८+१२+१२, अथवा १२+१२+८+१२ अक्षरों के चार पाद हों, वह 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है (ऋक्प्रा ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

यद्वा॑ य॒ज्ञं मन॑वे सं॑मिमि॒क्षथु॑र् ए॒वेत् का॒ण्वस्य॑ बोधतम् ।
बृह॒स्पतिं॒ विश्वा॑न् दे॒वाँ अ॒हं हु॑व॒ इन्द्रा॒विष्णू॑ अ॒श्विना॑वाशु॒हेष॑सा ॥
ऋ० ८।१०।२॥

विशेष—इस ऋचा में द्वितीय पाद आठ अक्षर का है। वेङ्कट माधव ने जिसके तृतीय पाद में आठ अक्षर हों, उस छन्द का उदाहरण 'तदश्विना भिषजा' दिया है। वह इस प्रकार है—

तद॒श्विना॑ भि॒षजा॑ रु॒द्रव॑र्तनी॒ सर॑स्वती वयति॒ पेशो॒ अन्त॑रम् ।
अस्थि॑ म॒ज्जानं॒ मास॑रैः कारोत॒रेण॒ दध॑तो॒ गवां॑ त्व॒चि ॥
यजु० १९।८२॥

१०—उपरिष्टाज्ज्योतिः (क)—जिस छन्द में क्रमशः १२+१२+१२+८ (=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह 'उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनाऽऽदित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥

ऋ० ८।३५।१॥

विशेष—इस मन्त्र के द्वितीय और तृतीय पाद में एक-एक अक्षर की न्यूनता है, उसकी पूर्त्ति व्यूह से करनी चाहिये।

११—पुरस्ताज्ज्योतिः (ख)—जिस छन्द में क्रमशः ८+११+११+११ (=४१) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है। उदाहरण मृग्य है।

१२—मध्येज्योतिः(ख)—जिस छन्द में क्रमशः११+८+११+११, अथवा ११+११+८+११ (=४१) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'मध्येज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है। उदाहरण मृग्य है।

१३—उपरिष्टाज्ज्योतिः (ख)—जिस छन्द में क्रमशः ११+११+११+८(=४१) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है। उदाहरण मृग्य है।

१४—पुरस्ताज्ज्योतिः (ग)—जिस छन्द में क्रमशः ११+८+८+८+८ (=४३) अक्षरों के पांच पाद हों, वह 'पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता हैं (पिसू० उनिसू)।

विशेष—इस छन्द का उदाहरण मृग्य है। बम्बईमुद्रित छन्द:सूत्र की व्याख्या में तमु ष्टुहीन्द्रं (ऋ० १।१७३।५) मन्त्र उद्धृत किया है। उसमें जो पादविच्छेद दर्शाया है, वह अगतिक कल्पनारूप है। पं० वेणीराम शर्मा ने अपनी व्याख्या में 'कृधी नो अह्रयो' (ऋ० १०।६३।६) मन्त्र उदाहरण रूप में दिया है, उसके पादविभाग भी युक्त प्रतीत नहीं होते। अतएव हमने इस छन्द का उदाहरण अन्वेषणीय माना है।

१५—मध्येज्योतिः (ग)—जिस छन्द में क्रमशः ८+८+११+८+८ (=४३) अक्षरों के पांच पाद हों, वह 'मध्येज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है (पिसू, उनिसू)। यथा—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि
द्युमत् पावक दीदिहि ॥ ऋ० ६।४८।७॥

विशेष—कात्यायन ने उक्त मन्त्र का छन्द महाबृहती त्रिष्टुप् लिखा है। कात्यायन के मत में महाबृहती छन्द में ८+८+८+८+१२(४४) अक्षरों-वाले पांच पाद होते हैं। अतः महाबृहती लिखना चिन्त्य है। शौनक ने इसे यव-मध्या त्रिष्टुप् के उदाहरण में लिखा है, वह व्यूह से ठीक हो सकता है।

१६—उपरिष्टाज्ज्योतिः (ग)—जिस छन्द में क्रमशः ८+८+८+८+११ (=४३) अक्षरोंवाले पांच पाद हों, वह 'उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्' कहाता है (पिसू, उनिसू)। यथा—

संवेशनीं संयमिनीं ग्रहनक्षत्रमालिनीम्।
प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीं भद्रे पारमशीमहि।
भद्रे पारमशीमह्यों नमः ॥ऋ०१०।१२७के पश्चात् खिल,रात्रिसूक्त११॥

विशेष (क)—यह उदाहरण पिङ्गलसूत्र व्याख्या में पं० वेणीराम शर्मा ने दिया है। बम्बईमुद्रित ग्रन्थ में जयतं च प्रस्तुतं च (ऋ० ८।३५।११) मन्त्र उदाहृत है, परन्तु उसके पादविभाग अर्थानुसारी न होने से काल्प-निक हैं।

(ख) रात्रिसूक्त के मन्त्रों में स्वरचिह्न बहुत अशुद्ध हैं। इस मन्त्र का द्वितीय चरण 'ग्रहनक्षत्रमालिनीम्' एक पद है। अतः इसमें स्वरशास्त्रानुसार केवल एक उदात्त होना चाहिये और भी वह 'लि' अक्षर। परन्तु मुद्रित पाठ में 'ह' 'मा' दो उदात्त हैं। इसी प्रकार तृतीय चरण में 'शिवां' को सारा निघात मानकर 'शि' को स्वरित, तथा 'वां' को एकश्रुति प्रकट किया है। पूना वेद-संशोधन मण्डल से प्रकाशित ऋग्वेदसायणभाष्य के चतुर्थ खण्ड में भी खिल सूक्त छपे हैं। उसमें भी यही स्वर है।

१७—महाबृहती, (पञ्चपदा) त्रिष्टुप्—जिस छन्द में क्रमशः १२+८+८+८+८ (=४४) अक्षरों के पांच चरण हों, वह 'महाबृहती त्रिष्टुप् (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ), पंचपदा त्रिष्टुप् (निसू) नाम से व्यवहृत होता है। यथा—

नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य पीतये ।
आयातमश्विनागतम् अवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥
ऋ० ८।३५।२३॥

विशेष—पिङ्गल के मत में इसका नाम 'पुरस्ताज्ज्योतिर्जगती' है। इस का वर्णन अगले छन्द में होगा ।

१८—यवमध्या—जिस छन्द में क्रमशः ८+८+१२+८+८ (=४४) अक्षरों के पांच पाद हों, वह 'यवमध्या त्रिष्टुप्' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ) । यथा—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठय रेवन्न शुक्र दीदिहि
द्युमत् पावक दीदिहि ॥ ऋ० ६।४८।७॥

विशेष—(क) शौनक द्वारा निर्दिष्ट इस उदाहरण के तृतीय पाद में ११ अक्षर हैं, व्यूह से एक अक्षर की पूर्ति कर लेनी चाहिए । वेङ्कट माधव ने 'सं मा तपन्त्यभितः' (ऋ० १।१०५।८) उदाहरण दिया है । इसके तृतीय पाद में १२ के स्थान में १० ही अक्षर हैं । प्रथम पाद में भी एक अक्षर न्यून है ।

(ख) पिङ्गल के मत में इस छन्द का नाम 'मध्येज्योतिर्जगती' है ।

१९—पङ्क्त्युत्तरा, विराट्पूर्वा—जिस छन्द में क्रमशः १०+१०+८+८+८ (=४४) अक्षरों के पांच पाद हों, वह 'पङ्क्त्युत्तरा त्रिष्टुप्', अथवा 'विराट्पूर्वा त्रिष्टुप्' नाम से स्मरण किया जाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ) । यथा—

एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः ।
ता सूरिषु श्रवो बृहद् रयिं गृणत्सु दिधृतम् इषं गृणत्सु दिधृतम् ॥
ऋ० ५।८६।६॥

२०—द्विपदा—जिस छन्द में ग्यारह-ग्यारह अक्षर के दो पाद हों, वह 'द्विपदा त्रिष्टुप्' कहाता है ।

२१—एकपदा—जिस छन्द में ग्यारह अक्षर का एक ही पाद हो, वह 'एकपदा त्रिष्टुप्' कहाता है ।

विशेष—द्विपदा और एकपदा त्रिष्टुप् के उदाहरण मृग्य हैं ।

त्रिष्टुप् छन्द के जितने भेद पूर्व लिखे हैं, उनका चित्र इस प्रकार है—

त्रिष्टुप् के भेदों का चित्र

पादाक्षरसंख्या	पूर्णाक्षरसं०	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वे०छन्दो०	जयदेव०
११+११+११+११	४४		त्रिष्टुप्	त्रिष्टुप्	त्रिष्टुप्		त्रिष्टुप्	
१२+१२+११+११	४६		जागती त्रिष्टुप्	जागती त्रिष्टुप्			जागती त्रिष्टुप्	
१०+१०+१२+१२	४४		अभिसारिणी०	अभिसारिणी०			अभिसारिणी०	
९+९+१०+११	३९		विराट्स्थाना	विराट्स्थाना			विराट्स्थाना०	
१०+१०+९+११*	४०		"	"			"	
९+१०+११+११*	४१		"	X			X	
११+११+११+८*	४१		विराड्रूपा०	विराड्रूपा०			विराड्रूपा०	
८+१२+१२+१२	४४		पुरस्ताज्योति०	पुरस्ताज्ज्योति०			पुरस्ताज्ज्योति	
१२+८+१२+१२ १२+१२+८+१२	४४		मध्येज्योति०	मध्येज्योति०			मध्येज्योति०	
१२+१२+१२+८	४४		उपरिष्टाज्ज्योति०	उपरिष्टाज्ज्योति०			उपरिष्टाज्ज्योति०	
८+११+११+११	४१							पुरस्ता-ज्ज्योति०
११+८+११+११ ११+११+८+११	४१							मध्येज्योति०

पादाक्षरसंख्या	पूर्णाक्षर सं०	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वेमाछन्दो०	जयदेव०
११+११+११+८	४१							उपरिष्टा-ज्ज्योति०
११+८+८+८+८	४३	पुरस्ताज्ज्योति०				पुरस्ता-ज्ज्योति०		
८+८+११+८+८	४३	मध्येज्योति०				मध्ये-ज्योति०		
८+८+८+८+११	४३	उपरिष्टाज्ज्योति०				उपरिष्टा-ज्ज्योति०		
१२+८+८+८+८	४४		महाबृहती 'त्रिष्टुप्	महाबृहती त्रिष्टुप्	पञ्चपदा त्रिष्टुप्		महाबृहती त्रिष्टुप्	
८+८+१२+८+८	४४		यवमध्यात्रि०	यवमध्यात्रि०			यवमध्यात्रि०	
१०+१०+८+८+८	४४		[पङ्क्त्युत्तरात्रि० विराट्पूर्वात्रि०	पङ्क्त्युत्तरात्रि० विराट्पूर्वात्रि०			पङ्क्त्युत्तरात्रि० विराट्पूर्वात्रि०	
११+११	२२				द्विपरात्रि०	द्विपदात्रि०		
११	११				एकपदात्रि०	एकपदात्रि०		

*इस प्रकार चिह्नित पदाक्षरसंख्या में क्रमनियम नहीं है।

७-जगती छन्द

जगती छन्द में त्रिष्टुप् (४४ अक्षर) से चार अक्षर अधिक (४८) होते हैं। इसमें प्राय: बारह-बारह अक्षरों के चार पाद होते हैं। किन्तु पाद और अक्षर-संख्या के न्यूनाधिक होने से इसके अनेक भेद होते हैं।

जगती के भेद

वर्तमान छन्द:शास्त्रों में जगती के जितने भेद उपलब्ध होते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

१—जगती—जिस छन्द में बारह-बारह अक्षरों के चार पाद हों, वह 'जगती' नामवाला होता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, निसू, वेमाछ)। यथा—

जनस्य गोपा अंजनिष्ट जागृविर् अग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद् विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥
ऋ० ५।११।१॥

२—उपजगती—जिस छन्द में १२+१२+११+११ (=४६) अक्षरों के चार पाद हों, वह 'उपजगती' नाम से व्यवहृत होता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

यस्मै त्वमायजसे स साधत्य नर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिर् अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥
ऋ० १।९४।२॥

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या ३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूद् इद्धूनोति वातो यथा वनम्॥
ऋ० १०।२३।४॥

विशेष—(क) पहला उदाहरण 'यस्मै' वेङ्कट माधव द्वारा निर्दिष्ट है, और दूसरा शौनक द्वारा। पूर्व उदाहरण के प्रथम पाद में ११ के स्थान में १०, और तीसरे में १२ के स्थान में ११ अक्षर हैं। इनकी पूर्ति व्यूह से करनी चाहिए। द्वितीय उदाहरण में द्वितीय पाद में १२ अक्षर हैं, और किसी पाद में पूरे अक्षर नहीं हैं।

(ख) शौनक के उदाहरण से प्रतीत होता है कि ११+११+१२+१२ अक्षरों का क्रम अभिप्रेत नहीं है। कोई भी दो पाद ग्यारह-ग्यारह के हों, और कोई से बारह-बारह के, तब भी वह 'उपजगती' कहा जायगा।

(ग) इतने ही अक्षरों का एक छन्द त्रिष्टुप् के प्रकरण में कह चुके हैं। वस्तुतः इस छन्द में ४६ अक्षर होने से यह त्रिष्टुप् और जगती दोनों बन सकता है। अतः सूक्त के अनुरोध से यह त्रिष्टुप् अथवा जगती कहाता है। अर्थात् त्रैष्टुप् सूक्त में हो तो त्रिष्टुप् कहा जायगा, यदि जागत में हो, तो जगती।

३—पुरस्ताज्ज्योतिः (क)—जिस छन्द में क्रमशः ८+१२+१२+१२ (=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'पुरस्ताज्ज्योतिर्जगती' कहाता है।

उदाहरण अन्वेषणीय है।

४—मध्येज्योतिः (क)—जिस छन्द में क्रमशः १२+८+१२+१२, अथवा १२+१२+८+१२ (=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'मध्येज्योतिर्जगती' कहाता है।

उदाहरण अन्वेषणीय है।

५—उपरिष्टाज्ज्योतिः (क)—जिस छन्द में क्रमशः १२+१२+१२+८ (=४४) अक्षरों के चार पाद हों, वह जयदेव के मत में 'उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती' कहाता है।

उदाहरण अन्वेषणीय हैं।

विशेष—जयदेव ने जिन ज्योतिमती छन्दों को जगती का भेद माना है, उन्हें शौनक, कात्यायन और वेङ्कटमाधव ने त्रिष्टुप् के अन्तर्गत गिना है। देखिये—त्रिष्टुप् के भेद संख्या ८—१०।

६—महासतोबृहती, पञ्चपदाजगती—जिस छन्द में कोई से तीन पाद आठ आठ अक्षरों के, और दो बारह-बारह अक्षरों के हों, वह 'महासतोबृहती जगती' (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ), तथा 'पञ्चपदा जगती' (निसू, उनिसू) छन्द कहाता है। यथा—

आयः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा॥
ऋ० ६।४८।६॥

विशेष—पिङ्गल ने इसका निर्देश नहीं किया। पादाक्षरों की पूर्ति व्यूह से करनी चाहिए। प्रथम और तृतीय द्वादशाक्षर हैं।

७—पुरस्ताज्ज्योतिः (ख)—जिस छन्द में क्रमशः १२+८+८+८+८ (=४४) अक्षरों के पांच पाद हों, वह 'पुरस्ताज्ज्योतिर्जगती' कहाता है (पिसू, उनिसू)।

विशेष—(क) इसका उदाहरण त्रिष्टुप् प्रकरण में संख्या १७ महाबृहती छन्दवाला देखें।

(ख) ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ में इस छन्द का नाम 'महाबृहती त्रिष्टुप्' लिखा है।

८—मध्येज्योतिः (ख)—जिस छन्द में क्रमशः ८+८+१२+८+८ (=४४) अक्षरों के पांच पाद हों, वह 'मध्येज्योतिर्जगती' कहाता है (पिसू, उनिसू)। यथा—

यन्मे॒ नोक्तं॒ तद् र॑मतां शकेयं॒ यद॑नु ब्रु॒वे ।
निशा॑मतं॒ नि शा॑महे॒ मयि॑ व्र॒तं स॒ह व्र॒तेषु॑ भूयासं॒
ब्रह्म॑णा सं ग॑मेमहि ॥ ऋ० १०।१५१ परिशिष्ट, मन्त्र ४ ॥

विशेष— (क)—यह मन्त्र और उपर्युक्त पाद-विभाग पिङ्गलसूत्र के टीकाकार वेणीराम द्वारा निर्दिष्ट है। अर्थानुरोध से पाद-विच्छेद चिन्त्य होने से उदाहरण चिन्त्य है।

(ख) ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ में इसी छन्द का नाम 'यवमध्यात्रिष्टुप्' लिखा है (द्र०—सं० १८)। अतः उसी का 'बृहद्भिरग्ने' उदाहरण यहां भी जान लेना चाहिये।

९—उपरिष्टाज्ज्योतिः (ख)—जिस छन्द में क्रमशः ८+८+८+८+१२ (=४४) अक्षर हों, वह 'उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती' कहाता है (पिसू, निसू)। यथा—

लोकं पृण छिद्रं पृण अथो सीद शिवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिः अस्मिन् योनावसीषदत्
तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ तै० ब्रा० ३।११।६।३॥

विशेष—यह उदाहरण वेणीराम शर्मा द्वारा निर्दिष्ट है। इसमें द्वितीय चरण में ७ अक्षर हैं, पाँचवें में १३। समूहावलम्बन से पूरे ४४ होते हैं।

१०-षट्पदा महापंक्ति (क)—जिस छन्द में आठ-आठ अक्षरों (८×६=४८) के ६ पाद हों, वह 'षट्पदाजगती' (पिसू, निसू, उनिसू), अथवा 'महापंक्तिजगती' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

महिं वो महतामवो वरुण मित्रं दाशुषे ।

यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशद्

अने हसो व ऊतयः सूऊतयो व ऊतयः ॥ ऋ० ८।४७।१॥

विशेष— (क) शौनक ने महापंक्ति के उदाहरण में अस्मा उ षु प्रभूतये (ऋ० ८।४१।१), उभे यदिन्द्र रोदसी (ऋ० १०।१३४।१), तथा सेहान उग्र पृतना (ऋ० ८।३७।२) से लेकर ७ वें मन्त्र तक की ऋचाएं निर्दिष्ट की हैं।

(ख) शौनक द्वारा निर्दिष्ट ऋचाओं के कई पाद न्यूनाक्षरवाले है।

(ग) ऋ० ८।३७।२—६ तक की ऋचाओं के महापंक्ति छन्द के अनुरोध से जो पाद-विभाग दर्शाया है, उसमें प्रति मन्त्र पाँचवें पाद के आरम्भ में वृत्रहन् पद सर्वानुदात्त आता है। यथा—

माध्यंन्दिनस्य सवंनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ।

इसी प्रकार तृतीय मन्त्र के द्वितीय चरण में राजसि पद भी सर्वानुदात्त मिलता है।

(घ) यही उपरिनिर्दिष्ट उत्तरार्ध इस सूक्त के प्रथम मन्त्र का भी उत्तरार्ध है। प्रथम मन्त्र का छन्द कात्यायन ने अतिजगती माना है। तदनुसार उत्तरार्ध में पाद-विभाग माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन् पर किया जाता है। इस विभाग में कोई दोष नहीं।

(ङ) एक ही जैसे उत्तरार्ध का कात्यायन द्वारा एक स्थान पर अन्यथा पाद-विभाग मानना दूसरे स्थान पर अन्यथा पाद-विभाग मानना चिन्त्य है।

(च) शौनक ने इस सूक्त के सभी मन्त्रों में 'माध्यन्दिनस्य सवनस्य' पर पाद-विभाग मानकर सर्वानुदात्त वृत्रहन् को उत्तरपाद के आरम्भ में माना है। देखिए—ऋक्प्राति० १७।३६। यही मत उव्वट ने ऋक्प्रा० १७।२४ की टीका में दर्शाया है।

(छ) यदि सभी मन्त्रों में वृत्रहन् पद को पूर्वपाद के अन्त में सम्मिलित कर दें (जैसा कि कात्यायन् ने प्रथम मन्त्र में स्वीकार किया है), तो किसी चरण के आरम्भ में वृत्रहन् सर्वानुदात्त पद नहीं आयेगा। इस प्रकार पाणिनि का अनुदात्तं सर्वमपादादौ (अ०८।१।१८) लक्षण भी युक्त हो जाएगा।

इस पक्ष में इन मन्त्रों का महापंक्ति जगती छन्द न होकर अन्य अवान्तर छन्द मानना पड़ेगा।

(ज) शौनक ने पाद के आरम्भ में जितने सर्वानुदात्त पद गिनाए हैं, वे सब अन्यथा पाद-विभाग करने पर समाहित हो जाते हैं, अर्थात् पाद के आरम्भ में नहीं रहते। केवल ऋ० १।२।८ के द्वितीय चरण में ऋतावृधावृतस्पृशा का समाधान अभी हमारी समझ में नहीं आया।

११—महापंक्ति (ख)— जिस छन्द में क्रमशः ८+८+७+६+१०+९(=४८) अक्षरों के छह पाद हों, वह भी 'महापंक्ति जगती' कहाता है (ऋक्प्रा, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामा—रे अस्य योजनं हरिष्ठा
मधु त्वा मधुला चकार ॥ ऋ० १।१९१।१०॥

विशेष—(क) इस उदाहरण के पांचवें पाद में व्यूह से अक्षरपूर्ति समझनी चाहिए।

(ख) इन में से प्रथम छन्द का नाम 'महापंक्ति इसलिए है कि आठ-आठ अक्षरों के पांच पादवाले छन्द का नाम पहले पंक्ति में कह चुके हैं। उससे इसमें आठ अक्षर का एक पाद अधिक है, अतः इसका 'महापंक्ति नाम रखा। उसके सादृश्य से संख्या ११ का नाम भी महापंक्ति ही रखा।

१२—विष्टारपंक्ति, प्रवृद्धपदा—जिस छन्द में छह-छह अक्षरों के आठ पाद (६×८=४८) हों, उसे निदानसूत्र में 'विष्टारपंक्ति जगती', अथवा 'प्रवृद्धपदा जगती' कहा है।

निदानसूत्रकार तथा उसके टीकाकार ने इस छन्दोभेद का कोई उदाहरण नहीं दिया।

१३—द्विपदा—जिस छन्द में बारह-बारह अक्षरों के दो पाद हों, वह 'द्विपदाजगती' कहाता है (निसू, उनिसू)। उदाहरण मृग्य है।

१४—एकपदा—जिस छन्द में १२ अक्षरों का एक ही पाद हो, वह 'एकपदाजगती' कहाता है (निसू, उनिसू)। उदाहरण मृग्य है।

१५—ज्योतिष्मती—इस छन्द का निर्देश केवल निदानसूत्र में है। उस में भी इतना ही निर्देश किया है कि इस छन्द का अन्तिम पाद आठ अक्षर का होता है। शेष ४० अक्षरों के पादों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

जगती छन्द के जितने भेद-प्रभेद पूर्व दर्शाए हैं, उनका चित्र इस प्रकार है—

जगती के भेदों का चित्र

पादाक्षरसंख्या	पूर्णाक्षरसं०	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वे० छन्दो०	जयदेव०
१२+१२+१२+१२	४८	X	जगती	जगती	जगती	X	जगती	X
१२+१२+११+११	४६	X	उपजगती	उपजगती	X	X	उपजगती	X
८+१२+१२+१२	४४	X	X	X	X	X	X	पुरस्ताज्ज्योति०
१२+८+१२+१२	४४	X	X	X	X	X	X	मध्ये-ज्योति०
१२+१२+८+१२		X	X	X	X	X	X	
१२+१२+१२+८	४४	X	X	X	X	X	X	उपरिष्टा-ज्ज्योति०
८+८+८+१२+१२*	४८	X	महासतोबृहती	महासतोबृहती	पञ्चपदाजगती	X	महासतोबृहती	X
१२+८+८+८+८	४४	पुरस्ता-ज्ज्योति०	X	X	X	पुरस्ता-ज्ज्योति०	X	X
८+८+१२+८+८	४४	मध्येज्योति०	X	X	X	मध्येज्योति०	x	x
८+८+८+८+१२	४४	उपरिष्टा-ज्ज्योति०	x	x	x	उपरिष्टा-ज्ज्योति०	x	x
							x	x

*इस प्रकार चिह्नित पादाक्षरसंख्या में क्रम अभिप्रेत नहीं है।

पादाक्षरसंख्या	पूर्णाक्षरसं०	पिङ्गल०	ऋक्प्राति०	ऋक्सर्वा०	निदान०	उपनिदान०	वेमाछन्दो०	जयदेव०
८+८+८+८+८+८	४८	षट्पदा-जगती	महापंक्ति जगती	महापंक्ति जगती	षट्पदा-जगती	षट्पदा-जगती	महापंक्ति जागती	x
८+८+७+६+१०+९	४८	x	x	x	x	x	,,	x
६+६+६+६+६+६+६+६	४८	x	x	x	विष्टारपंक्ति जगती	X	X	X
					प्रवृद्धपदा जगती	x	x	x
१२+१२	२४	x	x	x	द्विपदा-जगती	द्विपदा जगती	x	x
१२	१२	x	x	x	एकपदा-जगती	एकपदा-जगती	x	x
							x	x
अन्त्यपाद ८	४०+८	x	x	x	ज्योतिष्मती-जगती	x	x	x

इस प्रकार इस अध्याय में आर्च छन्दों के बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती के भेद-प्रभेदों का वर्णन करके अगले अध्याय में अतिछन्दों का वर्णन करेंगे।

—:o:—

एकादश अध्याय

आर्च छन्द (३)

द्वितीय, तृतीय, सप्तक

आर्च छन्दों के तीन सप्तकों में से प्रथम सप्तक के भेद-प्रभेदों का वर्णन हम पूर्व (अ० ९, १० में) कर चुके हैं। इस अध्याय में क्रमप्राप्त द्वितीय, तृतीय सप्तक के छन्दों का वर्णन करेंगे ।

द्वितीय सप्तक=अतिछन्द—द्वितीय सप्तक के अतिजगती, अतिशक्वरी, अत्यष्टि और अतिधृति ये चार छन्द अति विशेषण युक्त हैं। अतः भूमान्याय से अथवा द्वितीय सप्तक का आदि छन्द अतिजगती के अति विशेषण युक्त होने से द्वितीय सप्तक अतिछन्द नाम से व्यवहृत होता है।

पिङ्गलसूत्रादि में पादसंख्या व तदक्षरसंख्या का अभाव—पिङ्गलसूत्र ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी, निदानसूत्र, उपनिदानसूत्र और जयदेवीय छन्दःसूत्र में द्वितीय और तृतीय सप्तक के पादों की, तथा उनके अक्षरों की संख्या का वर्णन नहीं मिलता ।

ऋक्सर्वानुक्रमणी में तृतीय सप्तक का अभाव—ऋक्सर्वानुक्रमणी में तृतीय सप्तक का उल्लेख नहीं मिलता। ऋक्प्रातिशाख्य और वेङ्कटमाधव की छन्दोनुक्रमणी में तृतीय सप्तक के नाम तथा अक्षरसंख्या का ही उल्लेख है। इसका कारण यह है कि शाकलसंहिता में, जिसके छन्दों का वर्णन कात्यायन, शौनक और वेङ्कटमाधव ने किया है, तृतीय सप्तक के छन्द प्रयुक्त नहीं हैं। आचार्य शौनक ने लिखा है—

सर्वा दाशतयीष्वेता, उत्तरास्तु सुभेषजे ॥१६।८७,८८॥

अर्थात्—ये सब [गायत्री से लेकर अतिधृतिपर्यन्त दर्शाये] छन्द ऋग्वेद तथा उसकी शाखाओं में उपलब्ध होते हैं। उत्तर [तृतीय सप्तक के] छन्द 'सुभेषज' ऋचाओं में देखे जाते हैं।

'सुभेषज' ऋचाएं कौनसी हैं, यह हमें स्पष्ट ज्ञात नहीं। इसके व्याख्याकार उव्वट ने भी इस पर कुछ प्रकाश नहीं डाला ? क्या सुभेषज शब्द से अथर्ववेद का ग्रहण संभव है। अथर्ववेद को भेषजवेद भी कहते हैं। अथर्ववेद में तृतीय सप्तक के छन्द भी हैं।

वेङ्कट माधव भी छन्दोऽनुक्रमणी में लिखता है—

चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणे—
श्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि ।
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायाम्,
अन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति ।।

चतुरधिकछन्दांसि दर्शितानि चतुर्दश ।
यानि दाशतयीष्वासन्नुत्तराणि सुभेषजे ।।

अर्थात्—इस प्रकार प्राचीन कवियों द्वारा देखे गए चौदह छन्दों का वर्णन किया गया। इतने ही छन्द [हमारी] संहिता में उपलब्ध होते हैं, अन्य [तृतीय सप्तक के] छन्द अन्य वेदों में हैं । एकसो चार अक्षरपर्यन्त जो [इक्कीस] छन्द हैं, उनमें से [यहां] चौदह छन्द दर्शाये हैं, जो ऋक्संहिता में हैं । उत्तर [तृतीय सप्तक के] छन्द सुभेषज [ऋचाओं] में हैं ।

द्वितीय सप्तक=अतिछन्द

द्वितीय सप्तक के छन्दों की पादसंख्या और तत्संबद्ध अक्षरसंख्या का वर्णन शौनक के नाम से प्रसिद्ध पादविधान, वेङ्कटमाधव की छन्दोऽनुक्रमणी और षड्गुरुशिष्यविरचित ऋक्सर्वानुक्रमणी की वेदार्थदीपिका नाम्नी व्याख्या में उपलब्ध होते हैं ।

दोनों का आधार पादविधान—वेङ्कटमाधव और षड्गुरुशिष्य ने द्वितीय सप्तक के छन्दों की पाद और तत्सम्बद्ध अक्षरसंख्या का जो वर्णन किया है, उनका मूल शौनकीय पाद-विधान ग्रन्थ है । षड्गुरुशिष्य ने तो स्पष्ट ही पादाश्चानुक्रमण्यन्तरसिद्धा उच्यन्ते (ऋक्सर्वा० टीका पृष्ठ ७५ मैकडानल संस्क०) लिखकर पाद-विधान ग्रन्थ के ५ श्लोक उद्धृत किए हैं ।[1] वेङ्कटमाधव ने यद्यपि 'पाद-विधान' का साक्षात् उल्लेख नहीं किया, तथापि पाद-विधान और छन्दोऽनुक्रमणी की तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि वेङ्कट माधव के अतिछन्द के पाद और अक्षरसंख्या के निर्देश का आधार 'पाद-विधान' ग्रन्थ ही है ।

---

१. पंडित केदारनाथ ने निर्णयसागर मुद्रित पिङ्गलछन्दःसूत्र (सन् १९२७) के पृष्ठ २९ पर पाद-विधान के षड्गुरुशिष्य द्वारा उद्धृत श्लोकों को कात्यायन क नाम से उद्धृत किया है ।

वेङ्कटमाधव की विशेषता—यद्यपि द्वितीय सप्तक के छन्दोवर्णन में वेङ्कटमाधव का मुख्य आधार 'पादविधान' है, पुनरपि उसने पाद तथा अक्षरसंख्या के निर्देश के साथ-साथ तत्तत् छन्दों के उदाहरण भी दिये हैं।

उव्वटनिर्दिष्ट द्वितीय सप्तक के उदाहरण—ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याता उव्वट ने भी द्वितीय सप्तक के उदाहरणों का निर्देश किया है।

पं० केदारनाथ द्वारा निर्दिष्ट उदाहरण—निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित (सन् १९२७) पिङ्गलछन्द के सम्पादक पं० केदारनाथ ने द्वितीय और तृतीय सप्तक के उदाहरण दिये हैं।[1]

षड्गुरुशिष्य—षड्गुरुशिष्य ने भी वेदार्थदीपिका में द्वितीय सप्तक के पादाक्षरों का निर्देश करते हुए तत्तत् छन्दों के उदाहरण दिये होंगे, परन्तु वह ग्रन्थ इस समय हमारे पास नहीं है। इसलिए उससे हम लाभ नहीं उठा सके।

अब हम क्रमशः द्वितीय सप्तक के छन्दों का वर्णन करते हैं—

१—अतिजगती

अतिजगती छन्द में पांच पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में क्रमशः १२+१२+१२+८+८(=५२) अक्षर होते हैं (पादविधान, वेमाछ)। यथा—

प्र वो मुहे मृतयो यन्तु विष्णवे
मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्।
प्र शर्धाय प्रयज्यवे सुखादये
तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे ॥ ऋ० ५।८७।१॥

यह उदाहरण पादविधान और वेङ्कटमाधव के ग्रन्थ में निर्दिष्ट है। इसमें यथाक्रम १२+१२+१२+८+८ (=५२) अक्षर हैं।

उव्वट द्वारा उद्धृत उदाहरण इस प्रकार है—

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं
सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो
ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥ ऋ० ८।९७।१३॥

---

१. सम्भव है पण्डित केदारनाथ ने ये उदाहरण षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका से लिए हों। हमारे पास इस समय वेदार्थदीपिका नहीं है। अतः निश्चयपूर्वक नहीं लिख सकते।

इस उदाहरण में क्रमशः १३+१३+१०+८+८ (=५२) अक्षरों के पांच पाद हैं। यद्यपि पादसंख्या (५) और पूर्णाक्षरसंख्या (५२) ठीक है, परन्तु पादविधान के अनुसार पादाक्षरसंख्या नहीं है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसे अतिजगती ही कहा है।

केदारनाथ द्वारा निर्दिष्ट उदाहरण है—

स भ्रातरं॒ वरु॑णमग्न॒ आ व॑वृत्स्व

दे॒वाँ अच्छा॑ सुम॒ती य॒ज्ञव॑नसं॒ ज्येष्ठं॑ य॒ज्ञव॑नसम्।

ऋ॒तावा॑नमादि॒त्यं च॑र्षणी॒धृतं॒ राजा॑नं चर्ष॒णी॒धृत॑म्॥ ऋ० ४।१।२॥

इस उदाहरण में क्रमशः १३+१२+७+१२+८ (=५२) अक्षरो के पांच पाद हैं। इसमें भी पादसंख्या और पूर्णाक्षरसंख्या तो समान है, परन्तु पादाक्षरसंख्या पादविधान के अनुसार नहीं है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसे भी अतिजगती कहा है।

अतिजगती के भेद—इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अतिजगती में पांच पाद होते हैं,यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। पादाक्षरसंख्या में और उनके क्रम में जो विषमता देखी जाती है, उसके आधार पर प्रथम सप्तक के गायत्री आदि छन्दों के समान अतिजगती के भी अवान्तर भेदों का उपसंख्यान (कथन) करना चाहिये। प्राचीन छन्दःशास्त्रकारों ने प्रथम सप्तक के समान द्वितीय सप्तक के भेद-प्रभेदों का निर्देश नहीं किया है।

द्वितीय सप्तक के भेद-प्रभेदों के अनिर्देश का कारण—हम इस ग्रन्थ के 'ब्राह्मण श्रौत और सर्वानुक्रमणी के छन्दों की अयथार्थता और उसका कारण' शीर्षक अध्याय में बताएंगे कि कात्यायन शौनक और पतञ्जलि प्रभृति प्राचीन ग्रन्थकारों ने छन्दों का जो वर्णन किया है, उसका मूल आधार ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रौतसूत्र हैं। ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में याज्ञिक विधि के प्रसंग में प्रथम सप्तक के छन्दों के अनेक भेद-प्रभेदों का निर्देश किया है। परन्तु द्वितीय सप्तक के छन्दों का सामान्य नाम से ही उल्लेख मिलता है। अतएव शौनक प्रभृति आचार्यों ने द्वितीय सप्तक की केवल अक्षरसंख्या का उल्लेख किया। पादाक्षरसंख्या के भेद से उनके जो अवान्तर भेद हो सकते थे, उनका निर्देश नहीं किया।

२—शक्वरी (शक्वरि)

शक्वरी छन्द में सात पाद होते हैं, और प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। (७X८=५६) होते हैं (पादविधान, वेमाछ)।

तैत्तिरीय संहिता—तैत्तिरीय संहिता में अनेक स्थानों पर शक्वरी को सप्तपदा कहा है। यथा—

सप्तपदां ते शक्वरीम्। तै० सं० २।६।२॥

शक्वरि—तैत्तिरीय संहिता में दीर्घान्त शक्वरी पद का निर्देश होते हुए भी कहीं-कहीं ह्रस्वान्त शक्वरि पद का भी उल्लेख मिलता है। यथा—

सप्तपदां शक्वरिमुदजयत्। तै० सं० १।७।११॥

यह ह्रस्वान्त प्रमादपाठ नहीं है। वैदिकों द्वारा इसी प्रकार पढ़ा जाता है। अन्यत्र ह्रस्वान्त के प्रयोग मिलते हैं (द्र०—तै० सं० २।६।२)।

अन्य उदाहरण—तैत्तिरीय संहिता में छन्दों के अन्य नामों के भी दो-दो रूप उपलब्ध होते हैं। यथा—

उष्णिह् (क्) = उष्णिह (अकारान्त) २।४।११॥
उष्णिहा २।४।११॥
त्रिष्टप् = त्रिष्टुग् २।४।११॥
अनुष्टुप् = अनुष्टुग् २।५।१०॥
ककुप् = ककुद् २।४।११॥

शक्वरी का उदाहरण—शौनक (पादविधान में), वेङ्कटमाधव, उव्वट और केदारनाथ ने शक्वरी का एक ही उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है—

प्रो ष्वस्मै पुरोरथम् इन्द्राय शूषमर्चत।
अभीके चिदु लोककृत् सङ्गे समत्सु वृत्रहा—
स्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु॥ ऋ० १०।१३३।१॥

इस उदाहरण में प्रथम, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम में सात-सात अक्षर हैं। इस प्रकार इसमें मूलतः ५२ अक्षर ही हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी इसे शक्वरीछन्दस्क माना है। अतः न्यून अक्षरों की पूर्ति व्यूह से करनी होगी।

३—अतिशक्वरी

अतिशक्वरी छन्द में पांच पाद होते हैं। उनमें क्रमशः १६+१६+१२+८+८ (=६०) अक्षर होते हैं (पादविधान, वेमाछ)। यथा—

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः।
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु
सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥ ऋ० २।२२।३॥

यह उदाहरण शौनक (पादविधान), वेङ्कट माधव और केदारनाथ द्वारा निर्दिष्ट है। इसके द्वितीय चरण में १५ और तृतीय चरण में ११ अक्षर हैं। इनमें दो अक्षरों को पूर्ति व्यूह से करनी होगी। ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी इस मन्त्र का अतिशक्वरी छन्द ही लिखा है।

उव्वट का उदाहरण—उव्वट ने अतिशक्वरी का निम्न उदाहरण दिया है—

> सुषुमा यातुमद्रिभिर् गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे।
> आ राजाना दिविस्पृशाऽस्मत्रा गन्तमुप नः।
> इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरः सोमाः शुक्रा गवाशिरः॥
>
> ऋ० १।१३७।१॥

इस मन्त्र में जिस प्रकार पादविभाग करके हमने छापा है, तदनुसार इसमें सात पाद हैं। और उनमें क्रमशः ८+८+८+८+७+१२+८ (=५९) अक्षर हैं। पांचवें पाद की अक्षरपूर्ति व्यूह से हो जाती है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसका अतिशक्वरी छन्द लिखा है। यदि आठ-आठ अक्षरों के दो-दो पादों को मिलाकर एक-एक पाद बना लें, तब भी क्रमशः १६+८+ (अथवा ८+१६) १६+१२+८ पादाक्षर होंगे। इस प्रकार पादविधान के अनुसार इसकी पादाक्षरसंख्या की आनुपूर्वी उपपन्न नहीं होती।

अन्य व्यवस्था—पादविधान में क्रमशः पादाक्षरों की जो संख्या लिखी है, उसमें यदि सोलह-सोलह अक्षरों के पादों को आठ-आठ अक्षरों में विभक्त कर दिया जाये, तो अतिशक्वरी छन्द में भी सात पाद बन जाते हैं। यतः शक्वरी में सात पाद हैं, अतः अतिशक्वरी में भी सात पाद मानना अधिक युक्तिसंगत है (यथा गायत्री के बाद उष्णिक् में भी तीन ही पाद माने गये हैं)।

द्वादशाक्षर पाद के स्थान की अनियतता—इस प्रकार आठ-आठ अक्षरों के ६ पाद और १२ अक्षरों के एक पाद की प्रकल्पना करने पर उष्णिक् के समान जहां-कहीं १२ अक्षर का पाद हो, उसके अनुसार अतिशक्वरी के भी अनेक भेद कल्पित किए जा सकते हैं। इस अवस्था में पादविधान तथा वेङ्कट माधव निर्दिष्ट उदाहरण में पांचवां पाद बारह अक्षर का है, और उव्वट के उदाहरण में छठा पाद। अतः प्राचीन आचार्यों ने दोनों ही ऋचाओं को अतिशक्वरीछन्दस्का माना है, अतः इस छन्द में ६ पाद आठ-आठ अक्षरों के और

एक पाद १२ अक्षर का मानकर विरोध-परिहार किया जा सकता है। बारह अक्षरवाले पाद के किसी भी स्थान में होने पर अतिशक्करी के सात अवान्तर भेद बनते हैं। उनकी व्यवस्था वैदिक मन्त्र देखकर करनी चाहिए।

४—अष्टि

अष्टि छन्द में पांच पाद होते हैं। उनमें क्रमशः १६+१६+१६+८+८ (=६४) अक्षर होते हैं (पादविधान, वेमाछ)। यथा—

> त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म—
> स्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत्।
> स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं
> सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥ ऋ० २।२२।१॥

यह उदाहरण शौनक, वेङ्कटमाधव, उव्वट और वेदारनाथ सभी ने दिया है। इस उदाहरण में लक्षणानुसार पादाक्षर हैं।

विशेष विचार—(क) यदि इस उदाहरण में आरम्भ के सोलह-सोलह अक्षरों के तीन पादों को भी आठ-आठ अक्षरों के छह पाद मान लिया जाये, तो इस छन्द में ८ पाद बन जाते हैं, जो कि उत्तरोत्तर अक्षरवृद्धि के साथ पादवृद्धि के रूप में युक्त प्रतीत होते हैं। अथवा अन्त्य के आठ-आठ अक्षरों के दो पादों को १६ अक्षरों का एक पाद मान लिया जाये। इस प्रकार इस छन्द में सोलह-सोलह अक्षरों के चार पाद होंगे। यह मार्ग भी ठीक है।

(ख) ऋक्सर्वानुक्रमणी में इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र के विषय में लिखा है—

अष्टयाद्यातिशाक्वरमन्त्याष्टिर्वा।

अर्थात् 'त्रिकद्रुकेषु' (२।२२) सूक्त में चार मन्त्र हैं। पहले का अष्टि-छन्द है, शेष का अतिशक्वरी, अन्त्य का पक्ष में अष्टि भी है।

तदनुसार अन्तिम मन्त्र के अतिशक्वरी और अष्टि दोनों छन्द माने हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

> तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
> यद् देवस्य शवसा प्रारिणा असुं रिणन्नपः।
> भुवद्विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्॥

इस मन्त्र को जिस प्रकार लिखा है, तदनुसार इसमें क्रमशः १५+७+७+९+११+१२ (=६१) अक्षरों के ६ पाद हैं। यह वस्तुतः न तो पूर्वोक्त अतिशक्वरी के लक्षण में निविष्ट होता है, और न अष्टि के। सम्भव है मूलतः ६१ अक्षर होने से इसे अतिशक्वरी और पहले दूसरे और पांचवें पाद में व्यूह से अक्षरवृद्धि होकर ६४ संख्या की सम्पत्ति हो सकने के कारण इसे अष्टि कहा होगा।

(ग) वस्तुतः जब तक इन छन्दों से युक्त सभी ऋचाओं की परीक्षा करके इनके भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण न होगा, तब तक ऐसी उलझनें बनी ही रहेंगी।

५—अत्यष्टि

इस छन्द में सात पाद होते हैं, और उनमें क्रमशः १२+१२+८+८+८+१२+८ (=६८) अक्षर होते हैं, (पादविधान, वेमाछ)। यथा—

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं
वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः॥
ऋ० १।१२७।१॥

इस मन्त्र में क्रमशः १०+१२+८+७+७+१३+७ (=६४) अक्षरों के सात पाद हैं। मूल अक्षरगणना से यह अष्टिछन्दस्क है। इसके प्रथम पाद में दो, चौथ और पांचवें म एक अक्षर की व्यूह से सम्पत्ति करने पर (६४+४=६८) यह अत्यष्टिछन्दस्क बनता है।

उव्वटीय उदाहरण—उव्वट ने इस छन्द का निम्न उदाहरण दिया है—

अया रुचा हरिण्या पुनानो
विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः।
धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥
ऋ० ९।१११।१॥

इस मन्त्र में भी क्रमशः १०+१२+७+८+८+११+७ (=६३) अक्षर हैं। यह अक्षरसंख्या अष्टि के समीप है। अत्यष्टि की सम्पत्ति के लिये पाँच अक्षरों का व्यूह करना पड़ेगा।

केदारनाथीय उदाहृण —पण्डित केदारनाथ ने इस का निम्न उदाहरण दिया है—

अर्दर्शि गातुवित्तमो वरीयसी
पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश् चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः ।
द्युक्षं मित्रस्य सादनम् अर्यम्णो वरुणस्य च ।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वयं उपस्तुत्यं बृहद् वयः ॥

ऋ० १।१३६।२॥

इस मन्त्र में क्रमशः १२+१२+८+८+८+११+८ (६७) अक्षर हैं। इसमें केवल छठे पाद में एक अक्षर का व्यूह करना पड़ता है। अतः तीनों उदाहरणों में यह उदाहरण श्रेष्ठ है।

६—धृति

इस छन्द में सात पाद होते हैं। उनमें क्रमशः १२+१२+८+८+८+१६+८(=७२) अक्षर होते हैं (पादविधान, वेमाछ)। यथा—

अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः
शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो घृणान्न भीषाँ अद्रिवः ।
शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर् वधैरुग्रेभिरीयसे ।
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस् त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः ॥

ऋ० १।१३३।६॥

इस उदाहरण में क्रमशः १२+१२+८+८+८+१४+८(=७० अक्षर हैं। छठे पाद में अक्षरों की पूर्त्ति व्यूह से करनी होगी। अथवा-विराड् विशेषण से कार्य चलाना होगा।

उव्वटीय उदाहरण—उव्वट ने इस छन्द का निम्न उदाहरण दिया है—

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न
चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या ।
अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु ।
तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि ॥

ऋ० ४।१।३॥

इसमें क्रमशः १२+१३+१२+८+१२+७ (=६४) अक्षरों के छह पाद हैं। यह पादाक्षरसंख्या पादविधान के लक्षण से मेल नहीं खाती। मूलतः इसमें ६४ ही अक्षर हैं, अतः धृति छन्द की पूर्णाक्षरसंख्या (७२) से भी कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। परन्तु कात्यायन ने इसे धृतिछन्दस्क कहा है।[1] धृतिछन्द में ७२ अक्षर होते हैं। इनमें केवल ६४ हैं। इनकी पूर्ति कैसे होगी, यह आचार्य कात्यायन ही जानें। हमारी समझ में तो इसका अष्टि छन्द होना चाहिए।

७—अतिधृति

इस छन्द में आठ पाद होते हैं। उनमें क्रमशः १२+१२+८+८+८+१२+८+८(=७६) अक्षर होते हैं (पादविधान)।

वेङ्कटमाधव ने इस छन्द में भी ७ पाद माने हैं,और उनमें क्रमशः १२+१६+८+८+८+१२+८ (७२) अक्षर गिनाए हैं। पादाक्षरसंख्या का योग ७२ होता है। अतिधृति में ७६ अक्षर होते हैं, यह भेद कैसे हुआ? देव ही जाने। सम्भव है, यहां लेखकप्रमाद से पाठ बिगड़ा हो।

शौनक (पादविधान) और वेङ्कट के लक्षण में अन्तर होते हुए उदाहरण दोनों का एक ही है। वह इस प्रकार है—

स हि शर्धो न मारु॑तं तुवि॒ष्वणि॒र्
अप्न॑स्वतीषू॒र्वरा॑स्वि॒ष्ट नि॒रात॑नास्वि॒ष्टनिः।
आद॑द्ध॒व्यान्या॑द॒दिर् य॒ज्ञस्य॑ के॒तुर॒र्हणा॑।
अध॑ स्मास्य॒ हर्ष॑तो॒ हृषी॑वतो॒ विश्वे॑ जुषन्त॒ पन्थां॒
नरः॑ शु॒भे न पन्था॑म्॥ ऋ० १।१२७।६॥

इस उदाहरण में क्रमशः १२+१६+७+८+७+११+७(=६८) अक्षर हैं। यदि इसके तृतीय, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम पाद में व्यूह करें, तब भी इसमें ७२ अक्षर ही होंगे। अतिधृति में ७६ अक्षर होते हैं, उनकी पूर्ति कैसे होगी? हमारी समझ में नहीं आया। कात्यायन ने भी इसका अतिधृति ही छन्द माना है।

---

१. त्वां ह्यग्ने विंशतिरष्टयतिजगतीधृतय आद्या उपाद्याश्चतस्रो वारुण्यश्च वा।

उव्वट और केदारनाथ ने भी अतिधृति का यही उदाहरण दिया है। गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः। किसी ने इस बात की चिन्ता नहीं की कि ६८ अक्षरोंवाले मन्त्र का ७६ अक्षरोंवाला अतिधृति छन्द कैसे लिख रहे हैं? अस्तु,

इस प्रकार संक्षेप से द्वितीय सप्तक के छन्दों के विषय में लिखकर तृतीय सप्तक के छन्दों के विषय में लिखते हैं।

तृतीय सप्तक

तृतीय सप्तक के छन्द ऋग्वेद की शाकल संहिता में उपलब्ध नहीं होते, यह शौनकीय मत हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। तृतीय सप्तक के छन्दों के नाम पातञ्जल निदानसूत्र में पिङ्गलसूत्रादि से भिन्न हैं। उनका निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं। स्मरणार्थ उनका ( ) कोष्ठक में यहाँ भी निर्देश करेंगे।

तृतीय सप्तक के छन्दों में पादव्यवस्था का उल्लेख वैदिक साहित्य में हमें अद्ययावत् उपलब्ध नहीं हुआ। निर्णयसागर बम्बई मुद्रित पिङ्गलसूत्र के सम्पादक केदारनाथ ने तृतीय सप्तक में भी पादव्यवस्था दर्शाई है[1], और वह भी याजुष अर्थात् गद्यमन्त्रों में। याजुष मन्त्रों में पादव्यवस्था नहीं होती, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। अतः पण्डित केदारनाथ ने यह साहस कैसे किया? हमारी समझ में नहीं आता। हम यहाँ उनके उदाहरण और पादव्यवस्था का भी संकेत करेंगे।

हमें इस सप्तक के पूरे उदाहरण उपलब्ध नहीं हुए। इसलिये जितने मिले हैं, उद्धृत करते हैं। शेष मृग्य हैं।

१—कृति (सिन्धु)

इस छन्द में ८० अक्षर होते हैं। यथा—

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा॥ यजुः ९।२०॥

---

१. पण्डित केदारनाथ ने आगे उद्ध्रियमाण उदाहरण हलायुध की टीका में सन्निविष्ट कर दिए हैं।

इस मन्त्र में ८१ अक्षर हैं, अतः इसका 'भुरिक् कृति' छन्द है।

पं० केदारनाथ ने इस छन्द का निम्न उदाहरण दिया है—

सुपर्णोऽसि गुरुत्माँस्त्रिवृत् ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दाᳬंसि अङ्गानि यजूᳬंषि नाम साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गुरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत॥ यजु० १२।४॥

इस मन्त्र में केवल ७४ अक्षर हैं, अतः यह कृति का उदाहरण चिन्त्य है। पं० केदारनाथ ने इसमें पादव्यवस्था भी नहीं दर्शाई।

२—प्रकृति (सलिलम्)

इस छन्द में ८४ अक्षर होते हैं। इसका उदाहरण है—

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाᳬं हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः॥ यजु० १६।४६॥

इस मन्त्र में ८६ अक्षर है। दो अक्षर अधिक होने से इसका 'स्वराट् प्रकृति' छन्द है।

पण्डित केदारनाथ ने इस छन्द का निम्न उदाहरण दिया है—

सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत् किंचिद् दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि॥

इस मन्त्र में ८२ अक्षर हैं। अतः दो अक्षर न्यून होने से इसका 'विराट् प्रकृति' छन्द होगा। पं० केदारनाथ ने इस मन्त्र में भी पादव्यवस्था नहीं दर्शाई। इस मन्त्र के मूलस्थान का भी संकेत नहीं किया है। स्वरचिह्न भी नहीं हैं।

३—आकृति (प्रम्भः)

इस छन्द में ८८ अक्षर होते हैं।

इस छन्द का उदाहरण पूर्व छन्द का 'नमः पर्णाय च' हो सकता है। इसमें ८६ अक्षर होने से इसका 'विराट् आकृति' छन्द माना जा सकता है।

पण्डित केदारनाथ ने इस छन्द का निम्न उदाहरण दिया है—

भगो अनुप्रयुक्ता (१) मिन्द्रः पातु पुरोगवः (२) यस्याः सदोह्-विर्धाने (३) पूषो यस्यानुमीयते (४) ब्राह्मणाः यस्यामर्चन्ति (५) ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः (६) युध्यन्ते यस्यामृत्विजम् (७) सोम-मिन्द्राय पातवे (८) शत्रो भूति दक्षिणायां सुशेषाम् (९) यज्ञे ददातु सुमनस्यमानो (१०) ॥

इस मन्त्र में ८४ अक्षर हैं। आकृति छन्द में ८८ होते हैं। इसमें पं० केदारनाथ ने आठ-आठ अक्षर के आठ पाद और बारह-बारह अक्षर के दो पाद दर्शाए हैं (८×८=६४,१२×२=२४, ६४+२४=८८)। परन्तु इसके प्रथम षष्ठ में सात-सात, और नवम दशम में ग्यारह-ग्यारह अक्षर हैं। दशमपाद के अन्त में 'सुमनस्यमानो' पद छपा है। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र पूरा नहीं हुआ है, अन्यथा सन्धि से निष्पन्न ओकार अन्त में श्रुत न होता। इस मन्त्र का भी न तो पता दिया है, और न स्वरचिह्न।

४—विकृति (गगनम्)

इस छन्द में ९२ अक्षर होते हैं। इसका उदाहरण है—

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणा-सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ यजु० ९।३६॥

पं० केदारनाथ ने इस छन्द का उदाहरण निम्न मन्त्र दिया है—

इमे सोमाः सुरामाणः (१) छागै र्न मेषैऋषभैः (२)
सुताः शष्पै र्न तोक्मभिः (३) लाजैर्महस्वन्तो मदा (४)
मासरेण परिष्कृताः (५) शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः (६)
प्रस्थिता वो मधुश्चुत (७) स्तानश्विना सरस्वती (८)
इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा (९) जुषन्तां सोम्यं मधु (१०)
पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु होतर्यज (११) ॥ यजु० २१।४२॥

इस मन्त्र में ९१ अक्षर हैं। अतः इसका 'निचृद् विकृति' छन्द है। इसमें पं० केदारनाथ ने आठ-आठ अक्षरों के १० पाद (८×१०=८०) और बारह अक्षर का एक पाद (८०+१२=९२) माना है। इसके दशम पाद में एकाक्षर की न्यूनता है।

५—संकृति (अर्णवः)

इस छन्द में ९६ अक्षर होते हैं। इसका उदाहरण हमें उपलब्ध नहीं हुआ। पं० केदारनाथ ने निम्न उदाहरण दिया है—

दे॒वो अ॒ग्निः स्वि॑ष्ट॒कृत् (१) सु॒द्रवि॑णा म॒न्द्रः क॒विः (२)

स॒त्यम॑न्मा॒ऽऽय॒जी होता॑ (३) हो॒तुर्हो॑तु॒राय॑जी॒ या॑ (४)

नग्ने॒ यान् दे॒वानया॑ड॒यां (५) अपि॑ प्रे॒यें तें होत्रे अम॑त्सत् (६)

ता॑ँसनु॒षी॑ँ होत्रां॑ देवं॒ग॒मां (७) दि॒वि दे॒वेषु॑ य॒ज्ञमेरयेमं (८)

स्विष्टकृच्चाग्ने॒ होताभू॑ (९)वंसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य नमोवा॒के वीहि॒ यज॑ (१०)॥

तै० ब्रा० ३।६।१३॥

इस मन्त्र में ९७ अक्षर हैं। एकाक्षर की अधिकता से इसका छन्द 'भुरिक् संकृति' है। पं० केदारनाथ ने इस छन्द में पूर्व उदाहरण में क्रमशः ७+८+८+८+८+११+११+११+८+१७ (=९७) अक्षरों के १० चरण दर्शाए हैं।

६—अभिकृति (आपः)

इस छन्द में १०० अक्षर होते हैं। इसका उदाहरण है—

दे॒वो अ॒ग्निः स्वि॑ष्ट॒कृत् (१) दे॒वान् य॑क्षद् यथाय॒थँ (२) होता॑रा-विन्द्र॑मश्विना॑ (३) वा॒चा वा॒चँ सर॑स्वतीम् (४) अ॒ग्निँ सोमँ स्वि॑ष्ट॒कृत् (५) स्वि॑ष्ट॒ इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ (६) स॒वि॒ता वरु॑णो भि॒षग् (७) इ॒ष्टो दे॒वो वन॒स्पतिः॑ (८) स्वि॒ष्टा दे॒वा आ॑ज्य॒पाः स्वि॑ष्टो (९) अ॒ग्निर॒ग्निना॑ होता॑ हो॒त्रे स्वि॑ष्ट॒कृद (१०) यशो॒ न द॑धदि॒न्द्रियम् (११) ऊर्ज॑मप॑चितिँ स्व॒धा वंसु॒ वने॑ (१२)॥ यजुः २१।५८॥

यह पं० केदारनाथ-निर्दिष्ट उदाहरण तथा पादविभाग है। इस उदाहरण में क्रमशः ७+८+८+८+७+७+८+८+९+१२+८+१२ अक्षरों के १२ पाद तथा १०२ अक्षर हैं। अतः इसका छन्द 'स्वराडभिकृति' होगा। यह ध्यान रहे कि यह अधूरा कण्डिकांश है।

दो अक्षर अधिक (१०२) स्वराड् अभिकृति का शुद्ध उदाहरण यजुः २७।२६ में मिलता है।

७—उत्कृति (समुद्रः)

इस छन्द में १०४ अक्षर होते हैं। इसका उदाहरण है—

देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकँ रुहेयम्।

देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकँ रुहेयम्।

देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम्।

देवस्याहँ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम्॥

यजु० ९।१०॥

इस मन्त्र में १०२ अक्षर हैं, अतः इसका छन्द 'विराड् उत्कृतिः' है। पं० केदारनाथ ने निम्न मन्त्र उद्धृत किया है—

होता यक्षदश्विनौ छागस्य (१) हविष आत्तामद्य मध्यतो (२) मेद उद्भृतं (३) पुरा द्वेषोभ्यः (४) पुरा पौरुषेय्या गृभो (५) घस्तान्नूनं घासे अज्राणां (६) यवसप्रथमानाँ (७) सुमत्क्षराणाँ (८) शतरुद्रियाणाम् (९) अग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां (१०) पार्श्वतः श्रोणितः शितामत (११) उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां (१२) करत एवाश्विना जुषेतां (१३) हविरश्विना जुषेताम् (१३) ॥ यजु० २१।४३॥

इस उदाहरण में क्रमशः १०+९+६+५+८+९+७+११+१२+१०+११+१०+९ के १३पाद और ११७ अक्षर हैं। उत्कृति में १०४ अक्षर होते हैं। ११७ अक्षरों का उदाहरण देना चिन्त्य है।

विशेष—पं० केदारनाथ ने तृतीय सप्तक के छन्दों के जो पादविभाग दर्शाए हैं, वे सर्वथा कल्पित हैं। पादविभाग में एक पद मध्य से नहीं तोड़ा जाता, परन्तु उन्होंने ऐसे विभाग किए हैं। यथा इसी उदाहरण में 'मध्यतः' एक पद को तोड़ कर 'मध्य (२) तो' 'तो' अंश को तृतीयचरण में गिना है।

याजुष मन्त्रों के सम्बन्ध में विशेष विचार

इस प्रकार इस अध्याय में द्वितीय और तृतीय सप्तक के छन्दों का संक्षेप से वर्णन करके अगले अध्याय में प्रगाथों का वर्णन करेंगे।

एक मन्त्र में अनेक छन्दः कल्पना—कोई-कोई याजुष मन्त्र इतना बड़ा होता है कि उसमें एक छन्द से कार्य नहीं चलता, क्योंकि सब से बड़ा 'विराट् उत्कृति' छन्द १०६ अक्षरों का होता है। अतः १०६ अक्षरों से बड़े मन्त्रों में

उसके विभाग करके कई छन्दों का निर्देश करना पड़ता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने यजुर्वेद-भाष्य में प्रायः लम्बे मन्त्रों में दो-दो तीन-तीन छन्दों की कल्पना की है। अनेक महानुभाव इस पर आक्षेप करते हैं कि यह उचित नहीं है कि एक मन्त्र में अनेक छन्दों की कल्पना की जाय। जिनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक छन्दों की कल्पना की है, वे मन्त्र नहीं हैं, कण्डिकाएं हैं। एक कण्डिका में कई मन्त्र होते हैं।

वस्तुतः वादी के दोनों ही मत अनेकान्त हैं। यज्ञकर्म में एक कण्डिका के अनेक विभाग होते हैं। यज्ञ से अतिरिक्त सम्पूर्ण कण्डिका एक मन्त्र माना जाता है। उदाहरण के लिए हम एक स्थल उद्धृत करते हैं—

पशुहिंसा वारिता हि च यजुर्वेदादिमन्त्रतः।

महा० शां० ३४४।२१ (कुम्भघोण सं०)।

इस श्लोक में यजुर्वेद के जिस आदि मन्त्र की ओर संकेत किया है, वह प्रथम कण्डिका का अन्तिम अंश है—यजमानस्य पशून् पाहि। वादी के मतानुसार इस कण्डिका में कई मन्त्र होने से यह आदि मन्त्र नहीं हो सकता। तब कृष्णद्वैपायन व्यास का वचन कैसे उपपन्न होगा?

अब हम एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसमें एक मन्त्र में अनेक छन्द मानने के अतिरिक्त कोई गति ही नहीं है। तै० सं० के रुद्राध्याय में भट्टभास्कर लिखता है—

"तत्र त्रिष्वनुवाकेषु 'नमस्कारादि नमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः। नमस्काराद्यकं यजुः, नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्कः। अष्टावनुवाका अष्टौ यजूंषीति काशकृत्स्नः।"

काशकृत्स्न के मत में आठ अनुवाक आठ याजुष मन्त्र हैं। अर्थात् पूरा अनुवाक एक मन्त्र है। उसमें अवान्तर विभाग नहीं हैं। ऐसी अवस्था में दूसरा अनुवाक, जिसमें २३१ अक्षर हैं, एक छन्द कैसे उपपन्न हो सकता है? शास्त्रनिर्दिष्ट बड़े से बड़ा छन्द उत्कृति १०४ अक्षरों का है। 'विराड् उत्कृति' में १०६ अक्षर होंगे। इस यजु० (काशकृत्स्न के मत) में २३१ अक्षर हैं। अतः यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि एक मन्त्र में यदि एक छन्द से कार्य न चले, तो अनेक छन्दों की कल्पना कर लेनी चाहिये।

याजुष सर्वानुक्रमणी के टीकाकार अनन्तदेव याज्ञिक के मतानुसार १०६ अक्षरों से अधिक अक्षरवाले यजुओं का छन्द ही नहीं होता है।[1] यह मत पूर्व पृष्ठ ६ के 'ग' 'घ' संकेतित प्रमाणों से विपरीत होने से अमान्य है॥

---

१. ततोऽप्यधिकाक्षराणां यजुषां छन्दो नास्ति। पृष्ठ ७।

द्वादश अध्याय

प्रगाथ

ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में प्रगाथों का बहुधा उल्लेख मिलता है। इन प्रगाथों का वर्णन ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी, निदानसूत्र और वेङ्कटमाधवीय छन्दोऽनुक्रमणी में उपलब्ध होता है। मीमांसादर्शन के नवम अध्याय के द्वितीय पाद में प्रगाथों के विषय में विशेष विचार किया गया है। प्रगाथों के नामकरण का प्रकार अष्टाध्यायी ४।२।५५ में उपदिष्ट है।[1]

प्रगाथ शब्द की व्युत्पत्ति—वैयाकरणों के मतानुसार प्रगाथ शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक गै (गा) शब्दे धातु और औणादिक थ प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है।

प्रगाथ के अर्थ—प्रगाथ शब्द का व्यवहार निम्न अर्थों में उपलब्ध होता है—

१—छन्दःसमुदाय—जब किन्हीं कारणविशेषों से दो तीन छन्दों का समुदाय बनाया जाता है, तब उस छन्दःसमुदाय का 'प्रगाथ' नाम से व्यवहार किया जाता है। इसी छन्दःसमुदायरूपी प्रगाथ के नामकरण का प्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।२।५५ में दर्शाया है। इन्हीं का उल्लेख ऋक्प्रा०, ऋक्स०, निदानसूत्र आदि में उपलब्ध होता है।

२—प्रग्रथन—जब किसी साम का एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्[2]—अर्थात् एक साम का समानछन्दस्क तीन ऋचाओं में गान होता है। इस सामान्य नियम का उल्लङ्घन कर एक साम के लिए विच्छन्दस्क दो ऋचाएं उपदिष्ट होती हैं। तब पूर्वनिर्दिष्ट सामान्य नियम की उपपत्ति के लिए दो ऋचाओं के ही पूर्वोत्तर भागों को जोड़कर तीन ऋचाएं बनाली जाती हैं। इस प्रग्रथन के लिए भी प्रगाथ शब्द का उल्लेख सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में

---

१. सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु।

२. शाबरभाष्य ६।२।२४ में उद्धृत।

उपलब्ध होता है। इसी को ध्यान में रखकर मीमांसा ९।२।२५ के 'प्रागाथिकं तु' सूत्र की व्याख्या में शबर स्वामी लिखता है—

याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिः, तयोः प्रग्रथनेन तृचं कर्म कृत्वा ककुभावुत्तराकारं गानं कर्तव्यम्।

अर्थात्—जो पूर्व बृहती (३६ अक्षर की), और उत्तर पंक्ति (४० अक्षर की) ऋचा हैं। इन दोनों को विशेष प्रकार के ग्रथन (—जोड़) कर तीन ऋचाएँ बना लेनी चाहिएँ।

यह प्रग्रथन किस प्रकार किया जाता है, इसकी प्रक्रिया क्लिष्ट है।[1] अतः हम यहां उसका उल्लेख नहीं करते।

३—प्रकर्षगान—मीमांसा ९।२।२७ के 'प्रगाथे' च सूत्र की व्याख्या में शबर स्वामी लिखता है—

प्रकर्षं हि प्रशब्दो द्योतयति। प्रकर्षेण यत्र गानं स प्रगाथः। कश्च प्रकर्षः? यत्र किञ्चित् पुनर्गायति।

अर्थात्—प्रशब्द प्रकर्ष को प्रकट करता है। अतः जिसमें प्रकर्ष गान हो वह प्रगाथ कहाता है। प्रकर्ष क्या है? जो किसी पाद (=चरण) का पुनः गान है, वही प्रकर्ष है।

जयादित्य की व्याख्या—काशिकाकार जयादित्य ने अष्टाध्यायी ४।२। ५५ में प्रयुक्त प्रगाथ शब्द की व्याख्या इस प्रकार दर्शाई है—

प्रगाथशब्दः क्रियानिमित्तकः क्वचिदेव मन्त्रविशेषे वर्तते। यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रथनेन तिस्रः क्रियन्ते, स प्रग्रथनात् प्रकर्षगानाद् वा प्रगाथ इत्युच्यते।

अर्थात्—प्रगाथ शब्द विशिष्टक्रिया के कारण किन्हीं मन्त्रविशेषों के लिए ही प्रयुक्त होता है। जहां पर दो ऋचाएँ प्रग्रथन से तीन बनाई जाती हैं, वह प्रग्रन्थन (विशेष जोड़-तोड़) अथवा विशेष गान के कारण प्रगाथ कहाता है।

जयादित्य की भूल—जयादित्य ने प्रगाथ शब्द की जो व्याख्या की है, वह सामसम्बन्धी प्रगाथ के लिए तो युक्त है (जैसा कि शबर स्वामी ने लिखा है), परन्तु अष्टाध्यायी ४।२।५५ में प्रयुक्त प्रगाथ शब्द सामसम्बन्धी

---

१. इसके परिज्ञान के लिए मीमांसा अ० ९ पाद २ के शाबरभाष्य आदि व्याख्याग्रन्थ और शांखायन श्रौत का सप्तमाध्याय अनुशीलनीय हैं।

प्रगाथ के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ। अष्टाध्यायी के उक्त सूत्र में प्रयुक्त प्रगाथ शब्द का अर्थ छन्दःसमुदाय ही है। यह उक्त सूत्र से भले प्रकार स्पष्ट है। सूत्र इस प्रकार है—

सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु।

अर्थात्—छन्दों के समुदाय में जो आदि का छन्द है, तद्वाचक शब्द से अण् आदि यथाविहित प्रत्यय होते हैं।

छन्दःसमुदाय-प्रगाथ का क्षेत्र—ऋक्प्रातिशाख्य आदि जिन ग्रन्थों में प्रगाथों का वर्णन है, उनके अध्ययन से तो यही प्रतीत होता है कि इन प्रगाथों का क्षेत्र ऋङ्-मन्त्रों (पादबद्ध मन्त्रों) तक ही सीमित है। वे ऋङ्-मन्त्र चाहे किसी भी वेद में क्यों न प्रयुक्त हों।

पाणिनि का मत—पाणिनि ने प्रगाथों के नामकरण की जैसी व्यवस्था दर्शाई है, तदनुसार प्रगाथों का क्षेत्र याजुष (गद्य) मन्त्र भी हो सकते हैं। काण्वसंहिता के व्याख्याता भट्ट आनन्दबोध ने सम्भवतः पाणिनीय नियम को सामान्य मान कर याजुष मन्त्रों में भी प्रगाथ छन्दों का निर्देश किया है। यथा—

त्रिष्टुब्बृहत्यौ यत्र मीलिते स त्रैष्टुभः प्रगाथः। ३४।१३॥
यत्र जगत्युष्णिहौ संमीलिते स्तः स जागतः प्रगाथः।
३४।१५॥
अतिशाक्वरः प्रगाथः। ३४।२२॥

पाणिनीय तन्त्र शब्दसिद्धि से अतिरिक्त विषय का विधायक नहीं है, वह तो तत्तद्विषय के ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की सिद्धिमात्र दर्शाता है। अतः पाणिनीय सूत्र के आधार पर याजुष मन्त्रों में प्रगाथों की कल्पना तब तक युक्त नहीं कही जा सकती, जब तक कि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में याजुष मन्त्रों के लिए भी प्रगाथ शब्द का प्रयोग न दर्शाया जाए।[1]

---

१. पाणिनीय शास्त्र के इस अभिप्राय को न समझकर अनेक याज्ञिकब्रुव "प्रणवष्टेः" (अष्टा० ८।२।८९) सूत्र के आधार पर यज्ञकर्म में स्वाहान्त मन्त्रों में भी स्वाहा से पूर्व मन्त्र के टिभाग के स्थान में प्लुत ओम् का उच्चारण करते हैं। यथा—.. प्रचोदयों स्वाहा। कई टि आदेश से अनभिज्ञ 'प्रचोदयात् ओम् स्वाहा' पढ़ते हैं। यह सब अशास्त्रीय है। याज्ञिक शास्त्र जहां ऋचा की टिभाग को ओम् आदेश का विधान करते हैं, उसी का अनुवाद करके पाणिनि ओम् के प्लुतत्व और उदात्तत्व का विधान करते हैं। अतः पाणिनीय

प्रगाथों के नामकरण का प्रकार—दो-तीन छन्दों के समुदायों का एक-दूसरे से भेद करने के लिए अथवा व्यवहार के लिए नामकरण कैसे किया जाय, इसका प्रतिपादन आचार्य पाणिनि ने निम्न सूत्र द्वारा किया है—

सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु । अष्टा० ४।२।५५॥

इसका अभिप्राय यह है कि छन्दों के समुदाय में आदि का जो छन्द हो, उसी के आधार पर उस प्रगाथ=छन्दःसमुदाय का नामकरण करना चाहिये । यथा—बृहती और सतोबृहती छन्दों के प्रगाथ के लिए बार्हत, ककुप् और सतोबृहती के लिए काकुभ शब्द का प्रयोग होता है ।

पाणिनीय नियम की उपलक्षणता—प्रगाथों के नामकरण के लिए जो पाणिनीय नियम ऊपर लिखा है, वह उपलक्षण मात्र है । प्रगाथों के नाम अन्तिम और उभय छन्दों के अनुसार भी रखे जाते हैं ।

आनन्दबोध की भूल—विशेषण अथवा संज्ञा का प्रयोग दो वस्तुओं में भेद-ज्ञान कराने के लिए किया जाता है । परन्तु जहां दो-चार छन्दःसमुदायों (=प्रगाथों) के आदि का छन्द समान हो और उत्तर छन्दों में भेद हो, और उन समुदायों का निर्देश यदि आदि छन्द के आधार पर किया जाए, तो उन समुदायों के पारस्परिक भेद का ज्ञान कदापि न होगा । ऐसी अवस्था में वह नामकरण अथवा विशेषण व्यर्थ होगा । भट्ट आनन्द बोध ने काण्वसंहिता भाष्य में ऐसी ही अनर्थक प्रगाथ संज्ञाओं का निर्देश किया है । यथा—

त्रिष्टुब्बृहत्यौ यत्र मीलिते स त्रैष्टुभः प्रगाथः । ३४।१३॥
त्रिष्टुबुष्णिहौ यत्र मीलिते सोऽयं त्रैष्टुभः प्रगाथः ।३४।१६॥

इन मन्त्रों में प्रथम में त्रिष्टुब् और बृहती का समुदाय है, और द्वितीय में त्रिष्टुब् और उष्णिक् का । परन्तु दोनों के लिए त्रैष्टुभ संज्ञा का प्रयोग किया है । यह संज्ञा दोनों में विद्यमान अन्त्य छन्दोभेद के निदर्शन में असमर्थ है । इस प्रकार का संज्ञाकरण अनर्थक है ।

तन्त्र के आधार पर शब्दसाधुत्व से अतिरिक्त किसी विषय का विधान मानना शास्त्रतत्त्व की अनभिज्ञता का परिचायक है । इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—"नैकं शास्त्रमधीयानो गच्छति शास्त्रनिर्णयम् ।" अर्थात्—एक शास्त्र को पढ़नेवाला अपने पठित शास्त्र के तत्त्व को भी नहीं जान सकता । इसलिए शास्त्रों में बार-बार "बहुश्रुत" अथवा "बहुविद्य" की प्रशंसा उपलब्ध होती है ।

आनन्दबोध की भूल का कारण—आनन्दबोध की भूल का कारण पूर्व-निर्दिष्ट पाणिनीय सूत्र की उपलक्षणताविषयक अज्ञान है।

ऋक्प्रातिशाख्य की अभेद संज्ञायें—ऋक्प्रातिशाख्य में भी कतिपय प्रगाथों की संज्ञाएं ऐसी हैं, जिनमें अन्त्य छन्दोभेद का ज्ञान उनके नाम से नहीं होता। यथा—

बृहती + सतोबृहती	= बार्हत	(१८।१),
बृहती + जगती	= ,,	(१८।११)
बृहती + अतिजगती	= ,,	(१८।१२)
बृहती + यवमध्या (त्रिष्टुप्)	= ,,	(१८।१३)

नामकरण में व्यवहृत तीन प्रकार—प्रगाथों के सबसे अधिक भेद-प्रभेदों की व्याख्या ऋक्प्रातिशाख्य में उपलब्ध होती है। उनके नामकरणों पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि आचार्य शौनक ने प्रगाथों के नामकरण में तीन प्रकार वर्ते हैं। यथा—

१—प्रथम छन्द के अनुसार—यथा—बृहती + सतोबृहती = बार्हत।

२—अन्तिम छन्द के अनुसार—यथा—बृहती + विपरीता (त्रिष्टुप्-भेद) = विपरीतान्त (विपरीतोत्तर)।

३—उभयछन्दों के अनुसार—यथा—गायत्री + ककुप् = गायत्रकाकुभ।

प्रगाथों की संख्या—प्रगाथों का वर्णन ऋक्प्रा०, ऋक्सर्वा०, निसू० और वेमाछ० इन चार ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

निदान सूत्र—सबसे न्यून प्रगाथों का उल्लेख निदानसूत्र मे है। उसमें बार्हत और काकुभ दो प्रगाथ गिनाए हैं। मतान्तर से आनुष्टुभ प्रगाथ का भी निर्देश है। इस प्रकार निदानसूत्र मे केवल तीन प्रगाथों का ही उल्लेख मिलता है।

ऋक्सर्वानुक्रमणी—ऋक्सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने बार्हत, काकुभ, महाबार्हत, विपरीतोत्तर और आनुष्टुभ इन पांच प्रगाथों का वर्णन किया है।

वेङ्कटमाधवीय छन्दोऽनुक्रमणी—वेङ्कटमाधव ने अपनी छन्दोऽनुक्रमणी में बार्हत, काकुभ, महाबृहतीमुख, यवमध्यान्त और आनुष्टुभ इन पांच प्रगाथों का सोदाहरण निर्देश किया है।

ऋक्प्रातिशाख्य—ऋक्प्रातिशाख्य में २३ प्रगाथों का वर्णन उपलब्ध होता है (बार्हत प्रगाथ के प्रभेद सहित)।

हम आगे ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार प्रगाथों का वर्णन करते हैं। साथ में ऋक्सर्वानुक्रमणी, निदानसूत्र और वेङ्कटमाधवीय छन्दोऽनुक्रमणी में निर्दिष्ट प्रगाथों का संकेत भी यथास्थान करेंगे। प्रगाथों के उदाहरणों में हम उन्हीं ऋचाओं को उद्धृत करेंगे, जो ऋक्प्रातिशाख्य और उसकी उव्वटीय व्याख्या में निर्दिष्ट हैं। निदानसूत्र में तदन्त:निर्दिष्ट प्रगाथों के उदाहरण दिये हैं, परन्तु उन उदाहरणों का निर्देश नहीं किया जाएगा, क्योंकि वे ऋक्प्रातिशाख्य के उदाहरण से ही गतार्थ हो जाते हैं।

१—बार्हत प्रगाथ—बार्हत प्रगाथ अनेक प्रकार का है। उसके निम्न भेद शास्त्रों में उल्लिखित हैं—

क—बृहती+सतोबृहती[1] (ऋक्प्रा १८।१, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥
मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ॥

ऋ० १।८४।१९,२०

इसी प्रकार प्र वो यह्वं पुरूणाम् (ऋ० १।३६।१—२) मा चिदन्यद् विशंसत (ऋ० ८।१।१—२) बृहदु गायिषे वचः (ऋ० ७।९६।१—२) भी बार्हत प्रगाथ के उदाहरण हैं (द्र० ऋक्प्रा० १८।२)।

ख—बृहती+सिद्धाविष्टारपंक्ति (निसू)

विशेष—ऋक्प्रातिशाख्य आदि में जिस छन्द का नाम 'सतोबृहती' है, उसी का निदानसूत्र में 'सिद्धाविष्टारपंक्ति' नाम है। अतः यहां संज्ञाभेद मात्र है, छन्दोभेद नहीं है, इसलिए इसके उदाहरण भी उपर्युक्त ही हैं।

ग—बृहती+जगती (ऋक्प्रा १८।११)। यथा—

तं वृ ह शर्धं रथेशुभं त्वेषं पनस्युमा हुवे।
यस्मिन्त्सुजाता सुभगा महीयते सचा मरुत्सु मीळ्हुषी॥

ऋ० ५।५६।९॥

---

१. प्रगाथों के प्रसङ्ग में जो छन्दोनाम लिखे हैं, वे ऋक्सर्वानुक्रमणी अनुसार मुद्रित ऋग्वेद म ही उपलब्ध होंगे। यथा मैक्समूलर और पं० सातवलेकर संस्करण। वैदिक यन्त्रालय अजमेर के ऋक्संस्करण में ये छन्दोनाम नहीं हैं। उसमें पिङ्गलसूत्र के अनुसार छन्दोनाम लिखे हैं।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथा सुवितायं गन्तन ।

इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

ऋ० ५।५७।१॥

विशेष—यह उदाहरण उव्वट ने दिया है । मूल प्रातिशाख्य में नहीं है । इसमें बृहतीछन्दस्क प्रथम मन्त्र ऋ०५।५६ का अन्तिम है, और जगतीछन्दस्क ऋ० ५।५७ का प्रथम है । अर्थात् दो सूक्तों के अन्त्य-आदि मन्त्रों का यह प्रगाथ बनता है ।

घ—बृहती+अतिजगती (ऋक्प्रा० १८।१२) । यथा—

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।

सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ।

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।

मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ।

ऋ० ८।९७।१२-१३॥

ङ—बृहती+यवमध्या (त्रिष्टुप्) (ऋक्प्रा० १८।१३) । यथा—

वामी वामस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता ।

देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वेजानस्य प्रयज्यवः ॥

सद्यश्चिद् यस्य चर्कृतिः परि द्यां देवो नैति सूर्यः ।

त्वेषं शवो दधिरे नाम यज्ञियं मरुतो वृत्रहं शवो ज्येष्ठं वृत्रहं शवः॥

ऋ० ६।४८।२०,२१ ॥

विशेष—इसी प्रगाथ का यवमध्योत्तर (ऋक्प्रा. १८।१३) और यव-मध्यान्त (वेमाछ) नाम भी है ।

२—काकुभ प्रगाथ—यथा—

क—ककुप्+सतोबृहती (ऋक्प्रा. १८।१, ऋक्स, वेमाछ) । यथा—

तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।

देवत्रा हव्यमोहिरे ॥

विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम् ।

अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥

ऋ० ८।१९।१-२॥

ख—ककुप्+सिद्धाविष्टारपंक्ति (निसू)।

विशेष—सतोबृहती का ही निदानसूत्र में सिद्धाविष्टारपंक्ति नाम है। अतः नाममात्र का भेद होने से इस प्रगाथ का उदाहरण भी पूर्वोक्त ही समझना चाहिये।

३—आनुष्टुभ प्रगाथ—इसमें तीन ऋचाएं होती हैं। प्रथम अनुष्टुप्-छन्दस्क और उत्तर दो गायत्री छन्दस्क—

अनुष्टुप्+गायत्री+गायत्री (ऋक्प्रा १८।३, ऋक्स, वेमाछ)।

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते॥
तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते।
आ पप्राथ महित्वना॥
यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम्॥ ऋ० ८।६८।१-३॥

४—माहाबार्हत—महाबृहती+महासतोबृहती (ऋक्प्रा १८।१०, ऋक्स, वेमाछ)। यथा—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः। ऋ० ६।४८।७,८॥

विशेष—यहां से आगे प्रगाथों के उदाहरणों के लिए मन्त्रप्रतीक और उनके पते ही लिखेंगे। पूरे-पूरे मन्त्र उद्धृत नहीं करेंगे।

५—विपरीतान्त (ऋक्प्रा १८।१५); विपरीतोत्तरा (ऋक्स)—बृहती+विपरीता (पंक्ति) यथा—

नहि ते शूर राधसः। ऋ० ८।४६।११-१२॥

६—औष्णिह—उष्णिक्+सतोबृहती (ऋक्प्रा १८।७)। यथा—

यमादित्यासो अद्रुहः। ऋ० ८।१९।३४-३५॥

७—गायत्र बार्हत—गायत्री+बृहती (ऋक्प्रा १८।५)। यथा—

तमिन्द्रं दानमीमहे। ऋ० ८।४६।६-७॥

८—गायत्रकाकुभ—गायत्री+ककुप् (ऋक्प्रा १८।६)। यथा—

सूनीथो घा स मर्त्यः। ऋ० ८।४६।४-५॥

९—पाङ्क्त काकुभ—पंक्ति+ककुप् (ऋक्प्रा १८।८)। यथा—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः। ऋ० ८।१९।३६-३७

१०—अनुष्टुप् पूर्वं जगत्यन्त —अनुष्टुप्+जगती (ऋक्प्रा १८।१७)। यथा—विश्वेषामिरज्यन्तं । ऋ० ८।४६।१६—१७॥

११—द्विपदापूर्वबृहत्युत्तर —द्विपदा+बृहती (ऋक्प्रा १८।१८) यथा—स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः । ऋ० ८।४६।१३—१४॥

१२—काकुभबार्हत—ककुप्+बृहती (ऋक्प्रा १८।१९) । यथा—को वेद जानमेषाम् । ऋ० ५।५३।१-२॥

१३—आनुष्टुभौष्णिह —अनुष्टुप्+उष्णिह (ऋक्प्रा १८।२०)। यथा—ते म आहुर्य आययुः । ऋ० ५।५३।३-४॥

१४—बार्हतानुष्टुभ—बृहती+अनुष्टुप् (ऋक्प्रा १८।२१) । यथा—ते नस्त्राध्वं तेऽवत । ८।३०।३-४॥

१५—आनुष्टुभपाङ्क्त—अनुष्टुप्+पङ्क्ति (ऋक्प्रा १८।२२)। यथा—अग्निं वः पूर्व्यं गिरा । ऋ० ८।३१।१४-१५॥

१६—काकुभत्रैष्टुभ—ककुप्+त्रिष्टुप् (ऋक्प्रा १८।२३) । यथा—यदध्रिगावो अध्रिगू । ऋ० ८।२२।११-१२॥

१७—(क) आनुष्टुभ त्रैष्टुभ—अनुष्टुप्+त्रिष्टुप् (ऋक्प्रा १८।२४)। यथा—यदद्य वां नासत्या । ऋ० ८।९।९-१०॥

(ख) आनुष्टुभ त्रैष्टुभ—अनुष्टुप्+महासतोमुखा (त्रिष्टुप्) (ऋक्प्रा० १८।२७) । यथा—

ता वृधन्तावनुद्यून् । ऋ० ५।८६।५-६॥

विशेष—'महासतोमुखा' संज्ञा ऋक्प्रातिशाख्य में पूर्व कहीं नहीं उल्लिखित है। उव्वट ने लिखा है कि 'विराट्पूर्वा' त्रिष्टुप् को महासतोमुखा कहते हैं। शौनक ने जो उदाहरण दिया है, उसकी उत्तर ऋक् (४।८६।६) का छन्द ऋक्स० में विराट्पूर्वा ही लिखा है।

१८—बार्हतत्रैष्टुभ— बृहती+त्रिष्टुप् (ऋक्प्रा० १८।२५) । यथा—यत्स्थोदीर्घप्रसद्मनि । ऋ० ८।१०।१—२॥

१९—त्रैष्टुभ जागत—त्रिष्टुप् +जगती (ऋक्प्रा० १८।२६) । यथा—आयन्मा वेना अरुहन्नृतस्य । ऋ० ८।१००।५—६॥

२०—त्रिष्टुबुत्तरजागत-जागतत्रिष्टुबुत्तर—जगती+त्रिष्टुप् (ऋक्प्रा० १८।२८) । यथा—

अददा गर्भां महते वचस्यवे । ऋ० १।५१।१३—१४॥

२१–जगत्युत्तरत्रैष्टुभ–त्रिष्टुप्+जगती (ऋक्प्रा० १८।२९)। यथा–
इदं नमो वृषभाय स्वराजे। ऋ० १।५१।१५; १।५२।१।।

विशेष–संख्या १९ के त्रैष्टुभ जागत प्रगाथ में भी त्रिष्टुप् और जगती-छन्दस्क ऋचाओं का योग है, और इस (संख्या २१) में भी उन्हीं छन्दवाली ऋचाओं का योग कहा है। दोनों में क्या भेद समझकर प्रातिशाख्यकार ने इसका नामान्तर से पुनः उपदेश किया है? यह हमारी समझ में अभी नहीं आया। इसके साथ ऋक्प्रा० १८।३०,३१ भी दर्शनीय है।

आवश्यक निदश—ऋक्प्रातिशाख्य में प्रगाथों के जितने भेद-प्रभेद दर्शाये हैं, उन सब का उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध नहीं होता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और प्रगाथ छन्द

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्भाष्य में छन्दोनिर्देश पिङ्गलसूत्र के अनुसार किए हैं। अतः उनके छन्दोनिर्देश में प्रगाथ छन्दों के निर्देश का अवकाश ही नहीं रहता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और ऋक्प्रातिशाख्यादि प्रोक्त छन्द

पूर्व प्रकरण से यह स्पष्ट है कि ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों के अनुसार ऋग्वेद में अनेक स्थानों में प्रगाथ पाये जाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसी प्रकार प्रगाथ छन्दःसम्बन्धी सूक्तों की व्याख्या करते हुए ऋ० १।३९ के छन्दःप्रसङ्ग में लिखा है—

"अत्र सायणाचार्यादिभिर्विलसनमोक्षमूलराख्यादिभिश्चैतत्सूक्तस्था मन्त्रा [युजः] सतोबृहतोछन्दस्का अयुजो बृहतीछन्दस्काश्च छन्दःशास्त्राभिप्रायमविदित्वाऽन्यथा व्याख्याता इति मन्तव्यम्।"

अर्थात्—सायणाचार्य आदि तथा विलसन और मोक्षमूलर (मैक्समूलर) प्रभृति ने इस सूक्त के समसंख्यावाले मन्त्र सतोबृहतीछन्दस्क, और विषमसंख्या-वाले बृहतीछन्दस्क हैं, ऐसा छन्दःशास्त्र के अभिप्राय को न जानकर लिखा है।

इसी प्रकार ऋ० १।५३ पर पुनः लिखा है—

"सायणाचार्यादीनां मोक्षमूलरादीनां वा यदि छन्दःषड्जादिस्वर-ज्ञानमपि न स्यात्, तर्हि भाष्यकरणयोग्यता तु कथं भवेत्?"

अर्थात्–सायणाचार्य आदि और मोक्षमूलर प्रभृति को यदि छन्द और षड्ज आदि स्वरों का ज्ञान भी न हो,तो भाष्य लिखने की योग्यता कैसे हो सकती है?

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋक्प्रातिशाख्य आदि विहित प्रगाथों (बृहती+सतोबृहती) को वेदार्थ में अथवा व्याख्यान में सहायक नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में पिङ्गलसूत्रविहित छन्द मुख्य हैं, क्योंकि पिङ्गलविहित छन्दों का यथायोग्य निर्देश करने पर छन्दोज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग मन्त्राक्षरसंख्या का परिज्ञान हो जाता है।

छन्दोज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण लाभ है—मन्त्राक्षरों की इयत्ता का ज्ञान। कात्यायन प्रभृति आचार्यों ने 'छन्दः' का लक्षण इस प्रकार किया है—

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः। ऋक्सर्वा० २।६॥
छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते। बृहत्सर्वा० पृष्ठ १॥

दोनों का अभिप्राय एक ही है कि अक्षरों के परिमाण (संख्या) को बतानेवाला छन्द होता है।

ऋक्प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में जो छन्दोविभाग दर्शाये हैं, उनसे अधिकांश में मन्त्रों की वास्तविक अक्षरसंख्या का ज्ञान नहीं होता। कभी-कभी तो ऐसे छन्दोनाम लिखे हैं, जिनमें चार-चार पांच-पांच अक्षर अल्प हैं। दो अक्षर से अधिक (तीन की) अल्पता अथवा आधिक्य होने पर ही छन्द बदल जाता है। उस अवस्था में चार-चार पांच-पांच अक्षरों की अल्पता कैसे सह्य हो सकती है?

प्रातिशाख्य आदि निर्दिष्ट छन्द केवल श्रौत और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित याज्ञिकप्रक्रिया के निर्वाह के लिए हैं। उनका वास्तविकता से विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस विषय के विशेष परिज्ञान के लिए इसी ग्रन्थ का "ब्राह्मण श्रौत और सर्वानुक्रमणी प्रभृति के छन्दों की अयथार्थता और उसका कारण" शीर्षक १८ वां अध्याय देखें, वहां इस विषय में विस्तार से लिखा है।

इस प्रकार इस अध्याय में प्रगाथसंज्ञक छन्दों का वर्णन करके अगले अध्याय में छन्दों के गोत्र, देवता, स्वर और वर्णों के विषय में लिखेंगे॥

—:०:

त्रयोदश अध्याय

छन्दों के गोत्र, देवता, स्वर और वर्ण

छन्दोनिर्देशक ग्रन्थों में छन्दों के गोत्र, देवता, स्वर और वर्णों का उल्लेख मिलता है[1]। द्र०—दैवतब्राह्मण ऋक्प्रातिशाख्य और शुक्लयजुःप्रातिशाख्य।

छन्दों के देवतानिर्देश का मूल ऋग्वेद १०।१३० के ४ थे ५ वें मन्त्र हैं, ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से सभी आचार्यों का मत है।

यास्क ने निरुक्त ७।८—११ में देवतात्रयी के भक्तिसाहचर्य का वर्णन किया है। तदनुसार देवता, लोक, सवन, ऋतु, छन्द, सोम आदि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसा ज्ञात होता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में १४।१०३-१०६ तक सम्बन्ध, विराम, पाद, देवता, स्थान, अक्षर, वर्ण, स्वर, गण और वृत्त का निर्देश किया है। हम क्रमशः छन्दों के गोत्र, देवता, स्वर और वर्णों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। अन्त में चित्ररूप में निरुक्तप्रदर्शित स्थानादि का स्पष्टीकरण करेंगे।

दैवत आदि निर्देश का प्रयोजन—दैवत आदि निर्देश का प्रधान प्रयोजन सन्दिग्ध छन्दोंवाले मन्त्रों के छन्दों का निर्देश करना है। यह अगले अध्याय में दर्शाया जायगा।

गोत्र

छन्दों के गोत्रों का उल्लेख केवल पिङ्गलसूत्र में उपलब्ध होता है। और वह भी केवल प्रथम सप्तकमात्र का। पिङ्गल (३।६६) का सूत्र है—

आग्निवेश्य-काश्यप-गौतम-आङ्गिरस-भार्गव-कौशिक-वासिष्ठानि गोत्राणि।

अर्थात्—क्रमशः गायत्री का आग्निवेश्य, उष्णिक् का काश्यप, अनुष्टुप् का गौतम, बृहती का आङ्गिरस, पंक्ति का भार्गव, त्रिष्टुप् का कौशिक, और जगती का वसिष्ठ गोत्र है।

विशेष—पिङ्गल आदि छन्दःप्रवक्ताओं ने गोत्र, देवता आदि के निर्देश का जो प्रयोजन लिखा है, उसकी व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी। परन्तु

१—तुलना करो—रसानां वर्णा दैवतानि च। नाट्यशास्त्र ६।४२-४५।

हमें गोत्रादि के निर्देश में एक सूक्ष्म रहस्य की सम्भावना भी प्रतीत होती है, इसलिए उसकी ओर संकेत कर देना आवश्यक है। उससे विचार करने में सुगमता होगी।

हम पूर्व लिख आये हैं कि गायत्री आदि प्रथम सप्तक के जो छन्दोनाम हैं वे सूर्यरश्मियों के भी हैं। सूर्य की रश्मियों के सात प्रधान भेद हैं। अतएव, सूर्य सप्तरश्मि अथवा सप्ताश्व कहाता है। पिङ्गल ने गोत्र, देवता, स्वर और वर्ण का निर्देश केवल प्रथम सप्तक के छन्दों का ही किया है (अन्यों ने देवता और वर्ण कतिपय अन्य छन्दों के भी लिखे हैं)। सूर्य की सप्तविध रश्मियाँ तत्तद्वर्ण के आधार पर ही विभक्त होती हैं। अतः यदि इन छन्दों के वर्णों का आधिदैविक छन्दों सूर्यरश्मियों के वर्णों के साथ सम्बन्ध हो, तो इन छन्दों, गोत्र और देवता आदि का सम्बन्ध भी आधिदैविक छन्दों के साथ होना चाहिए।[1]

यह एक अनुसंधान का विषय है। इस पर विद्वानों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

देवता

छन्दों के देवताओं का निर्देश ऋग्वेद, पिङ्गलसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, उपनिदानसूत्र, बृहद्देवता और भरतनाट्यशास्त्र में मिलता है। इनमें परस्पर कुछ भेद है। इसलिए पहले प्रत्येक ग्रन्थ के तत्तत् प्रकरण को उद्धृत करेंगे, और पश्चात् सब की तुलना तथा उन पर विशेष विचार किया जाएगा।

ऋग्वेद—ऋग्वेद के दशममण्डल के १३०वें सूक्त के चौथे-पांचवें मन्त्र में छन्दों के देवताओं का भक्ति=गौण निर्देश उपलब्ध होता है, ऐसा शौनक का

---

१. गन्धों का सूर्यरश्मियों के साथ विशिष्ट सम्बन्ध है, इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। सन् १९२७ में जब महात्मा गान्धी काशी पधारे थे, तब उनके दर्शन के लिए अपने सहपाठियों के साथ मैं ऐसे स्थान पर ठहरा, जहां पर नैपाली साधु पहले से ठहरा हुआ था। वह महात्मा जी पर बरसाने के लिए सूर्यरश्मियों द्वारा रुई को विभिन्न गन्धों से सुवासित कर रहा था। उसके पास अनेक आतशी शीशे थे। उनके साहाय्य से वह रुई के टुकड़ों को विभिन्न गन्धों से सुवासित करता था। मैं उस समय बालक था, अतः उस विषय में अधिक जानकारी तो प्राप्त न कर सका, परन्तु कुतूहलवश उसका कार्य बड़े ध्यान से देखता रहा।

मत है।[1] मन्त्र इस प्रकार हैं—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता संबभूव।
अनुष्टुभा सोमं उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥

इन मन्त्रों में अग्नि का गायत्री, सविता का उष्णिक्, सोम का अनुष्टुप्, बृहस्पति का बृहती, मित्रावरुण का विराट्, इन्द्र का त्रिष्टुप और विश्वेदेवों का जगती के साथ सम्बन्ध दर्शाया है।

विशेष—मन्त्र में विराट् पद से कौनसा छन्द अभिप्रेत है, इस पर आचार्यों का मतभेद है। इसकी मीमांसा हम आगे करेंगे।

पिङ्गलसूत्र—आचार्य पिङ्गल का सूत्र है—

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः॥ ३।६३॥

अर्थात्—क्रमशः गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पंक्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र, जगती का विश्वेदेव देवता हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य और दैवत ब्राह्मण—शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य १७। ६-१२ में छन्दों के देवताओं का निर्देश किया है। ऐसा ही निर्देश दैवतब्राह्मण खण्ड २ भी मिलता है। शौनक का सूत्र इस प्रकार है—

दैवतं छन्दसामत्र वक्ष्यते तत उत्तरम्।
अग्नेर्गायत्र्यतोऽधि द्वे भक्त्या दैवतमाहतुः॥
सप्तानां छन्दसामृचौ॥६॥

अर्थात्—यहाँ से आगे छन्दों के देवताओं का वर्णन करेंगे। अग्नेर्गायत्र्यभवत्० (ऋ० १०।१३०।४-५) ये दो ऋचाएं सात छन्दों के देवताओं का गौण रीति से वर्णन करते हैं।

विशेष—प्रातिशाख्य का मूल पाठ अग्नेर्गायत्र्यभवद् द्वे होना चाहिए। अतोऽधि का कोई विशेष अर्थ उपपन्न नहीं होता। "अग्नेर्गायत्री इससे ऊपर की" यह अर्थ कथंचित् हो सकता है।

ऋचा के अनुसार किस छन्द का किस देवता के साथ सम्बन्ध है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। विराट् से द्व्यक्षर न्यून छन्द का ग्रहण अभिप्रेत है, यह बृहद्देवता के अगले उद्धरणों से स्पष्ट होगा।

---

१. देखिए—आगे ऋक्प्रातिशाख्य निर्दिष्ट देवताओं का वर्णन।

न पङ्क्तेः ॥७॥ सा तु वासवी ॥८॥

अर्थात्—पूर्वनिर्दिष्ट ऋचाओं में पंक्ति छन्द के देवता का निर्देश नहीं है। पंक्ति छन्द 'वसु' देवतावाला है।

प्राजापत्या त्वतिच्छन्दाः ॥९॥ विच्छन्दा वायुदेवताः ॥१०॥
द्विपदाः पौरुषं छन्दः ॥११॥ ब्राह्मी त्वेकपदा स्मृता ॥१२॥

अर्थात्—अतिछन्दों (द्वितीय सप्तक[1]) का प्रजापति, विच्छन्दों का वायु, द्विपदा का पुरुष, और एकपदा का ब्रह्म देवता है।

याजुष सर्वानुक्रमणी[2] के अ० ४ में देवता का निर्देश इस प्रकार मिलता है—

गायत्री—अग्नि, उष्णिक्-सविता, त्रिष्टुप्-सोम, बृहती-बृहस्पति, पंक्ति-वरुण, त्रिष्टुप्-इन्द्र, जगती-विश्वेदेव, विराट्-मित्र, स्वराट्-अरुण, अतिछन्दः-प्रजापति, विच्छन्दः-वायु, द्विपदा-पुरुषः, एकपदा-ब्रह्म।

विशेष—विच्छन्दः शब्द से किन छन्दों का निर्देश है, यह टीकाकार ने भी स्पष्ट नहीं किया। उपनिदान सूत्र में विच्छन्दों का निर्देश आयेगा।

उपनिदान सूत्र—आचार्य गार्ग्य ने उपनिदान सूत्र के अन्त में छन्दों के देवताओं का निर्देश इस प्रकार किया है—

अग्निर्गायत्र्याः, सवितोष्णिक्ककुभोः, अनुष्टुभां सोमः, बृहत्या बृहस्पतिः, पंक्तीनां मित्रावरुणौ वसवो वा, त्रिष्टुभामिन्द्रः, वैश्वदेवो जगत्याः, आदित्यानां विराजः, अथ प्राजापत्यान्यतिछन्दांसि, वायव्यानि विच्छन्दांसि भवन्ति, द्विपदाः पुरुषदेवताः, ब्राह्म्य एकपदा इति ॥ अ० ८। पृष्ठ २१,२२ ॥

अर्थात्—गायत्री का अग्नि, उष्णिक् और ककुप् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पंक्ति का मित्रावरुण अथवा इन्द्र, त्रिष्टुप् का इन्द्र, जगती का विश्वेदेव, विराट् का आदित्य, अतिछन्दों का प्रजापति, विच्छन्दों का वायु, द्विपदा का पुरुष, एकपदा का ब्रह्म।

विशेष—(क) गार्ग्य ने पंक्ति के देवतानिर्देश में पिङ्गल और शौनक दोनों के मतों का संग्रह कर दिया।

---

१. देखिए—आगे निदानसूत्र का उद्धरण। प्रातिशाख्य के अनुसार तृतीय सप्तक ऋग्वेद में नहीं है, अतः द्वितीय का ही उल्लेख किया है।

२. यद्यपि यह सर्वानुक्रमणी अनार्ष कल्पित ग्रन्थ है, फिर भी उसका निर्देश छन्दों के देवता दर्शाने के लिए किया है।

(ख) गार्ग्य के मतानुसार अतिछन्द शब्द से द्वितीय और तृतीय दोनों सप्तकों का ग्रहण होता है। उसका वचन है—

अथातिछन्दांसि भवन्ति– अतिजगतीशक्वर्यतिशक्वर्यष्टिरत्यष्टिर्धृतिरतिधृतिः, कृतिः प्रकृतिराकृतिर्विकृतिः संकृतिरभिकृतिरुत्कृतिरिति ॥ अ० २। पृष्ठ ५,६॥

(ग)—निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने भी 'अथातिछन्दांसि भवन्ति लिखकर अतिजगती से उत्कृति पर्यन्त १४ छन्द लिखे हैं। पृष्ठ ५।

(घ) विच्छन्दः पद यहां भी अस्पष्ट है। गार्ग्य ने रहस्य के छन्दों का वर्णन करते हुए लिखा है—

विच्छद.स्वक्षरपरिमाणाः संकृतिप्रभृत्यूर्ध्वं विज्ञेयाः।

अ० ६। पृष्ठ १६॥

अर्थात्—विच्छन्दों में अक्षर-परिमाण संकृति आदि से आगे जानने चाहिएं।

क्या इससे यह अभिप्राय समझा जाय कि संकृति आदि (अभिकृति, उत्कृति) से आगे अर्थात् १०४ अक्षरों से अधिक अक्षरोंवाले छन्द विच्छन्द होते हैं ?

बृहद्देवता— आचार्य शौनक ने बृहद्देवता ८।१०५-१०६ में छन्दों के देवताओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

अग्नेरेव तु गायत्र्य उष्णिहः सवितुः स्मृताः।
अनुष्टुभस्तु सोमस्य बृहत्यस्तु बृहस्पतेः ॥
पङ्क्तयस्त्रिष्टुभश्चैव विद्यादैन्द्र्यश्च सर्वशः।
विश्वेषां चैव देवानां जगत्यो यास्तु काश्चन ॥

अर्थात्—गायत्री छन्द अग्नि का, उष्णिक् सविता का, अनुष्टुप् सोम का, बृहती बृहस्पति का, पङ्क्ति और त्रिष्टुप् इन्द्र का, जगती विश्वेदेवों का।

विराजश्चैव मित्रस्य स्वराजो वरुणस्य च।
इन्द्रस्य निचृतः प्रोक्ता वायोश्च भुरिजः स्मृताः॥
विषये यस्य वा स्यातां, स्यातां वा वायुदेवते ।

अर्थात्— विराट्=द्व्यक्षर न्यून छन्द मित्र का, स्वराट्=द्व्यक्षर अधिक वरुण का, निचृत्=एकाक्षर न्यून इन्द्र का, भुरिक्= एकाक्षर अधिक वायु का। अथवा जिस देवता के विषय में ये छन्द हों, वही देवता होता है, अथवा वायु देवता होता है।

विशेष—(क) ऋक्प्रातिशाख्य में विराट् का मित्रावरुण सम्मिलित देवता लिखा यहां विराट् का मित्र, और स्वराट् का वरुण लिखा है। दोनों एक आचार्य की ही कृतियां हैं, पुनः यह भेद किंनिमित्तक है? यह विचारणीय है।

(ख)—'विषये यस्य वा' यह अर्ध श्लोक सब पाठों में नहीं है। इस अर्ध श्लोक में पठित 'स्याताम्' पदों में द्विवचन श्लोकानुरोध से है, अतः अविवक्षित है। अभिप्राय विराट्, स्वराट्, निचृत्, भूरिक् चारों से है।

यास्त्वतिछन्दसः काश्चित् ताः प्रजापतिदेवताः ॥
विच्छन्दसस्तु वायव्या मन्त्राः पादैस्तु ये मिताः।
पौरुष्यो द्विपदाः सर्वा ब्राह्म्य एकपदाः स्मुताः ॥

अर्थात्—जो अतिछन्दस्क मन्त्र हैं, वे प्रजापति देवतावाले हैं। पादों से नापे गये अर्थात् पादबद्ध विच्छन्द मन्त्रों का वायु देवता है। द्विपदाएं पुरुष देवतावाली और एक पदा ब्रह्मादेवतावाली हैं।

विशेष—'पादैस्तु ये मिताः' पदों से प्रतीत होता है कि विच्छन्दस्क मन्त्र दो प्रकार के हैं—पादबद्ध और पादरहित गद्यरूप। इसके साथ यदि उपनिदान के पूर्वनिर्दिष्ट विच्छन्दःस्वक्षरपरिमाणाः वचन की तुलना की जाये, तो यह अभिप्राय होगा कि १०४ अक्षरों से अधिक अक्षरवाले विच्छन्दाः छन्द पादबद्ध और अपादबद्ध दोनों प्रकार के हैं।

याजुष सर्वानुक्रमणी के टीकाकार अनन्तदेव याज्ञिक का मत है कि १०६ अक्षरों से अधिक अक्षरवाले यजुओं का छन्द नहीं होता।[1] गोण्डल के रसायनशाला संग्रह में विद्यमान याजुष सर्वानुक्रमणी टीका के अज्ञातनामा टीकाकार का भी यही मत है। इन के प्रकाश में विच्छन्दाः का अर्थ छन्दोरहित भी हो सकता है।

भरतनाट्यशास्त्र—भरत के नाट्यशास्त्र में छन्दों के देवताओं का संकेतमात्र उपलब्ध होता है। वचन है—

अग्न्यादिदैवतं प्रोक्तम् ।१४।१०५।।

अर्थात्—गायत्री आदि छन्दों के अग्नि आदि देवता कहे गये हैं।

यास्क और देवता-निर्देश—यद्यपि यास्क ने छन्दों के साक्षात् देवताओं का निर्देश नहीं किया, परन्तु भक्ति-साहचर्य-प्रकरण से गायत्री आदि छन्दों का अग्नि आदि देवताओं के साथ सम्बन्ध है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १९१, टि० १।

विशेष विचार

पूर्व उद्धृत श्रुति के विराण्मित्रावरुणयोः वचन में विराट् पद से कौनसा छन्द अभिप्रेत है, इस विषय में मतभेद है, यह पूर्व उद्धृत वचनों से स्पष्ट है। पिङ्गल विराट् का अर्थ पंक्ति मानता है, और शौनक द्वचक्षर न्यून छन्द। गार्ग्य ने दोनों आचार्यों के मतों का संग्रहमात्र किया है, अपनी सम्मति कुछ नहीं लिखी।

विराट्-अर्थ-निर्णय—हमारे विचार में पिङ्गल का मत उचित है। छन्दःशास्त्र में 'विराट्' पद का अर्थ 'दश अक्षर' भी होता है। यथा—

पदं दशाक्षरं चाल्पं वैराजं तदुपेक्षितम्। वेङ्कटमाधवीय छन्दो० ६।१।६॥

अतः जिस छन्द में चारों पाद विराट्=दशाक्षर हों, वह छन्द विराट् पद से कहा जा सकता है। चारों पादों में दश अक्षर पंक्ति में ही होते हैं। इसी दृष्टि से ताण्ड्य ब्राह्मण में लिखा है—

पंक्तिर्वै परमा विराट्। २४।१०।२॥

अर्थात्--पंक्ति श्रेष्ठ विराट् है (क्योंकि इसमें सभी पाद दशाक्षर होते हैं)।

यदि मन्त्रपठित विराट् पद पंक्ति का नाम न माना जाये, तो प्रकृतहानि अप्रकृतकल्पनारूप महान् दोष उपस्थित होता है। गायत्री से लेकर जगती-पर्यन्त निर्देश में ६ छन्द तो क्रमशः प्रथम सप्तक के गिनाये, और बीच में एक सप्तक से बाहर का आ कूदा, तथा सप्तक के मध्य का एक छन्द छूट गया। ऐसी गड़बड़ी मानने की अपेक्षा विराट् पद को उक्त नियम से पङ्क्ति का ही वाचक मानना चाहिए। अतः पिङ्गल का मत ही युक्त है, शौनक का नहीं।

छन्दों का देवता-निदर्शक चित्र

ग्रन्थ नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती
ऋग्वेद(१०।१३०।४-५)	अग्नि	सविता	सोम	बृहस्पति	मित्रावरुण	इन्द्र	विश्वेदेव
पिङ्गल	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
ऋक्प्राति०	,,	,,	,,	,,	वसु	,,	,,
दैवत ब्रा०	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
बृहद्देवता	,,	,,	,,	,,	इन्द्र	,,	,,
उपनिदान	,,	,,	,,	,,	मित्रावरुण, इन्द्र	,,	,,
याजुषसर्वानुक्रमणी	,,	,,	,,	,,	वरुण	,,	,,

	अतिछन्द	विच्छन्द	द्विपदा	एकपदा	विराट्	स्वराट्	निचृत्	भुरिक्	ककुप्
ऋक्प्राति०	प्रजापति	वायु	पुरुष	ब्रह्म	मित्रावरुण	X	X	X	X
दैवत ब्रा०	,,	,,	,,	,,	,,	X	X	X	X
बृहद्देवता	,,	,,	,,	,,	मित्र	वरुण	इन्द्र	वायु	X
उपनिदान	,,	,,	,,	,,	आदित्य	X	X	X	सविता
याजुष सर्वा०	,,	,,	,,	,,	मित्र	वरुण	X	X	X

यजुर्वेद के अनुसार छन्दों के देवतादि—यजुर्वेद अ० १४, मन्त्र १८, १९, २० में कतिपय छन्दों के नाम स्थान और देवता का उल्लेख मिलता है। मन्त्रपाठ इस प्रकार है—

मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दो अस्त्रीवयश्छन्दः पंक्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥१८॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाच्छन्दोऽश्वश्छन्दः॥१९॥

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥२०॥ यजु० अ० १४॥

इन मन्त्रों के अनुसार छन्द स्थान और देवता का यह चित्र बनता है—

छन्द	लोक	देवता	छन्द	लोक	देवता
मा	पृथिवी	अग्नि	बृहती	मनः	आदित्य
प्रमा	अन्तरिक्ष	वात	अनुष्टुप्	कृषि	मरुत्
प्रतिमा	द्यौ	सूर्य	विराट्	हिरण्य	विश्वेदेव
अस्त्रीवय	समा	चन्द्रमा	गायत्री	गौ	बृहस्पति
पङ्क्ति	नक्षत्र	वसु	त्रिष्टुप्	अजा	इन्द्र
उष्णिक्	वाक्	रुद्र	जगती	अश्व	वरुण

शतपथ ८।३।३।५-६ में उपरिर्निर्दिष्ट मन्त्रों की इसी प्रकार की व्याख्या उपलब्ध होती है।

यजुर्वेद १४।१७ में पठित अस्त्रीवय छन्द का दूसरा नाम उपमा प्रतीत होता है। शतपथ में मा प्रमा प्रतिमा अस्त्रीवय छन्दों को अनिरुक्त छन्द कहा है, और शेष आठ छन्दों को निरुक्तछन्द। निरुक्त शब्द संभवतः यहां प्रसिद्ध अर्थ का वाचक है।

स्वर

छन्दों के स्वरों का निर्देश केवल पिङ्गलसूत्र में उपलब्ध होता है। आचार्य पिङ्गल ने भी प्रथम सप्तक के स्वरों का ही निर्देश किया है। सूत्र इस प्रकार है—

स्वराः षड्जर्षभगांधारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः।३।६४।

अर्थात्—क्रमशः गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गान्धार, बृहती का मध्यम, पंक्ति का पञ्चम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती का निषाद स्वर है।

स्वरनिर्देश का प्रयोजन—छन्दों के गोत्र, देवता, स्वर और वर्ण-निर्देश जो प्राकरणिक प्रयोजन हैं, उसका अगले अध्याय में स्पष्टीकरण होगा। परन्तु उसका एक प्रयोजन है—किस छन्द का किस स्वर में गान करना चाहिए, इसका निदर्शन कराना। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्त्तुं योग्यमस्ति, तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्ति।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का एक वैशिष्टय—वेदों के जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हैं, उनमें ऋषि, देवता और छन्द का निर्देश तो प्रतिमन्त्र उपलब्ध होता है,[1] परन्तु षड्ज आदि स्वरों का किसी ने निर्देश नहीं किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ही एकमात्र ऐसे वेदभाष्यकार हैं, जो प्रतिमन्त्र षड्जादि स्वरों का निर्देश करते हैं।

वैशिष्टय का कारण—स्वामी दयानन्द सरस्वती सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके कुल में परम्परागत अध्ययन-अध्यापन प्रवृत्त था। सामवेदी ब्राह्मण होने से सामगान आदि का निश्चय ही अभ्यास किया होगा। सामगान में षड्जादि स्वरों के परिज्ञान की आवश्यकता होती है। अतः मन्त्रगान और उसके छन्दों का षड्जादि स्वरों के साथ क्या सम्बन्ध है, इससे वे भले प्रकार विज्ञ रहे होंगे। यही कारण है कि उन्होंने वैदिक संगीत के पुनरुद्धार के लिये प्रतिमन्त्र स्वरों का निर्देश किया।

आश्चर्य तो इस बात का है कि प्राचीन छन्दःशास्त्र-प्रवक्ताओं में से पिङ्गल के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने इन स्वरों का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण हमारी समझ में नहीं आता।

अन्य वैशिष्टय—स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य का एक वैशिष्टय प्रति मन्त्र स्वर-निर्देश है, यह लिख चुके। दूसरा वैशिष्टय यह है कि आचार्य

---

१. स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेदभाष्य में छन्दों का निर्देश नहीं किया। इस का कारण वेदार्थ में छन्दों की अनुपयोगिता कही है। हमने स्कन्द के उक्त मत की विस्तृत आलोचना इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ६८-७० पर की है।

पिङ्गल ने केवल प्रथम सप्तक के स्वरों का ही निर्देश किया है, द्वितीय और तृतीय सप्तक के छन्दों का स्वर नहीं लिखा। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में तीनों सप्तकों के छन्दों का स्वर-निर्देश किया है।

द्वितीय तृतीय सप्तक के स्वर—गान के आरोह-अवरोह की प्रक्रियानुसार गायत्री के षड्ज से आरोह होते-होते जगती के निषाद पर आरोह-क्रम समाप्त हो जाता है। उसके बाद अवरोह होता है। अतः अतिजगती का तो वही निषाद स्वर रहता है, परन्तु अवरोह होते-होते अतिधृति के षड्ज पर वह समाप्त हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः आरोह होता है। अतः कृति का षड्ज ही स्वर रहता है। परन्तु आरोहक्रम के अनुसार उत्कृति के निषाद स्वर पर आरोह की समाप्ति होती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीनिर्दिष्ट स्वरों में भिन्नता—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तीनों सप्तकों के छन्दों के जो स्वर लिखे हैं, उनमें द्वितीय सप्तक के स्वर तो उपरिनिर्दिष्ट पद्धत्यनुसार ठीक हैं, परन्तु तृतीय सप्तक के स्वरों में भेद है। हम नीचे चित्र द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रथम सप्तक	द्वितीय सप्तक	तृतीय सप्तक	स्वर	स्वामी द० के मत में
१ गायत्री	१४ अतिधृति	१५ कृति	षड्ज	२१ उत्कृति
२ उष्णिक्	१३ धृति	१६ प्रकृति	ऋषभ	२० अभिकृति
३ अनुष्टुप्	१२ अत्यष्टि	१७ आकृति	गान्धार	१९ संकृति
४ बृहती	११ अष्टि	१८ विकृति	मध्यम	१८ विकृति
५ पंक्ति	१० अतिशक्वरी	१९ संकृति	पञ्चम	१७ आकृति
६ त्रिष्टुप्	९ शक्वरी	२० अभिकृति	धैवत	१६ प्रकृति
७ जगती	८ अतिजगती	२१ उत्कृति	निषाद	१५ कृति

स्वर-भेद का कारण—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में तृतीय सप्तक के स्वरों में क्यों भेद है, इसका कारण हमारी समझ में यह आता है कि उन्होंने प्रतिमन्त्र स्वर-निर्देश करने के लिए छन्द और उनके स्वरों का चित्र (चार्ट) बनवाया होगा। उसमें लेखक ने भ्रान्ति अथवा प्रमाद से तृतीय सप्तक के छन्दों के स्वर उलटे लिख दिये। वेदभाष्य लिखते समय उसी चित्र (चार्ट) का उपयोग करने से तृतीय सप्तक के स्वरों में भूल होती रही। आशा है विद्वन्महानुभाव इस पर विचार करेंगे।

वर्ण

छन्दों के वर्णों का निर्देश पिङ्गलसूत्र ऋक्प्रातिशाख्य उपनिदानसूत्र और

भरतनाट्यशास्त्र मे उपलब्ध होता हैं। आचार्य पिङ्गल ने केवल प्रथम सप्तक के ही वर्ण लिखे हैं। भरतनाट्यशास्त्र अ० १४, श्लोक १०८ में संकेतमात्र किया है ।

वर्णों का छन्दों के साथ क्या संबन्ध है? यह अनुसन्धान का विषय हैं। यदि आधिदैविक छन्द सूर्यरश्मियां हों, तो उनके सप्तविध वर्णों का निर्देश अनायास हो सकता है। कुछ लोगों का कथन है कि विभिन्न छन्दों की ध्वनि-लहरी का तत्तत् वर्णों पर प्रभाव पड़ता है। जो कुछ भी हो। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में इस विषय का संकेत होने से यह विषय अनुसन्धान योग्य अवश्य है। कल्पनामात्र कहकर परित्याग करने योग्य नहीं है ।

छन्दों का वर्ण-निर्देशक चित्र

अब हम किस ग्रन्थ में किस छन्द का क्या वर्ण लिखा है, इसका चित्र द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

ग्रन्थनाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती
पिङ्गल (३।६५)	सित[1]	सारङ्ग	पिशङ्ग	कृष्ण	नील	लोहित	गौर
ऋक्प्राति० (१७।१३-१८)	श्वेत	,,	,,	,,	,,	,,	सुवर्ण
उपनिदान	शुक्ल	,,	,,	,,	,,	,,	गौर
दैवत ब्रा०	,,	,,	कृष्ण	रोहित	,,	सुवर्ण	,,

	अतिच्छन्द	विच्छन्द	द्विपदा	एकपदा	विराट्	निचृद्	भुरिक्
ऋक्प्राति०	अरुण	श्याम	गौर	बभ्रु	पृश्नि	श्याव	पृषत्
उपनिदान	X	X	बभ्रु	नकुल	,,	X	X
दैवत ब्रा०	श्याव	X	,,	,,	X	X	X

ऋक्प्रातिशाख्य याजुषी साम्नी आर्ची ब्राह्मी (सब) का कपिल वर्ण ।
उपनिदान द्विपदा एकपदा विराट् से भिन्न अनुक्त छन्दों का श्यामवर्ण, और ककुप् का पिशंग ।
भरतप्रोक्त नाट्यशास्त्र अ० १४ श्लोक १०८ में छन्दों के वर्णों का निर्देश मिलता है ।

हलायुध का विशिष्ट निर्देश—पिङ्गलछन्दःसूत्रव्याख्याता हलायुध ने ३।६६ की व्याख्या में लिखा है—

१. गायत्री श्वेतवर्णा। गोपथ १।१।२७॥

रोचनाभाः कृतयः श्यामान्यतिछन्दांसि इत्येवमादिकमधीयते छान्दसाः।

अर्थात्—कृति आदि छन्दों का रोचनाभ, और अतिछन्दों का श्याम वर्ण होता है, इत्यादि वैदिक लोग पढ़ते हैं।

हमें हलायुध द्वारा निर्दिष्ट वचन उपलब्ध नहीं हुआ।

हलायुध द्वारा उक्त मत का खण्डन— वैदिकों के उक्त मत का निर्देश करके हलायुध लिखता है—

कृतीनामतिछन्दसां च निचृद्भुरिजोर्विराट्-स्वराजोश्च प्रदेशाभावात् कश्चिन्नास्ति सन्देहः। ३।३६॥

अर्थात्—कृति आदि तथा अतिछन्द=अतिजगती आदि में निचृद, भुरिक्, विराट्, स्वराट का व्यवहार नहीं होता। इसलिए उनमें सन्देह भी नहीं होता। अतः उनमें सन्देह-निर्णायक हेतुओं वर्णादि-परिज्ञान की भी आवश्यकता नहीं।

हलायुध की भ्रान्ति—हलायुध का अतिछन्दों और कृति आदि द्वितीय तृतीय सप्तकों में निचृद् आदि व्यवहार का अभाव मानना वैदिक छन्दोज्ञान से अपरिचय प्रकट करता है। निचृद् आदि व्यवहार सभी वैदिक छन्दों में तो होता ही है, लौकिक छन्दों में भी इनका व्यवहार देखा जाता है। इसकी मीमांसा पन्द्रहवें अध्याय में करेंगे।

निरुक्त-निर्दिष्ट लोक सवन ऋतु आदि

निरुक्त ७।८-११ में अग्नि, इन्द्र और आदित्य इन तीन देवों के भक्ति-साहचर्य का निर्देश है। उसमें तीनों देव के साथ सम्बद्ध लोक, सवन, ऋतु, छन्द, स्तोम, साम, देवगण और स्त्रियों का वर्णन मिलता है। तदनुसार किस छन्द का किन-किन के साथ सम्बन्ध है, यह आवश्यक सूचना प्राप्त होती है। इसलिए हम भक्ति-साहचर्य का चित्ररूप से निर्देश करते हैं—

निरुक्त-निर्दिष्ट भक्तिसाहचर्य का चित्र

देव	लोक	सवन	ऋतु	छन्द	स्तोम	साम	देवगण	स्त्रियां
अग्नि	पृथिवी	प्रातः	वसन्त	गायत्री	त्रिवृत्	रथन्तर	प्रथमस्थान	अग्नायी, इळा
			शरद्	अनुष्टुप्	एकविंश	वैराज	में समाम्नात	पृथिवी
इन्द्र	अन्तरिक्ष	माध्यन्दिन	ग्रीष्म	त्रिष्टुप्	पञ्चदश	बृहत्	मध्यम स्थान	मध्यम स्थान
			हेमन्त	पंक्ति	त्रिणव	शाक्वर	में समाम्नात	में समाम्नात
आदित्य	द्यु	तृतीय	वर्षा	जगती	सप्तदश	वैरूप	तृतीय स्थान	तृतीय स्थान
			शिशिर	अतिच्छन्द	त्रयस्त्रिंश	रैवत	में समाम्नात	में समाम्नात

निरुक्त में देवों की भक्ति-साहचर्य का निर्देश अनिर्दिष्ट देवतावाले मन्त्रों के दवत-परिज्ञान में सहायक होता है। इसी प्रकार इस अध्याय में वर्णित विषयों से सन्दिग्ध छन्दों के निर्णय में सहायता मिलती है

इस अध्याय में छन्दों से संबद्ध गोत्र, देवता, स्वर और वर्ण प्रभृति विषयों का वर्णन करके अगले अध्याय में 'जिन मन्त्रों के छन्दों में सन्देह हो, उनके निर्णय' के विषय में लिखा जायेगा ॥

चतुर्दश अध्याय

सन्दिग्ध छन्दों के निर्णायक उपाय

पूर्व विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक छन्द में उत्तरोत्तर चार-चार अक्षरों की वृद्धि होती है। और दो अक्षर न्यून वा दो अक्षर अधिक होने पर भी छन्दःपरिवर्तन नहीं होता। ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है—

न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्। ऐ० ब्रा० १।६।२।३७॥
नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मात्, न द्वाभ्याम्। शत० १३।२।३।३॥
ना ह्येकाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति, न द्वाभ्याम्। कौ० ब्रा० २७।१॥

तीनों वचनों का एक ही भाव है—एक अथवा दो अक्षरों के न्यूनाधिक्य से छन्दोभेद नहीं होता।

इस अवस्था में २६ अक्षरवाले मन्त्र का स्वराट् गायत्री छन्द माना जाये अथवा विराट् उष्णिक्; ३० अक्षरवाले मन्त्र का स्वराट् उष्णिक् छन्द हो अथवा विराट् अनुष्टुप् इस प्रकार का सन्देह समस्त छन्दों में होता है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए शास्त्रकारों ने निम्न उपाय बतलाये हैं—

आचार्य पिङ्गल ने लिखा है—

आदितः सन्दिग्धे। देवतादितश्च[1] ॥३।६१, ६२॥

अर्थात्—सन्दिग्ध छन्दों में प्रथम पाद के अक्षरों से, और देवतादि (देवता-स्वर-वर्ण-गोत्र) के द्वारा निर्णय करे।

यथा—३० अक्षरोंवाले चतुष्पाद मन्त्र का स्वराड् उष्णिक् छन्द माना जाए अथवा विराडनुष्टुप्, इस सन्देह की निवृत्ति प्रथमपाद के अक्षरों से करे। यदि प्रथम पाद में सात अक्षर हों, तो उसका 'स्वराड् उष्णिक्' छन्द होगा। यदि प्रथम पाद में आठ अक्षर हों, तो विराड् अनुष्टुप्। जहाँ प्रथम पाद से निर्णय न हो सकता हो, वहाँ देवता आदि का सहारा लेना चाहिए।

देवता से निर्णय—सन्दिग्ध छन्दों का देवता से निर्णय किस प्रकार होता है, इसके विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का व्याख्याता उव्वट लिखता है—

---

१. तुलना करो—तदाहुः किं छन्दः सुब्रह्मण्येति ? त्रिष्टुबिति ब्रूयात्। ऐन्द्री हि त्रिष्टुप्। जै० ब्रा० २।८०॥

संशये छन्दसां दैवतेनाध्यवसायो भवति। यथा—तव स्वादिष्ठा (ऋ० ४।१०।५); शिवा नः सख्या (ऋ० ४।१०।८) इत्युष्णिगनुष्टुपयोर्मध्ये, घृतं न पूतम् (ऋ०४।१०।६,७) षड्विंशत्यक्षरे ऋचौ दैवतेन स्वराजौ गायत्र्यावध्यवसीयेते, न विराजावुष्णिहौ।

अर्थात्—संशय होने पर छन्दों का देवता से निश्चय होता है। जैसे—तव स्वादिष्ठा (ऋ० ४।१०।५), और शिवा नः सख्या (ऋ० ४।१०।८) इन उष्णिक् और अनुष्टुप् छन्दवाली ऋचाओं के मध्य की घृतं न पूतम् (ऋ०४। १०।६,७) आदि २६अक्षरों की दो ऋचाएं अग्नि देवता होने से 'स्वराट् गायत्री' छन्दवाली निश्चित की जाती हैं, न कि 'विराट् उष्णिक्' छन्दवाली।

विशेष—सर्वानुक्रमणी में इन चारों का अन्य ही छन्द लिखा है। उसके अनुसार ५ वीं ऋचा का महापदपंक्ति, और ८ वीं का उष्णिक् छन्द है। मध्य की ६,७ का पदपंक्ति अथवा उष्णिक् कहा है।

शौनकोक्त छन्दोनिर्णायक—सन्दिग्ध छन्दों में छन्दों का निश्चय किस प्रकार किया जाए, इस विषय में आचार्य शौनक का प्रवचन है—

अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्।
विद्याद् विप्रतिपन्नानां पादवृत्ताक्षरैर्ऋचाम् ॥१७।२१॥

अर्थात्—जिन छन्दों में पादवृत्त (छन्द) और अक्षरसंख्या के कारण छन्दो-निर्णय में सन्देह हो वहाँ अक्षरसंख्या ही सब से बलवान् होती है।

इनके उदाहरण हम उव्वट की व्याख्यानुसार लिखते हैं—

सूर्ये विषमा सजामि (ऋ० १।१९१।१०-१२) आदि तीन ऋचाएँ पाद से छन्दोनिर्णय में सन्देह होने से अक्षरसंख्या से जगतीछन्दस्क हैं, ऐसा निश्चय होता है। तथा नवानां नवतीनां (ऋ० १०।१९१।१३) यह पंक्तिछन्दस्का होती है। तथा अभ्रप्रुषो न वाचा (ऋ० १०।७७।१) वृत्तों से सन्दिग्ध अक्षरों से त्रिष्टुप् मानी जाती है, तथा यास्ते प्रजा अमृतस्य (ऋ० १।४३।९) अनुष्टुप्। और ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु (ऋ० १०। १२८।९) त्रिष्टुप् बहुल सूक्त होने पर भी अक्षरों की गणना से जगती मानी जाती है।

विशेष—ऋ० १।१९१।१०-१२ तक का छन्द सर्वानुक्रमणी में महापंक्ति, और १३ वीं का छन्द महाबृहती लिखा है।

पाद-निर्णय के हेतु—पाद का निर्णय कैसे हो, अर्थात् कहाँ पर पाद-विच्छेद किया जाय, इसके लिए शौनक का प्रवचन है—

प्रायोऽर्थो वृत्तम् इत्येते पादज्ञानस्य हेतवः।
विशेषसन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम् ॥१७।२५,२६॥

अर्थात्—पाद के ज्ञान में प्रायः (बाहुल्य), अर्थ और वृत्त (छन्दः) ये तीन हेतु होते हैं। यदि कहीं पर तीनों अथवा दो-दो का विरोध हो (प्रायः+अर्थ, अर्थ+वृत्त), तो वहाँ पूर्व-पूर्व बलवान् होता है, पर-पर निर्बल।

यही बात वेङ्कट माधव ने कुछ शाब्दिक अन्तर से कही है। और उसने उसकी जो व्याख्या की है, वह उव्वट से अधिक स्पष्ट है। अतः हम उसका वचन व्याख्यासहित उद्धृत करते हैं—

प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः।
बलीयः स्याद् विरोधे च पूर्वं पूर्वमिति स्थितिः ॥छन्दोऽनु० ६।७।१३॥

'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० १।१।१) इति गायत्रीभिः सह पाठाद् गायत्र्यः पादो अवान्तरश्चार्थस्तस्मिन्नेव संस्थितस्तथा वृत्त-युक्तश्च भवति। प्रायार्थयोर्विरोधे प्रायबलीयस्त्वम्—'त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्' (ऋ० १०।७३।७) इति पादान्तः। यद्यर्थबलीयस्त्वं भवति—'स्योनान् पथः' इति पादान्तः स्यात्, 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः' (ऋ० १।१।२) च। 'ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिः' (ऋ० १।३६।१३) इति प्रायवृत्तविरोधे प्रायबलीयस्त्वात्। 'प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्' (ऋ० ५।३०।१२) एकादशाक्षर एव भवति, न विकर्षेण द्वादशाक्षरः। अर्थवृत्तविरोधे 'यदग्ने स्यामहं त्वम्' (ऋ० ८।४४।१३) इति पादान्तः, न वृत्तादहम् इति। एवं सर्वत्र बोध्यम्। वे० मा० सर्वानुक्रमणी परिशिष्ट XXXIII।

विशेष—आचार्य शौनक ने अर्थ से प्रायः को बलीयान् कहा है, परन्तु यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् (मीमांसा २।१।३५) नियम के अनुसार ऋक् में अर्थ की ही प्रधानता होनी चाहिये।[1] निदानसूत्रकार अर्थ को प्रधानता देता है। अतएव वह पादों के नियताक्षरों का अभिक्रमण (वृद्धि) और प्रतिक्रमण (ह्रास) का विधान करता है। यथा—

---

१. इस पर विशेष विचार तथा शबर और भट्ट कुमारिल की भ्रांतियों के लिये पृष्ठ ७५-७९ तक देखें।

अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति—विश्वेषां हित (ऋ० ६।१६।१) इति ।

आचतुरक्षरताया इत्येके ।

आदशाक्षरताया अभिक्रामति—वयं तदस्य संभृतं वसु (ऋ० ८।४०।६) इति । पृष्ठ १।

अर्थात्—अष्टाक्षर पाद पांच अक्षर पर्यन्त छोटा हो जाता है । यथा—'विश्वेषां हितः' (ऋ० ६।१६।१) में अष्टाक्षर गायत्रपाद यहाँ पांच अक्षर का ही है । कई आचार्यों का मत है कि वह चार अक्षर पर्यन्त संकुचित हो जाता है । तथा वही अष्टाक्षर पाद दश अक्षर पर्यन्त बढ़ जाता है । यथा—'त्वं तदस्य संभृतं वसु' में अष्टाक्षर पाद दश अक्षर का हो गया है ।[1]

इसी प्रकार एकादशाक्षर और द्वादशाक्षर पाद के ह्रास और वर्धन का विधान किया है ।

इस विवेचना के लिये पृष्ठ ७७ पर उद्धृत तातप्रसाद कृत निदानसूत्र-व्याख्या भी द्रष्टव्य है ।

हमारा विचार यही है कि निदानसूत्र के नियमों के अनुसार पाद का ह्रास अथवा बृंहण करके जहाँ अर्थ परिसमाप्त हो, वहीं पाद तोड़ना चाहिये। पाद के ह्रास अथवा बृंहण का नियम निदानसूत्र के अतिरिक्त किसी छन्दः-शास्त्र में नहीं मिलता ।

पतञ्जलि के छन्दोनिर्णायक हेतु—निदानसूत्र-प्रवक्ता पतञ्जलि ने छन्दोनिर्णायक के निम्न हेतु बताये हैं—

चतुष्टयेन छन्दो जिज्ञासेत—पादैरक्षरैर्वृत्त्या स्थानेनेति ।

तेषामेकैकस्मिन् दुष्यन्ति शेषेणैव जिज्ञासेत ।

न दुष्टस्य छन्दसोऽन्येन वृत्तेर्ज्ञानमस्तीति विद्यात् । पृष्ठ ६।

अर्थात्—चार प्रकार से छन्दों का विचार करे—पाद, अक्षर, वृत्ति (=छन्द) और स्थान । उसमें से एक-एक के दूषित होने पर शेष से विचार करे । दुष्ट छन्द के ज्ञान का वृत्ति के अतिरिक्त अन्य से ज्ञान नहीं होता ।

विशेष—स्थान से अभिप्राय मन्त्र-विनियोग-स्थल से है । यथा—ज्योतिष्टोम के प्रातःसवन में विनियुक्त होगा तो गायत्री, माध्यन्दिन सवन में होगा

---

१. ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार 'संभृतम्' आठ अक्षरों पर ही पूरा होता है ।

ता त्रिष्टुप्, और तृतीय सवन में होगा तो जगती छन्द होगा। इसी प्रकार साम के साथ भी समझना चाहिये।

निदानसूत्र की अमुद्रित व्याख्या का रचयिता पेत्ताशास्त्री हृषीकेश लिखता है—

स्थानम्–अग्निष्टोमादिः, आर्भवपवमानादिः

इसकी पूर्व अध्याय में निर्दिष्ट निरुक्त-प्रदर्शित देवता भक्तिसाहचर्य के साथ तुलना करनी चाहिए। पेत्ताशास्त्री का मत यास्क से मिलता है।

इस प्रकार सन्दिग्ध छन्दों के निर्णायक हेतुओं का वर्णन करके, अगले अध्याय में निचृद्, विराट्,भुरिक्, स्वराट् के व्यवहारक्षेत्र की मीमांसा करेंगे॥

—:o:—

पञ्चदश अध्याय

निचृत्, विराट्, भुरिक्, स्वराट का व्यवहारक्षेत्र

हम पूर्व अध्याय ७ में निचृद्, विराट्, भुरिक् और स्वराट् के लक्षण और उदाहरण लिख चुके हैं। निचृत्,विराट्, भुरिक् और स्वराट् का व्यवहारक्षेत्र क्या है? इन विशेषणों का कहाँ प्रयोग होता है? इस विषय में ग्रन्थकारों में बहुत मतभेद हैं। हम उन सब की मीमांसा इस प्रकरण में करेंगे।

इनके विषय में प्रधानतया मीमांस्य दो विषय हैं। प्रथम—क्या इनका प्रयोग वैदिक छन्दों में ही होता है, अथवा लौकिक छन्दों में भी इनका प्रयोग हो सकता है? दूसरा—वैदिक छन्दों में भी सब में इनका प्रयोग होता है, अथवा कतिपय छन्दों में ही?

इनमें से हम पहले, दूसरे विषय का निरूपण करेंगे।

प्रथम सप्तक में ही प्रयोग

हलायुध—पिङ्गलसूत्र-व्याख्याता हलायुध के मत में भी निचृद् आदि का व्यवहार प्रथम सप्तक में ही होता है। वह लिखता है—

कृतोनामतिछन्दसां च निचृद्भुरिजोर्विराट्स्वराजोश्च प्रदेशाभावात्।
पि० सू० ३।६६ की टीका।

अर्थात्—निचृद्, भुरिक्, विराट्, स्वराट् का निर्देश कृति आदि तृतीय सप्तक और अतिच्छन्द=द्वितीय सप्तक में नहीं होता।

उव्वट—ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याता उव्वट ने ऋक्प्राति० १७।१,२ की जो व्याख्या की है, उससे स्पष्ट होता है कि निचृत् भुरिक् का प्रयोग गायत्री से लेकर उत्कृतिपर्यन्त सभी छन्दों में होता है। वह लिखता है—

एवं क्लृप्तप्रमाणानां चतुर्विंशत्यक्षरादीनां चतुरुत्तराणां चतुःशत-पर्यन्तानामेकविंशतिच्छन्दसां कश्चिद् विशेष उपदिश्यते। कोऽसौ? एकेन द्वाभ्यां वोना निचृद् भवति। एकेन द्वाभ्यां वा ऋक् अधिका सा भुरिक् भवति……।

अर्थात्—इस प्रकार नपेतुले प्रमाणवाले २४ अक्षरों से लेकर चार-चार अक्षर बढ़ाते हुए १०४ अक्षरपर्यन्त २१ छन्दों के विषय में कुछ विशेष विधान

करते हैं। वह क्या है? एक अथवा दो अक्षरों से हीन ऋक् निचृद् कहाती है, एक वा दो से अधिक अक्षरोंवाली भुरिक्......।

विशेष— ऋक्प्रातिशाख्य (१७।१) तथा उसकी उक्त व्याख्या के अनुसार दो अक्षर न्यून की भी निचृत् ही संज्ञा है, और दो अक्षर अधिक की भी भुरिक्। अन्य शास्त्रों में दो अक्षर न्यून की विराट्, और दो अक्षर अधिक की स्वराट् संज्ञायें कही हैं। देखिये— अध्याय ७।

निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने केवल एकाक्षरन्यून निचृद्, और एकाक्षर-अधिक भुरिक् का ही उल्लेख किया है, क्योंकि उसने चार-चार अक्षर अधिक छन्दों के अवान्तर भेद अन्तस्थाछन्दसंज्ञक दर्शाये हैं। अतः उसके यहां दो अक्षर अधिक और न्यून की आवश्यकता ही नहीं रहती। वे अन्तस्था छन्द प्राञ्चि छन्दों और तीनों सप्तकों के माने हैं। उनके जो नाम निदानकार ने लिखे हैं, उनका वर्णन हम पूर्व पृष्ठ ९८, ९९ पर कर आये हैं।

निदानसूत्रकार ने निचृद् और भुरिक् भेद तीनों सप्तकों के अतिरिक्त प्राञ्चि छन्दों के भी माने हैं। तदनुसार पतञ्जलि के मत में निचृद्भुरिक् के व्यवहार का क्षेत्र सब छन्द हैं।

विशेष—हमने पृष्ठ ९८, ९९ पर प्रत्येक छन्द के जो कृत त्रेता द्वापर और कलि भेद तथा उनकी अक्षरसंख्या दर्शाई है, उसका आधार पृष्ठ ८-९ का तान्येतानि सर्वाणि कृतछन्दांसि भवन्ति से लेकर अथ यत् कलि-स्थानं ता भुरिजः पर्यन्त पाठ है।

निचृत् आदि का लौकिक छन्दों के साथ सम्बन्ध

अब यह विचारणीय है कि निचृद् आदि का व्यवहार लौकिक छन्दों में हो रहा है अथवा नहीं। इस विषय में भी छन्दोवेत्ताओं में मतभेद है।

संबन्ध नहीं—पिङ्गल के व्याख्याता हलायुध का मत है कि निचृत् आदि का व्यवहार लौकिक छन्दों में नहीं होता। वह ३।६२ की व्याख्या में लिखता है—

वैदिकछन्दःसु निचृद्भुरिजौ तथा विराट्स्वराजौ दृश्येते, न लौकिकेषु।

अभिनव गुप्त—नाट्यशास्त्र का व्याख्याता अभिनव गुप्त १४।१०३ की व्याख्या में लिखता है—

सम्पदिति स्वराट्, विराट्, भुरिक्, निवृत् [एषां] श्रुतावेव संभवो न काव्ये इति तात्पर्यम् ।

अर्थात्—स्वराट् आदि का श्रुति में ही व्यवहार सम्भव है, काव्य में नहीं । अन्य छन्दोवेत्ताओं ने इस विषय में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा ।

सम्बन्ध है——छन्दःशास्त्रकारों में ज्ञानाश्रयी छन्दोविचितिकार निचृद् आदि का व्यवहार लौकिक छन्दों में भी मानता है । वह द्व्यकैरूने विराण्णिवृतौ, स्वराड्भुरिजावधिके (१।६।७,) सूत्रों की व्याख्या में स्पष्ट लिखता है—

लौकिक विराड् यथा—

शूरः सुमुखः सदयः शान्तो धीरस्त्यागी गुणवान् भक्तः ।
कुलजोऽस्माकं नित्यं मित्रं भवतु श्लाध्यम् ॥

लौकिक निवृद् (=निचृत्) यथा—

अम्भोदानामसितानां श्रुत्वा शब्दं सन्ततबर्हवः ।
अम्भोभारान्मन्दगतीनामुद्ग्रीवोऽयं रौति मयूरः ।

लौकिक स्वराड् यथा--

अथ तत्र शुचौ लतागृहे कुसुमोद्गारिणि तौ निषीदतुः ।
मृदुभिर्द्रुमारुतेरितैरूपगूढाविव बालपल्लवैः ॥

लौकिक भुरिग् यथा—

मनोज्ञमपि सिन्दुवारतः कुन्दकुसुममग्र्यं च षट्पदः ।
न सर्पति तुषारशङ्कितचन्द्रालोकविशेषशीतलम् ॥

लौकिक सम्बन्ध में अन्य प्रमाण

भरत मुनि—नाटचशास्त्र का लौकिक छन्दों से ही सम्बन्ध है । नाटचशास्त्र के टीकाकार के मत में लौकिक छन्दों में निचृत् आदि सम्भव नहीं है । तब प्रश्न होता है कि भरत मुनि ने निवृद् आदि का विधान क्यों किया ? द्रष्टव्य—१४।११०–११२॥

विशेष—निचृद् आदि के विधायक श्लोक बड़ौदा के संस्करण में पृष्ठ २४३ तथा २४६ दो स्थानों में पठित हैं । और दोनों स्थानों में सम्पादक ने उन्हें [ ] कोष्ठक के अन्तर्गत छापा है । अतः यह विचारणीय है ।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा उसका टीकाकार—श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का एक श्लोक है—

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥१२॥

इस श्लोक के विषय में शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका का अज्ञातनामा रचयिता ग्रन्थ के आरम्भ में प्रसङ्गात् लिखता है—

उदात्ते निषादगान्धाराविल्यत्र प्रथमो भुरिगनुष्टुप् पादः । द्वितीयः स्वराडनुष्टुप् पादः । उत्तरार्धं पूर्ववत् । ऊनावधिकैकेन निवृद्भुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ (पि० सू० ३।५९–६०) इति लक्षणात् । मनोमोहन घोष द्वारा सम्पादित, कलकत्ता संस्करण पृष्ठ २४ ।

अर्थात्—उदात्ते निषादगान्धारौ यह प्रथम भुरिगनुष्टुप् पाद है । दूसरा स्वराडनुष्टुप् पाद है । उत्तरार्ध पूर्ववत् । एक अक्षर से न्यून निवृत्; एक अक्षर से अधिक भुरिक्; दो अक्षर न्यून विराट्; और दो अक्षर अधिक स्वराट् होता है, ऐसा लक्षण होने से ।

विशेष—पिङ्गलसूत्र के वर्त्तमान पाठों में निचृद् पाठ मिलता है । निचृत् संज्ञा नाट्यशास्त्र और जानाश्रयी छन्दोविचिति में उपलब्ध होती है ।

महाभारत और पुराणों में ऐसे कई श्लोक उपलब्ध होते हैं, जिनमें एक-दो अक्षर न्यूनाधिक होते हैं। हम यहां वायुपुराण के दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

जनमेजयो महासत्त्व पुरंजयसुतोऽभवत् ।
जनमेजयस्य राजर्षेर्महाशालोऽभवन्नृपः ॥ वायु पु० ९९।१२॥

इस श्लोक के प्रथम और तृतीय चरणों में नौ-नौ अक्षर हैं । इसी प्रकार—

जिह्वे स्तुहि जगत्त्रितयैकनाथं नारायणं परमकारुणिकं सदैव ।
प्राचीनकर्मनिगडार्गलबन्धमुक्त्यै नान्यः पुराणपुरुषादपरोऽस्त्युपायः ॥
वायु पु० २१।८१॥

इस श्लोक के प्रथम पाद में दो अक्षर न्यून हैं ।

महाभाष्य में एकाक्षर-अधिक चरण वा श्लोक—महाभाष्य १।४।५१ में पठित अनुष्टुप् श्लोक के एक पाद का पुराना पाठ है—'कारकं ह्यकथितस्वन्तु'[1] । इस पाठ में एक चरण में ९ अक्षर हैं । महाभाष्य १।४।५१ में पठित एक अनुष्टुप् श्लोक का पुराना पाठ है—

१. इसका नवीन पाठ है—कारकं ह्यकथितात् । इस पाठ पर टीका-

प्रधाने कर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।
अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणाम् ॥
भागवृत्ति ५।२।११२ में उद्धृत पाठ ।[1]

इस पाठ में प्रथम चरण में आठ अक्षरों के स्थान में ९ अक्षर हैं।

भट्टिकाव्य ४।१२ के प्रथम चरण का पुराना पाठ है—

परिषद्बलान् महाब्राह्मैः। भागवृत्ति ५।२।११७ में उद्धृत ।[1]

नवाक्षरपाद और भागवृत्तिकार—पूर्व उद्धृत श्लोकों के विषय में अष्टाध्यायी की प्राचीन भागवृत्तिनाम्नी वृत्ति का अज्ञातनामा लेखक[2] लिखता है—

'या सम्प्रति प्राक् परिषद् बलानाम्' इति व्योषः, 'परिषद् बलान् महाब्राह्मैः इति भट्टिः(४।१२); नवाक्षरेण छन्दोभङ्गप्रसंगात्। नवाक्षरेणैकपादेऽपि वृत्तभेदोऽस्यास्तीति। यथा—'प्रधाने कर्मण्यभिधेये('अभिहिते' पाठा०)लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति। तथा 'तस्मै तिलोदकं दद्यादपुत्राय भीष्मवर्मणे'। एवं च न छन्दोभङ्गः इति भागवृत्तिः।[3]

शास्त्रीय नियम के अज्ञान से पाठान्तर—पूर्वनिर्दिष्ट मीमांसा से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थकारों के मतानुसार लौकिक छन्दों में भी निचृद् भुरिक् आदि विशेषण होते हैं। इस शास्त्रीय नियम को न जानकर उत्तरवर्ती लोगों ने प्राचीन शास्त्रसम्मत पाठों को परिवर्तित कर दिया है।

कारों ने लिखा है—भावप्रधानो निर्देशः (नागेश)। यहीं नागेश ने 'क्वचिद-कथितत्वादित्येव पाठः' लिखकर पुराना पाठ दर्शाया है।

१. देखिए—हमारे द्वारा संगृहीत 'भागवृत्ति-संकलनम्'। काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की सारस्वती सुषमा पत्रिका, सं० २०१० ज्येष्ठ, भाद्र, मार्गशीर्ष और फाल्गुन के अंकों में प्रकाशित। यह भागवृत्तिसंकलन पृथक् स्वतन्त्ररूप में भी प्रकाशित हो चुका है।

२. इस वृत्ति और इसके रचयिता के विषय में भागवृत्ति-संकलन की प्रस्तावना, तथा सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४६९—४७३, सं० २०३० का संस्करण देखिए।

३. भागवृत्ति पृष्ठ ३२९ तथा दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ८७ का सम्मिलित पाठ।

ऐसा परिवर्तन केवल छन्दःशास्त्र की दृष्टि से तो स्वल्प हुआ है, परन्तु पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से प्राचीन ग्रन्थों के सहस्रों प्राचीन अपाणिनीय प्रयोग बदल दिये गये हैं। इस प्रकार का परिवर्तन नितान्त गर्हित है। इतना प्रयत्न करने पर भी प्राचीन ग्रन्थों में कथंचित् शतशः प्राचीन प्रयोग सुरक्षित रह गये। इन अवशिष्ट प्रयोगों से प्राक्-पाणिनीय अति विस्तृत भाषा के परिज्ञान में महती सहायता मिलती है।

महाभाष्य और भट्टि का साम्प्रतिक पाठ—महाभाष्य और भट्टि-काव्य के जो प्राचीन पाठ भागवृत्तिकार ने उद्धृत किये हैं, उनमें एक पाद में एक अक्षर अधिक है। उत्तरवर्ती विद्वानों ने छन्दःशास्त्र के प्राचीन नियम को न जानकर उसके पाठ बदल दिये। दोनों के वर्त्तमान पाठ इस प्रकार हैं—

महाभाष्य—प्रधानकर्मण्याख्येये ।

भट्टिकाव्य—पर्षद्वलान् महाब्राह्मैः ।

इस प्रकार इस अध्याय में निचृद्, विराट्, भुरिक्, स्वराट् आदि के व्यापार-क्षेत्र का वर्णन और प्राचीन छन्दोनियमों के अज्ञान के कारण होनेवाले अनर्थों का निर्देश करके अगले अध्याय में दैव, आसुर आदि केवल अक्षर-गणनानुसारी छन्दों के व्यापार-क्षेत्र का वर्णन करेंगे ॥

—:o:—

षोडश अध्याय

दैव आदि केवल अक्षरगणनानुसारी

छन्दों का व्यापार-क्षेत्र

अक्षरगणनानुसारी दैव, आसुर, प्राजापत्य आदि छन्दों का व्यापार केवल यजुः=गद्य=पादबद्धता से रहित मन्त्रों तक ही सीमित है, अथवा इनका व्यवहार पादबद्ध ऋङ्-मन्त्रों में भी हो सकता है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। हम दोनों मतों को उद्धृत करके इस विषय की मीमांसा करेंगे।

प्रथम पक्ष—प्रथम पक्ष की युक्ति और मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए हम मई सन् १९३८ के "वैदिक धर्म" से श्री पं० सातवलेकर जी की पङ्क्तियां उद्धृत करते हैं—

"अक्षरसंख्या से छन्दोनिर्णय करते हैं, वह पादव्यवस्था जिन मन्त्रों में नहीं होती, उनका ही किया जाता है। जहां पादबद्ध रचना होती है, उन मन्त्रों की व्यवस्था स्वतन्त्र है। पादः (पिं० सू० ३।१) इस अधिकार सूत्र से पूर्व ही आर्ची', 'दैवी' आदि भेद छन्दःशास्त्र में कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये पादव्यवस्था न होने की अवस्था के छन्द हैं, अर्थात् जहां पाद-व्यवस्था नहीं है, उन यजुर्वेद-मन्त्रों के लिए यह नियम है।"

इस उद्धरण से प्रथम पक्ष अतिस्पष्ट है।

द्वितीय पक्ष—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋक्=पादबद्ध मन्त्रों में भी दैवी, आसुरी आदि विशेषणविशिष्ट छन्दों का अपने वेदभाष्य में शतशः स्थानों में प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द 'पादबद्ध=ऋङ्-मन्त्रों में भी दैवी आदि का व्यापार होता है' यह मानते हैं।

अब हमें यह देखना है कि इन दोनों मतों में से कौन-सा मत प्राचीन छन्दःशास्त्रकारों तथा सर्वानुक्रमकारों को अभीष्ट है।

प्राचीन छन्दःशास्त्रों, सर्वानुक्रमसूत्रों, और उनके व्याख्या-ग्रन्थों के अनु-शीलन से हम इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि पिंगलसूत्र में पादः अधिकार से पूर्व निर्दिष्ट दैव आदि केवल अक्षरगणनानुसारी छन्द पादव्यवस्था से रहित

यजुर्मन्त्रों में तो व्यवहृत होते ही हैं, पादबद्ध ऋङ्मन्त्रों में भी इनका व्यवहार होता है। अर्थात्—पादः से पूर्व के अक्षरगणनानुसारी छन्द सामान्य छन्द हैं, और पादः सूत्र से उत्तरवर्ती छन्द विशेष छन्द हैं। पादाधिकार के छन्द पादबद्ध मन्त्रों में ही व्यवहृत हो सकते हैं, अपादबद्ध में नहीं। परन्तु पूर्ववर्ती छन्दों के सामान्य होने से उनका पादबद्ध मन्त्रों में भी व्यवहार हो सकता है।

यदि यह कहा जाये कि जैसे व्याकरणशास्त्र में सामान्य=उत्सर्ग-नियमों को अपवाद-नियम बाधते है, अपवाद-विषय में उत्सर्गनियम की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में सामान्य विहित अण् प्रत्यय अत इञ् (४।१।९५) अकारान्त प्रातिपदिक से विशेष विहित इञ् के क्षेत्र में व्यापृत नहीं होता, इसी प्रकार छन्दःशास्त्र में भी पादः अधिकार से पूर्व विहित छन्दों का पादाधिकार-पठित-विशेष छन्दों के क्षेत्र पादबद्ध मन्त्रों में व्यापार नहीं होना चाहिये।

यह कथन आपाततः रमणीय अवश्य है, परन्तु न इस नियम का व्याकरण-शास्त्र में ही पूर्ण परिपालन होता है और न छन्दःशास्त्र में ही। वैयाकरणों के यहां एक प्राचीन नियम है—

क्वचिदपवादेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तते। परिभाषावृत्ति सीरदेव।

अर्थात्—कहीं-कहीं अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति भी होती है। यथा—

प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली। रामा० ६।१४।३॥
वाल्मीकेन महात्मना। रामा० १।२।७॥

इन उदाहरणों में दाशरथि और वाल्मीकि के स्थान में अण्प्रत्ययान्त दाशरथ और वाल्मीक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

पाणिनि का सामान्य नियम है—तित् स्वरितम् (६।१।१८५) अर्थात् तित् प्रत्ययान्त स्वरित होता है। उसका अपवाद है—यतोऽनावः (६।१।२१३)। अर्थात्—यत्प्रत्ययान्त द्वयच् आद्युदात्त होता है। तदनुसार मेध्य पद आद्युदात्त ही होना चाहिये (यथा—माध्य० १६।३८, काण्व १८।३८, मैत्रा० २।९।७), परन्तु तैत्तिरीय संहिता ४।५।७ तथा काठक संहिता १७।१५ में सामान्यविहित तित्स्वरयुक्त अन्तस्वरित उपलब्ध होता है। इसी प्रकार पाणिनि के सामान्य विहित प्रत्ययस्वर का लिति (६।१।१९३) से विशेषविहित स्वर अपवाद है। परन्तु तै० ब्राह्मण ३।४।१६।१ में चरकाचार्य

पद में चरक पद सामान्य नियम प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त देखा जाता है ।[1]

इसलिये जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र में भी अपवादों के द्वारा सामान्य नियमों की प्रतिबाधा नहीं होती, सामान्य नियम का व्यवहार भी देखा जाता है, उसी प्रकार छन्दःशास्त्र में भी पादः अधिकार से पूर्व विहित सामान्य दैव आदि छन्दों का व्यापार पादबद्ध मन्त्रों में भी हो सकता है ।

अष्टाध्यायी की हमारी वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार सामान्य और विशेष नियम दो प्रकार के शब्दों के साधुत्व के उपलक्षकमात्र हैं । उनमें वर्तमान वैयाकरणों द्वारा आश्रित बाध्यबाधकभाव नहीं है । अतएव महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—

नैवेश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति—अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम् इति । १।१।४७; ५।१।११९॥

अर्थात्—न तो राजाज्ञा है, न ही धर्मशास्त्रकार पढ़ते हैं कि अपवादों से उत्सर्ग बाधे जायें ।

इस सामान्य विवेचना के अनन्तर हम प्राचीन आचार्यों के कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिससे इस विषय का स्पष्ट निर्णय हो जायेगा—

१—शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में दैव-आसुर छन्दों का वर्णन किया है । ऋग्वेद में सब ऋचायें हैं, गद्यमन्त्र कोई नहीं है । यदि दैव-आसुर छन्दों का ऋग्वेद के मन्त्रों के साथ कोई सम्बन्ध न हो, तो उनका विधान करना अनावश्यक है । इससे विदित होता है कि शौनक ऋग्मन्त्रों में इन दैव आदि छन्दों का व्यापार मानता है । देखो—ऋक्प्रातिशाख्य १६।३—१३॥

२—ऋक्प्रातिशाख्य में एक वचन है—

अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम् । १७।२१॥

अर्थात्—पाद आदि की अपेक्षा अक्षरसंख्या छन्दोज्ञान में बलवत्तर साधन है ।

३-कात्यायन ने यद्यपि दैव-आसुर आदि छन्दों का वर्णन सर्वानुक्रमणी में नहीं किया, तथापि वह अक्षरसंख्या के आधार पर यत्र-तत्र छन्दों का विधान करता है । यथा—

---

१. मध्य और चरकाचार्य के स्वरों पर विशेष विचार हमारे "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" निबन्ध 'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा' पृष्ठ १९०-१९२ तक देखिये । तथा "वैदिक स्वरमीमांसा" पृष्ठ ३७-३८ ॥

षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्। ऋक्सर्वा० १।१२०।६॥

अर्थात्— ऋग्वेद १।१२० की छठी ऋचा अक्षर-संख्या से उष्णिक् है।

४— सर्वानुक्रमणी के उक्त वचन की व्याख्या करता हुआ षड्गुरुशिष्य स्पष्ट लिखता है—

'षष्ठ्यृगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पादनीयम्, न तु पादभेदात्।'

षड्गुरुशिष्य ने 'न तु पादभेदात्'=पादभेद-विभाग से नहीं लिखकर सारा विवाद ही मिटा दिया। पादबद्ध मन्त्रों में भी पादविभाग स्वीकार न करना अतिमहत्त्वपूर्ण है।

५—उपनिदानसूत्र सामवेद का है। सामवेद में सब ऋचायें हैं। पुनरपि गार्ग्य ने उपनिदानसूत्र में दैव-आसुर आदि छन्दों का वर्णन किया है। यदि सामवेदस्थ ऋङ्मन्त्रों में इन छन्दों का व्यापार न हो, तो इनका वर्णन करना व्यर्थ है। अतः आचार्य गार्ग्य सामवेदीय ऋङ्मन्त्रों में इसका व्यापार स्वीकार करते हैं, यह सर्वथा व्यक्त है।

६—इतना ही नहीं, गार्ग्य ने सामवेद पूर्वा० ५।२।२।३ के भगो न चित्र मन्त्र का आसुरी-जगती छन्द स्पष्ट लिखा है। उसका सूत्र है—

भगो न चित्र (पू० ५।२।२।३) इति त्रिपदाऽऽसुरी जगती। पृष्ठ १२।

आसुरी गायत्री देखकर किसी को सन्देह न हो कि गार्ग्य ने इसे पादबद्ध माना है अथवा अपादबद्ध, इसलिए उसकी पादसंख्या त्रिपदा का भी साथ ही उल्लेख कर दिया। त्रिपदा के साथ आसुरी जगती का निर्देश होने पर इस बात में कोई सन्देह ही नहीं रहता कि गार्ग्य दैव आसुर छन्दों का सामवेदस्थ ऋङ्मन्त्रों (पादबद्धों) में प्रयोग साधु मानता है।

७—निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित पिङ्गलसूत्र में किसी वेदभाष्यकार भवदेव के कुछ मत टिप्पणियों में उद्धृत हैं। उनमें कई पादबद्ध=ऋङ्मन्त्रों के दैव आदि विभाग के छन्द लिखे हैं। यथा—

क—साम्नी त्रिष्टुप्—महिराधो विश्वजन्यम्। पृष्ठ ९।

ख—आर्ची त्रिष्टुप्—अग्निं नरो। पृष्ठ ९।

ये दोनों मन्त्र क्रमशः ऋग्वेद ६।४७।२५ तथा ७।१।१ में उपलब्ध होते हैं। अतः इनकी पादबद्धता में कोई सन्देह नहीं।

८—बृहत्सर्वानुक्रमणी में अथर्ववेद के शतशः पादबद्ध मन्त्रों के दैव आसुर आदि विभाग के छन्दों का निर्देश किया है। कहीं-कहीं साथ में मन्त्रगत पादसंख्या का भी उल्लेख किया है। हम निदर्शनार्थ तीन-चार विशेष स्थल उपस्थित करते हैं—

क—अथर्व १९।९।१–४ मन्त्र के विषय में लिखा है—

अजैष्माद्या इत्येकादशोषोदेवत्याः, प्रथमाश्चत्वारः प्राजापत्यानुष्टुभः।

अर्थात्—अथर्व १९।९ सूक्त में ग्यारह मन्त्र हैं। उषा देवता है, और आरम्भ के चार मन्त्रों का प्राजापत्याऽनुष्टुप् छन्द है।

ख—अथर्व ७।९७।५-७ के विषय में लिखा है—

यज्ञं यज्ञमिति त्रिपदार्ची भुरिग्गायत्री; एष ते यज्ञ इति त्रिपात् प्राजापत्या बृहती; वषड्ढुतेभ्य इति त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती।

अर्थात्—अथर्व ७।९७ के यज्ञम् (५) मन्त्र का त्रिपदा आर्ची भुरिक् गायत्री छन्द है; एष ते यज्ञ (६) का त्रिपाद् प्राजापत्या बृहती; और वषड्ढुतेभ्यः (७) का त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती।

ग—अथर्व १८।४ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणी में लिखा है—

एकोननवतिश्चैव यमेषु विहिता ऋचः।

अर्थात्—यमसूक्त में ८९ ऋचायें पढ़ी हैं।

पञ्चपटलिका ४।१७ में लिखा है—

एकषष्टिश्च षष्टिश्च सप्ततिस्त्र्यधिकात् परः।
एकोननवतिश्चैव यमेषु विहिता ऋचः॥

अर्थात्—अथर्व के १८ वें काण्ड के यमसूक्तों में क्रमशः प्रथम में ६१, द्वितीय में ६०, तृतीय में ७३ और चौथे में ८९ ऋचायें=पादबद्ध मन्त्र हैं।

हम इन चारों सूक्तों में पठित ऋचाओं के उन कतिपय मन्त्रों का संकेत करते हैं, जिनमें बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने दैव आदि विभाग के छन्दों का निर्देश किया है। यथा—

१—अथर्व १८।१।८, १५ आर्षी पङ्क्ति।
२—अथर्व १८।२।२४ त्रिपदा समविषमा आर्षी गायत्री।

३—अथर्व १८।३।३६ आसुरी अनुष्टुप् ।
४— ,, १८।४।२७ याजुषी गायत्री ।
५— ,, १८।४।६७ द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् ।
६— ,, १८।४।७१ आसुरी अनुष्टुप् ।
७— ,, १८।४।७२–७४ आसुरी पङ्क्ति ।
८— ,, १८।४।७५ आसुरी गायत्री ।
९ — ,, १८।४।८१ प्राजापत्या अनुष्टुप् ।
१०—,, १८।४।८२ साम्नी बृहती ।
११—,, १८।४।८४ साम्नी त्रिष्टुप् ।
१२—,, १८।४।८५ आसुरी बृहती ।

इस से स्पष्ट है कि बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने पादबद्ध ऋङ्मन्त्रों में पाद: से पूर्ववर्त्ती दैव आदि छन्दों का खुलकर प्रयोग किया है ।

महत्त्वपूर्ण—अथर्ववेद के २० वें काण्ड के ऋषि, देवता, छन्द आश्वलायनप्रोक्त सर्वानुक्रमणी के अनुसार लिखे गये हैं। ग्यारहवें पटल के आरम्भ में स्पष्ट लिखा है—

अथाथर्वणे विंशतितमकाण्डस्य सूक्तसंख्या सम्प्रदायात् ऋषिदैवतछन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः खिलान् वर्जयित्वा,

अर्थात्—अथर्ववेद के २० वें काण्ड के सूक्तों की मन्त्रसंख्या सम्प्रदाय (=गुरुपरम्परा) के अनुसार, और ऋषि, देवता, छन्द आश्वलायन के अनुक्रम के अनुसार कहेंगे, खिलों को छोड़कर।

इसलिए बृहत्सर्वानुक्रमणी में २० वें काण्ड में जो भी छन्द लिखे गये हैं, वे सब आश्वलायन के मतानुसार लिखे गये हैं, यह स्पष्ट है ।

अथर्व २०।२।३,४ के विषय में निम्न लेख है—

इन्द्रो ब्रह्मा आर्च्युष्णिक् । देवो द्रविणोदा साम्नी त्रिष्टुप् ।

अर्थात्—'इन्द्रो ब्रह्मा' मन्त्र का आर्ची उष्णिक्, और 'देवो द्रविणोदा' का साम्नी त्रिष्टुप् छन्द है ।

अथर्व० का यह सूक्त अथवा इसके मन्त्र ऋग्वेद की शाखल शाखा में उपलब्ध नहीं होते, आश्वलायन शाखा में अवश्य रहे होंगे । क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने 'खिलों को छोड़कर समस्त काण्ड के मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द आश्वलायनप्रोक्त अनुक्रम अनुसार कहूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है । अथर्व०

का यह सूक्त खिल नहीं है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है (खिलसूक्तों के तो ऋषि, देवता, छन्द लिखे ही नहीं गये)। इससे स्पष्ट है कि आचार्य आश्वलायन भी ऋङ्मन्त्रों में 'पादः' से पूर्ववर्त्ती दैव आदि छन्दों का व्यापार युक्त' मानते हैं।

इस प्रकार हमने पिङ्गल के 'पादः' अधिकार से पूर्ववर्त्ती दैव आदि छन्दों के व्यापार-क्षेत्र की मीमांसा करके, आचार्य शौनक, स्वामी दयानन्द सरस्वती, उपनिदानसूत्रकार गार्ग्य, अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणीकार और आचार्य आश्वलायन के मतों और प्रमाणों को उदधृत करके बताया है कि दैव आदि छन्दों का पादबद्ध ऋङ्मन्त्रों में भी व्यवहार होता है। पूर्वाचार्य ऐसा व्यवहार करते रहे हैं। बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने तो इनका व्यवहार अत्यधिक किया है। अब अगले अध्याय में 'छन्दोभेद के कारण' विषय पर लिखेंगे ॥

—:o:—

सप्तदश अध्याय

छन्दोभेद के कारण

एक ही मन्त्र के समान आनुपूर्वी और वर्णाक्षरों के सर्वथा समान होने पर भी किसी ग्रन्थ में कोई छन्दोनाम लिखा होता है, और किसी ग्रन्थ में कोई दूसरा। इस विप्रतिपत्ति से व्युत्पन्नमति भी सन्देह में पड़ जाते हैं, साधारण जनों का तो कहना ही क्या ? इसलिये हम इस अध्याय में उन कारणों पर प्रकाश डालेंगे, जिनके कारण वर्णाक्षर समान होने पर भी विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न छन्दों का उल्लेख मिलता है।

छन्दोभेद के कई कारण होते हैं। हम यहां चार प्रधान कारणों का वर्णन करते हैं। वे हैं—

१—छन्दोनिर्णय की प्रक्रिया का भेद।

२—मन्त्र-गणना के प्रकार का भेद।

३—मन्त्रगत पादव्यवस्था का भेद।

४—छन्दों के लक्षणों का भेद।

अब हम क्रमशः एक-एक कारण की सोदाहरण व्याख्या करते हैं।

१—प्रक्रियाभेद से छन्दोभेद

हम पूर्व अध्याय में सप्रमाण लिख चुके हैं कि पादबद्ध ऋङ्मन्त्रों के छन्दों का निर्देश दो प्रकार से होता है—केवल अक्षरगणना के आधार पर, और पादव्यवस्था के आधार पर। इसलिये एक ही मन्त्र के छन्दोनिर्देश की इन प्रक्रियाओं के भेद से छन्दोभेद उत्पन्न होता है। यथा—

१—विद्वांसाविद् दुरः (ऋ० १।१२०।२) का छन्द शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य १६।२० में अक्षरगणनानुसार भुरिग्गायत्री ही लिखा है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के व्याख्याता षड्गुरुशिष्य ने भी पृष्ठ ६१ पर अक्षरगणनानुसार भुरिग्गायत्री ही लिखा है। परन्तु वह पृष्ठ ६२ पर पादव्यवस्थानुसार व्यूह से इसका 'उष्णिक्' छन्द लिखता है। कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसका 'ककुप् उष्णिक्' छन्द माना है।

२—नदं व ओदतीनाम् (ऋ० ८।६९।२) तथा मंसीमहि त्वा (ऋ० १०।२६।४) के विषय में आचार्य शौनक ने लिखा है--

पादैरनुष्टुभौ विद्याद् अक्षरैरुष्णिहाविमे। ऋक्प्रा० १६।३२॥

अर्थात्—[उक्त दोनों मन्त्रों को] पादव्यवस्था के अनुसार 'अनुष्टुप्' छन्दवाला जानना चाहिये, और अक्षरगणनानुसार 'उष्णिक्छन्दस्क' हैं।

निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने नदं व ओदतीनाम् (साम पूर्णसंख्या १५१२) का 'उष्णिक छन्द' लिखा है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि छन्दोनिर्देश की अक्षर-गणना और पाद-व्यवस्थारूपी दो प्रक्रियाओं के भेद से एक ही मन्त्र के छन्दोनिर्देश में महान् भेद हो जाता है।

२—मन्त्रगणना के प्रकार-भेद से छन्दोभेद

वेद की आनुपूर्वी और वर्णाक्षर समान होने पर भी मन्त्रगणना के प्रकार में विभिन्नता होने पर छन्दोभेद हो जाता है। यथा—

१—ऋग्वेद में १४० ऋचाएँ ऐसी हैं, जिन्हें नैमित्तिक द्विपदा कहा जाता है। ये ऋचाएं यज्ञकाल में द्विपदारूप से विनियुक्त होती हैं। अतः इन मन्त्रों की संख्या १४० होती है, और उस अवस्था में इनका छन्द द्विपदा होता है। परन्तु अध्ययनकाल में और व्याख्याकाल में दो-दो ऋचाओं को मिलाकर एक ऋचा बनाई जाती है। तदनुसार १४० द्विपदायें ७० चतुष्पदा के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[1] इस प्रकार द्विपदापक्ष में उन का अन्य छन्द होता है, और चतुष्पदापक्ष में अन्य।

---

१. ऋग्वेद की इन १४० नैमित्तिक द्विपदाओं और एतत्सम्बन्धी गणना-प्रकार को भले प्रकार न समझने के कारण वेङ्कटमाधव, सत्यव्रत सामश्रमी, मैकडानल, हरिप्रसाद वैदिकमुनि प्रभृति अनेकों विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋग्गणना में भूलें की हैं। इसलिये उनकी की हुई ऋग्गणना भी परस्पर भिन्न-भिन्न है। हमने नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के गणना-प्रकार को भले प्रकार समझा कर, और किस लेखक ने किस अंश में भूल की इसका दिग्दर्शन करा कर ऋग्वेद की ऋचाओं की द्विपदापक्ष में १०५५२, और चतुष्पदापक्ष में १०४८२ शुद्ध ऋक्संख्या दर्शाई है। इसके परिज्ञान के लिए देखिये—'वैदिक सिद्धान्त-मीमांसा' में हमारा "ऋग्वेद की ऋक्संख्या" निबन्ध (हिन्दी तथा संस्कृत)।

ऋग्वेद का १।६५ सूक्त इसी प्रकार का है। इसके विषय में ऋक्सर्वानुक्रमणी का व्याख्याता षड्गुरुशिष्य लिखता है—

"ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे-द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति। ... समामनन्तीति वचनात् शंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुम्" (ऋ० १।६५) इति द्वैपदमिति शंसने दशर्चम्, आसामध्ययने पञ्चत्वं भवति।' सर्वा० टीका पृष्ठ ७९।

अर्थात् – अध्ययनकाल में दो दो द्विपदाओं को एक ऋचा बनाकर पढ़ा जाता है।...... समामनन्ति पद से स्पष्ट होता है कि शंसन (यज्ञ में) आदि में दो-दो को मिलाकर एक नहीं किया जाता। इसलिये 'पश्वा न तायुम्'(ऋ० १।६५)का सूक्त शंसन में=यज्ञगत उच्चारण में दश ऋचाओंवाला होता है। और इन्हीं को अध्ययनकाल में पांच संख्या हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि पश्वा न तायुम् सूक्त में जब १०ऋचाएं मानी जायेंगी, तब इनका छन्द होगा द्विपदा। और जब ये दो-दो मिलाकर पांच मानी जायेंगी, तब इन चतुष्पदाओं का एक छन्द होगा—पंक्ति।

२—ऋग्वेद में असिक्न्यां यजमानो न होता (ऋ० ४।१७।१५) आदि कई एकपदा ऋचाएं पढ़ी हैं। इनका छन्द सर्वानुक्रमणी में एकपदा विराट् लिखा है।

आचार्य यास्क के मत में ऋग्वेद में केवल एक ही एकपदा ऋक् है। इसके विषय में ऋक्प्रातिशाख्य में शौनक ने लिखा है—

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः।
अन्यत्र वैमद्याः सैका दशिनो मुखतो विराट्॥ १७।४२॥

अर्थात्—यास्क के मत में वैमदी=भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋ० १०।२०।१) के अतिरिक्त कोई एकपदा ऋचा ऋग्वेद में नहीं है। वही दश अक्षरवाली विराट्छन्दस्का सूक्त में पठित है।

इसका भाव यह है कि 'भद्रं नो' इस एक ऋचा को छोड़कर अन्य सब (ऋ० ४।१७।१५; ५।४१।२०; ५।४३।१६) एकपदा ऋचाएं अपने से पूर्ववर्त्ती ऋचाओं का अन्त्यावयव मानी जाती हैं। इस प्रकार जब उक्त एकपदाएं स्वतन्त्ररूप से गिनी जायेंगी, तब इनका और इनसे पूर्ववर्त्ती मन्त्रों का और छन्द होगा। तथा जब यास्क के मत में ये अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोकर पूर्व ऋचा का अवयव बनेंगी, तब इनके छन्द का तो प्रश्न ही नहीं रहता। हां

पूर्ववर्ती चतुष्पदा त्रिष्टुप् पञ्चपदा ऋक् बन जायेगी। उस अवस्था में इनका छन्द होगा पञ्चपदा अतिजगती।

इन दो उदाहरणों से स्पष्ट है कि मन्त्रों के गणना-प्रकार के भेद से छन्दों में भी भेद हो जाता है।

३—पादव्यवस्था के भेद से छन्दोभेद

ऋङ्मन्त्रों में पादव्यवस्था अर्थानुसार होती है। यह हम पूर्व 'छन्दः-शास्त्रों की वेदार्थ में उपयोगिता' अध्याय में विस्तारपूर्वक दर्शा चुके हैं। शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने कहीं-कहीं पादव्यवस्था अर्थानुसार न मानकर वृत्त के अनुरोध से मानी है। हमने उनके द्वारा निर्दिष्ट उदाहरणों में भी अर्थानुसार पादव्यवस्था की उपपत्ति दर्शाकर उनके मत का प्रत्याख्यान भले प्रकार कर दिया है। तदनुसार यह स्थित राद्धान्त है कि ऋङ्मन्त्रों में पाद-व्यवस्था अर्थानुसार होती है।

अर्थानुसार पादव्यवस्था मानने पर द्रष्टा अथवा व्याख्याता की अर्थ-विवक्षा के भेद से पादव्यवस्था में भेद होना स्वाभाविक है। अनेक मन्त्रों में ऐसी परिस्थिति हो सकती है कि एक व्याख्याता किसी पद को पूर्व पाद का अन्त्य पद माने, और दूसरा उसी पद को दूसरे चरण का आदि पद स्वीकार करे। उस अवस्था में पादाक्षरों के न्यूनाधिक होने से छन्दोभेद हो जाता है। हम यहां एक उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करते हैं—

ऋग्वेद १।१६।१ का मन्त्र है—

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥

आचार्य शौनक और कात्यायन ने इस मन्त्र का 'वर्धमाना गायत्री' छंद माना है। तदनुसार उन्होंने त्वमग्ने यज्ञानाम्—होता विश्वेषां हितः चरणविभाग स्वीकृत किये हैं। निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने इसके द्वितीय पाद में पांच अक्षर कहे हैं। तदनुसार इसके त्वमग्ने यज्ञानां होता—विश्वेषां हितः' इस प्रकार चरणविभाग होंगे। इस अवस्था में इस मन्त्र का छन्द होगा शङ्कुमती गायत्री, अथवा पिपीलिकामध्या गायत्री।

इस पर विशेष विचार हम पूर्व पृ० ७७-७८ पर कर चुके हैं। वहीं निदानसूत्र तथा उसके व्याख्याकार तातप्रसाद शास्त्री के उद्धरण लिख चुके हैं। पाठक उन्हें अवश्य देखें।

४—आचार्यों के लक्षणभेद से छन्दो-भेद

प्रायः सभी शास्त्रों में एक तत्त्व समानरूप से उपलब्ध होता है। वह है—संज्ञाभेद और संज्ञीभेद। कहीं पर संज्ञी एक होने पर भी आचार्य विभिन्न संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। यथा व्याकरणशास्त्र में स्वरों को पाणिनि ने अच् संज्ञा मानी है, तो फिट्सूत्रकार ने उसे अप् नाम से स्मरण किया है। पाणिनि किसी वर्ण के अदर्शन के लिए लोप सज्ञा का व्यवहार करता है, तो फिट्सूत्रकार रिफग्। इसी प्रकार कई ऐसे भी स्थल होते हैं, जहां संज्ञी भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु संज्ञा एक जैसी होती है। यथा व्याकरणशास्त्र में पाणिनि 'वृद्ध' संज्ञा का व्यवहार उन शब्दों के लिए करता है, जिनके आदि में आ ऐ औ वर्ण हो। पाणिनि से प्राचीन आचार्य एक अथवा उससे अधिक व्यवधानवाले अपत्यों (सन्तानों) के लिये 'वृद्ध' शब्द का व्यवहार मानते हैं। वही अवस्था छन्दःशास्त्र में भी देखी जाती है। कहीं संज्ञी के समान होने पर संज्ञाभेद उपलब्ध होता है, तो कहीं संज्ञी में भेद होने पर संज्ञा की समानता दिखाई पड़ती हैं। यथा—

संज्ञी की समानता में संज्ञाभेद—(क) पिङ्गल के मत में क्रमशः ८+१२+८+८ अक्षरों के पादवाले छन्द का नाम न्यङ्कुसारिणी है; तो क्रोष्टुकि के मत में स्कन्धोग्रीवी; और यास्क के मत में उरोबृहती (द्र०—पिङ्गलसूत्र ३।२८-३०)।

(ख) पिङ्गल के मत में ५+५+५+५+५ पादाक्षरवाले छन्द का पंक्ति का अवान्तर भेद पदपंक्ति है,तो कात्यायन उसे गायत्री का प्रभेद मानता है।

(ग) शौनक के मत में प्राङ्चि छन्दों के नाम मा,प्रमा,प्रतिमा, उपमा, समा हैं; तो निदानसूत्र के अनुसार उनके नाम कृति, प्रकृति, संकृति, अभिकृति, आकृति; और उपनिदानसूत्र के अनुसार उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा।

(घ) पिङ्गल ने १२+१२+१२ अक्षरोंवाले छन्द का नाम महाबृहती लिखा है; तो ताण्ड्य ने उसके लिए सतोबृहती शब्द का व्यवहार किया है; और कात्यायन उसे ऊर्ध्वबृहती कहता है।

(ङ) पिङ्गल आदि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट द्वितीय और तृतीय सप्तक के जो नाम हैं, निदानसूत्र में उनके दूसरे ही नाम लिखे हैं।

संज्ञा की समानता में संज्ञीभेद—(क) पिङ्गल के मत में महाबृहती छन्द ३६ अक्षरवाले बृहती छन्द का अवान्तरभेद माना गया है, परन्तु ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि में ४४ अक्षरवाले त्रिष्टुप् के अवान्तरभेद का नाम है।

(ख) ताण्ड्य के मत में सतोबृहती छन्द ३६ अक्षरवाले बृहती का अवान्तरभेद है, तो कात्यायन आदि ने यही नाम ४० अक्षरवाले पंक्ति के अवान्तरभेद का रखा है।

इस प्रकार के अनेकों उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। ये सब संज्ञाभेद अथवा संज्ञीभेद हमारे द्वारा पूर्व अध्यायों में विस्तृत छन्दोलक्षण तथा उनके चित्रों से भली प्रकार प्रकट हो जाते हैं। अतः उनका यहाँ पुनर्निर्देश नहीं किया। पाठक उनका इस दृष्टि से अनुशीलन करें।

अन्य दो कारण—छन्दोभेद होने के दो अन्य कारण भी हैं—व्यूह-कल्पना और शाखान्तरों में सन्धि-नियमों की विभिन्नता।

व्यूह—हम एक उदाहरण विद्वांसाविद् दुरः (ऋ० १।१२०।२) का पूर्व लिख चुके हैं। उसका बिना व्यूहकल्पना के भुरिग्गायत्री छन्द होता है, तो व्यूहकल्पना से उसी का उष्णिक् छन्द बन जाता है।

सन्धियों का वैचित्र्य—क्षैप्रसन्धि (यण्सन्धि) और अभिनिहित (पूर्वरूप) के नियम सब शाखाओं में समान नहीं हैं, अतः उनकी विभिन्नता से एक दो अथवा तीन अक्षरों की न्यूनाधिकता होने से छन्दोभेद हो जाता है।

उपसंहार – छन्दोज्ञान के लिए इस अध्याय में निर्दिष्ट छन्दोभेद के कारणों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। किसी भी आचार्य द्वारा प्रतिपादित छन्दोनाम पर विचार करने से पूर्व निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) किस आचार्य ने किस शास्त्र को प्रमाण मानकर छन्दोनामों का निर्देश किया है।

(२) एक शास्त्र का आश्रयण लेने पर भी उसने अक्षरगणनानुसार छन्दोनिर्देश किया है, अथवा पादनियमों के अनुसार।

(३) द्विपदा और एकपदा ऋचाओं में उसने द्विपदा मानकर छन्दोनिर्देश किया है, अथवा चतुष्पदा और एकपदा को पूर्व मन्त्र का अवयव मान कर किया है।

(४) एक ही शास्त्र को प्रमाण मानने पर भी कहीं उसने पूर्वेषा-मनुरोधत: न्याय के अनुसार अन्य लक्षणों के अनुसार तो छन्दोनिर्देश नहीं किया ?

इन सब बातों पर यथाशास्त्र गहराई से अनुशीलन करने पर ही वास्तव में जाना जा सकता है कि उक्त छन्दोनिर्देश शुद्ध है अथवा अशुद्ध । इसके विना किसी के लिए किसी प्रकार की सम्मति प्रकट करना, जहां अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है, वहां उस आचार्य या लेखक के साथ भी अन्याय करना है ।

इस प्रकार इस अध्याय में छन्दोभेद के कारणों पर संक्षेप से विचार किया गया है ॥

—:०:—

अष्टादश अध्याय

ब्राह्मण श्रौत और सर्वानुक्रमणी के छन्दोनिर्देश की अयथार्थता तथा उसका कारण

प्रथमाध्याय[1] के अन्त में हमने छन्द के जो लक्षण उद्धृत किए हैं[2], उनके अनुसार छन्दोनिर्देश का प्रयोजन मन्त्रों वा श्लोकों के अक्षरपरिमाण का बोध कराना है। वैदिक छन्दों में चार-चार अक्षरों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है,[3] यह पूर्व प्रकरणों में निर्दिष्ट छन्दोव्याख्या से स्पष्ट है। अतः जहां मन्त्रों वा श्लोकों[4] में एक दो अक्षरों की न्यूनाधिकता होती है, उसको दर्शाने के लिए तत्तत् छन्दोनाम के साथ निचृद् भुरिक् अथवा विराट् स्वराट् विशेषणों का प्रयोग होता है।[5] परन्तु मन्त्र के जिस छन्दोनाम से उस मन्त्र में श्रुत अक्षरों की वास्तविक संख्या विदित न हो, अर्थात् छन्दोनाम के श्रवण से जितने अक्षरों का बोध हो, उतने अक्षर उस मन्त्र में न हों, वह उस मन्त्र का वास्तविक छन्दोनाम नहीं हो सकता। यह पूर्व विवेचना से स्पष्ट है।

---

१. वैदिक छन्दोमीमांसा के प्रथमाध्याय के अन्त में (पृष्ठ १०)

२. यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः। ऋक्सर्वा० परि० २।६, छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकरमुच्यते। अथर्व० बृहत्सर्वा० पृष्ठ १।

३. द्रष्टव्य—वैदिकछन्दोमीमांसा का अध्याय ६ (पृष्ठ ६२,६५)।

४. अनेक आचार्यों का मत है कि एक दो अक्षरों की न्यूनाधिकता मन्त्रों में ही सम्भव है— लौकिक काव्य में इनका सम्भव नहीं है। 'स्वराडादीनां श्रुतावेव सम्भवः, न काव्ये इति' (अभिनवगुप्त, भरतनाट्य भाग २, पृष्ठ २४४)। जानाश्रयी छन्दोविचितिकार का मत है कि एक दो अक्षरों की न्यूनाधिकता लौकिक काव्यों में भी हो सकती है। उसने निचृत्, विराट् आदि के लौकिक काव्यों से उदाहरण भी दर्शाए हैं। इस विषय की विशद मीमांसा हमने वैदिक छन्दोमीमांसा के अ० १५ में की है।

५. ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ। पिङ्गलसूत्र ३।५९,६०॥ द्रष्टव्य—वैदिक छन्दोमीमांसा अध्याय ७ (पृष्ठ १०१-१०३)।

वैदिक मन्त्रों के छन्दोज्ञान के लिए अनेक आचार्यों ने अनुक्रमणीसंज्ञक ग्रन्थों का प्रवचन किया है। इन ग्रन्थों का मुख्य आधार ब्राह्मणग्रन्थ और श्रौतसूत्र हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में याज्ञिक विनियोग के प्रसङ्ग से स्थान-स्थान पर मन्त्रों के छन्दों का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

१'.....यो व्यतीँरफणायत्' इति प्रज्ञाता अनुष्टुप: शंसति। ऐ० ब्रा० ४।४॥

२—'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' इति त्रैष्टुभम्...।ऐ० ब्रा० ४।६॥

३—'नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षस'इति जागतम्...।ऐ० ब्रा० ४।६॥

४—'इन्द्र क्रतुं न आभर' इत्यैन्द्रं प्रगाथं शंसति। ऐ० ब्रा० ४।१०॥

५—'उषो भद्रेभिः' इत्यानुष्टुभम्। आश्व० श्रौत ४।१४॥

६—'प्रत्यु अदर्शि सह वामेन' इति बार्हतम्। आश्व० श्रौत ४।१४॥

इसी प्रकार अन्य ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में भी छन्दोनिर्देश द्वारा तत्तत् कर्म में मन्त्रों का विनियोग दर्शाया है।

ब्राह्मण आदि निर्दिष्ट छन्दों का बहुत्र असामञ्जस्य

ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों और अनुक्रमणियों में मन्त्रों के जिन छन्दों का निर्देश किया गया है, उनमें से अनेक छन्दों का मन्त्रों की वास्तविक अक्षर-संख्या के साथ सामञ्जस्य उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् इन ग्रन्थों में निर्दिष्ट छन्दोनाम के श्रवण से जितने अक्षरों का बोध होता है, मन्त्र में उतने अक्षर नहीं होते।

व्यूह आदि की कल्पना—उक्त असामञ्जस्य को दूर करने के लिये छन्दःशास्त्रकारों ने व्यूह तथा इय-उव भाव की कल्पना की।[1] परन्तु इस कल्पना को स्वीकार कर लेने पर भी उक्त असामञ्जस्य पूर्णतया दूर नहीं होता। शतशः मन्त्रों के छन्दोनिर्देश ऐसे रह जाते हैं, जिनमें व्यूह आदि की कल्पना कर लेने पर भी न्यूनाक्षरों की पूर्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, शतशः ऐसे भी मन्त्र हैं, जिसमें व्यूह अथवा इय-उव भाव-योग्य कोई वर्ण ही नहीं होता। उनके अक्षरों की पूर्ति की तो कथंचित् सम्भावना ही नहीं हो सकती।

---

१. व्यूह तथा इय-उव भाव की कल्पना क्यों की जाती है, और कहां पर इनकी कल्पना की जाती है और कहां पर नहीं, इन विषयों की मीमांसा के लिये इस ग्रन्थ का ७ वां अध्याय पृष्ठ (१०७-१११) देखना चाहिये।

जिज्ञासा—ऐसी अवस्था में प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों और अनुक्रमणियों के प्रवक्ताओं ने तत्तत् मन्त्रों के साथ ऐसे छन्दोनामों का निर्देश ही क्यों किया ?

समाधान—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ही हमारा अगला प्रयास है।

अब हम इस विषय को स्पष्ट करने के लिये ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों तथा सर्वानुक्रमणियों के कतिपय ऐसे वचन उद्धृत करते हैं, जिनसे उक्त ग्रन्थों के छन्दोनिर्देश और उन मन्त्रों की अक्षरसंख्या में परस्पर विद्यमान असामञ्जस्य भले प्रकार स्पष्ट हो जाए।

ब्राह्मणगत छन्दोनिर्देश का असामञ्जस्य—ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट छन्द वास्तविकता से बहुत दूर हैं। इसका स्पष्टीकरण करने के लिसे हम तीन उदाहरण उपस्थित करते हैं—

क—२९ अक्षरों की अनुष्टुप्—ऐतरेय ब्राह्मण ६।२६ में लिखा है—

'सुतासो मधुमत्तमाः' इति पावमानीः शंसति······ता अनुष्टुभो भवन्ति'।

अर्थात्—'सुतासो मधुमत्तमाः' (ऋ० ९।१०१।४) आदि पवमान देवतावाली ऋचाओं का शंसन करता है।[1] ······वे अनुष्टुप् [छन्दवाली] होती हैं।

इस वचन में जिन पावमानी अनुष्टुप्छन्दस्क ऋचाओं का संकेत है, उनमें दसवीं ऋचा इस प्रकार है—

---

१. यज्ञ-प्रकरण में 'शंसति' और 'स्तौति' क्रिया का प्रायः निर्देश मिलता है। इसी प्रकार शस्त्र और स्तोत्र शब्दों का भी व्यवहार देखा जाता है। इनका भेद इस प्रकार जानना चाहिये—

शस्त्र अथवा शंसन—गानरहित मन्त्र द्वारा देवता के गुणों का वर्णन करना।

स्तोत्र अथवा स्तवन—गानसहित मन्त्र द्वारा देवता के गुणों का वर्णन करना।

(अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्; प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्)।

सोमाः पवन्त इन्दवो (१) ऽस्मभ्यं गातुवित्तमा (२)।
मित्राः सुवाना अरेपसः (३) स्वाध्यः स्वर्विदः (४)॥६।१०१।१०॥

इस ऋचा के चतुर्थ पाद में केवल पांच अक्षर हैं। अतः इस मन्त्र में ८+८+८+५=२९ अक्षर ही होते हैं।

छन्दःपरिवर्तन की सीमा—वैदिक छन्दःशास्त्र का सिद्धान्त है कि अनुष्टुप् में ३२ अक्षर होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और छन्दःशास्त्र के प्रवक्ताओं का कथन है कि छन्दों में दो अक्षरों तक न्यूनता वा अधिकता होने पर छन्द परिवर्तित नहीं होता।[1] अतः दो से अधिक अक्षरों की न्यूनता अथवा अधिकता में छन्द अवश्य बदल जाता है, यह स्पष्ट है। इस नियम के अनुसार सोमाः पवन्तः मंत्र में २९ अक्षर (३ अक्षर न्यून) होने से इसका अनुष्टुप् छन्द नहीं हो सकता। उसे एकाक्षर-अधिक "उष्णिक्" मानना होगा।

यदि कहा जाए कि किसी छन्दःशास्त्र-प्रवक्ता ने ८+८+८+५। पादाक्षरों का कोई उष्णिक् छन्द नहीं दर्शाया, तो यह कहना भी व्यर्थ है। लक्षणकारों को लक्ष्य के अनुसार लक्षण बनाने पड़ते हैं। इसलिये यदि वेद में ८+८+८+५=२९अक्षरों का कोई उष्णिक् है, तो शास्त्रकारों को उसका प्रतिपादन करना ही पड़ेगा। चाहे वे उसका प्रतिपादन साक्षात्‌रूप में करें, चाहे पाणिनीय शास्त्र के व्यत्ययो बहुलम्[2] (अष्टा० ३।१।८५) के समान असाक्षात्‌रूप में। वस्तुस्थिति तो यह है कि छन्दःशास्त्रकारों ने एकस्मिन् पञ्चके छन्दः शङ्कुमती[3] सामान्य नियम द्वारा उक्त मन्त्र में विद्यमान शङ्कुमती उष्णिक् छन्द का साक्षात् विधान किया है। अथवा उत्तरार्ध को १३ अक्षर का एक पाद मानकर इसका छन्द भुरिक् परोष्णिक् होगा।

यदि कोई कहे कि सोमाः पवन्तः मंत्र में इन्दवोऽस्मभ्यं में व्यूह(सन्धि-विच्छेद) से एकाक्षर की वृद्धि हो जायेगी, उस अवस्था में इसका अनुष्टुप् छन्द उपपन्न हो सकता है। इसलिये हम एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जहां व्यूह वा इय उव भाव की कल्पना करने पर भी अक्षरसंख्या की पूर्ति नहीं होती।

---

१. न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्। ताण्ड्य१२।१३।१७; न ह्येकाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति, न द्वाभ्याम्। कौ० ब्रा० २७।१॥

२. पाणिनि के इस सूत्र का वास्तविक रहस्य समझने के लिये हमारे 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रन्थ का नवम अध्याय देखना चाहिये।

३. पिङ्गलसूत्र ३।५५॥ इसी प्रकार अन्याचार्यों ने भी माना है।

ख—२७ अक्षरों को अनुष्टुप्—ऐतरेय ब्राह्मण ४।४ में लिखा है—

प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्, अर्चत प्रार्चत यो व्यतीरफणायद् इति, प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति ।

अर्थात्—प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम् (ऋ० ८।६९।१); अर्चत प्रार्चत (८।६९।८); यो व्यतीरफणायत् (८।६९।१३) प्रतीकवाले प्रसिद्ध अनुष्टुप्छन्दस्क तृचों[1] का शंसन करे ।

इसमें प्रथम तृच का द्वितीय मंत्र इस प्रकार है—

नदं व ओदतीनां (१) नदं योयुवतीनाम् (२) ।
पतिं वो अघ्न्यानां (३) धेनूनामिषुध्यसि (४)।।

इस ऋचा में क्रमशः ७+७+६+७ अक्षरों के चार पाद हैं, अर्थात् इसमें केवल २७ अक्षर हैं । अनुष्टुप में ३२ अक्षर होने चाहियें । यहां पांच अक्षरों की न्यूनता है, अर्थात् न्यूनातिन्यून ३० संख्या से भी तीन अक्षर न्यून हैं । अतः इसका त्रिष्टुप् छन्द कथंचिद् उपपन्न नहीं हो सकता (विशेष आगे देखें) ।

व्यूह आदि भी सहायक नहीं—यह ऐसा मन्त्र है कि इसमें व्यूह आदि द्वारा अक्षरसंख्या बढ़ाकर भी किसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द नहीं माना जा सकता । क्योंकि इस ऋचा में कोई सन्धि ही नहीं । इसलिये व्यूह (=सन्धि-विच्छेद) की प्राप्ति ही शशश्रृङ्गवत् असम्भव है । हां, कतिपय आचार्यों के मतानुसार[2] अघ्न्यानां और इषुध्यति पदों में कथंचित् इयभाव द्वारा अघ्नियानां—इषुधियति की कल्पना करके दो अक्षर बढ़ाये जा सकते हैं । पुनरपि अक्षरसंख्या २९ ही होती है । पूर्वनिर्दिष्ट नियम के अनुसार ३० अक्षर से न्यून का अनुष्टुप् छन्द नहीं हो सकता ।[3]

---

१. तीन ऋचाओं के समूह को 'तृच' कहते हैं ।

२. अनेक आचार्य ऐसे स्थानों पर इय-उवभाव की कल्पना नहीं करते । इसके लिए इस ग्रन्थ का 'व्यूह तथा इय उव-भाव प्रकल्पना' प्रकरण (पृ० १०७-१११) देखना चाहिये ।

३. शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य १६।३२ में ऋ० १०।२६।४ का पादानुसार अनुष्टुप् छन्द दर्शाया है । परन्तु इस मन्त्र में भी केवल १७ अक्षर हैं, और केवल 'चाधरम्' एक ऐसी सन्धि है, जिसका व्यूह करने पर एकाक्षर की वृद्धि हो सकती है । इय उव भाव करने योग्य कोई य-व नहीं हैं । अतः यहां सवृद्धिक २८ अक्षर के मन्त्र का अनुष्टुप् छन्द लिखना अयुक्त है ।

ग—३९ अक्षर की त्रिष्टुप्—ऋग्वेद ५।१९।५ में एक मन्त्र है—
क्रीडन् नो रश्म आभुवः (१) संभस्मना वायुना वेविदानः (२)।
ता अस्य सन् धृषजो न तिग्माः(३)सुशंसिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः (४)॥

इस ऋचा में क्रमशः ८+११+१०+१० अक्षरों के चार पाद हैं, अर्थात् ३९ अक्षर हैं। त्रिष्टुप् में ४४ अक्षर होने चाहिएं। ऋक्प्रातिशाख्य १६।६९ की व्याख्या में उव्वट ने इस पांच अक्षर न्यून ऋचा का भी त्रिष्टुप् छन्द माना है। उव्वट ने इस कल्पना के लिए जो प्राचीन वचन उद्धृत किया है, उसमें स्पष्ट लिखा है—

वहूना अपि ता ज्ञेयास्त्रिष्टुभो ब्राह्मणं तथा।

अर्थात्— ब्राह्मणवचन के अनुसार बहुत अक्षरों से न्यून ऋचा को भी त्रिष्टुप् मानना चाहिये।

इस अभिप्राय का ब्राह्मण-वचन अभी तक हमारी दृष्टि में नहीं आया। परन्तु उव्वट द्वारा उद्धृत वचन से यह स्पष्ट है कि इस पाँच अक्षर न्यून (३९ अक्षरों की) ऋचा का किसी ब्राह्मण में त्रिष्टुप् छन्द माना गया था।

व्यूह आदि की अगति—यह ऋचा भी ऐसी है कि इसमें व्यूह की कहीं सम्भावना भी नहीं हो सकती। कदि कथंचित् वक्ष्यः में इय-भाव की कल्पना भी करें, तब भी चालीस अक्षर ही होंगे। अतः मुख्य त्रिष्टुप् छन्द से चार अक्षर न्यून, और ४१ अक्षर के काल्पनिक विराड्रूप त्रिष्टुप्भेद से भी एक अक्षर न्यून ही रहता है।

ख और ग भाग में उद्धृत मन्त्र के छन्दों की मीमांसा हम आगे विस्तार से करेंगे। यहां संकेत-मात्र किया है।

उपर्युक्त विवेचना से हस्तामलकवत् स्पष्ट है कि ब्राह्मण-प्रवक्ता का २९ तथा २७ अक्षरोंवाले मन्त्र के लिए अनुष्टुप् छन्द का, और ३९ अक्षरवाले मन्त्र के लिए त्रिष्टुप् छन्द का व्यवहार गौण अथवा काल्पनिक ही कहा जा सकता है। इन्हें तत्तत् मन्त्रों का वास्तविक छन्द किसी अवस्था में नहीं माना जा सकता।

श्रौतसूत्रगत छन्दोनिर्देश का असामञ्जस्य—श्रौतसूत्रों में जो छन्दोनिर्देश उपलब्ध होता है, वह भी अनेक स्थानों पर वास्तविकता से बहुत दूर है। यथा—

आश्वलायन श्रौत ४।१५ में लिखा है—
अगन्म महातारिष्मेळे द्यावापृथिवी इति जागतम्।

अर्थात्—अगन्म महा (ऋ० ७।१२।१), अतारिष्म (ऋ० ७।७३।१); तथा ईळे द्यावापृथिवी (ऋ० १।११२।१) प्रतीकवाले सूक्तों का जगती छन्द है ।

इस निर्देश के अनुसार ईळे द्यावापृथिवी (१।११२) के सभी मन्त्रों का जगती छन्द कहा है । परन्तु इस सूक्त का दशम मन्त्र इस प्रकार है—
याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं(१)सहस्रमीह्ळ आजावजिन्वतम्(२)।
याभिर्वशमश्व्यं प्रेणिमावतं(३)ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्(४) ॥

इसमें ११+११+११+१२=४५ अक्षर हैं । पैंतालीस अक्षर का भुरिक् त्रिष्टुप् होता है । यहां तीन अक्षरों की न्यूनता होने से पूर्वनिर्दिष्ट नियम के अनुसार इसे जगती नहीं कहा जा सकता । अतः श्रौतसूत्रकार का इसे जगती कहना (प्रकरणानुरोध से) गौण ही है ।

व्यूह आदि से पूरित अक्षरसंख्यानुसारी छन्द गौण—जिस मन्त्र में निर्दिष्ट छन्द की अक्षरसंख्या पूर्ण न हो, उसकी पूर्ति के लिए छन्दःशास्त्रकार व्यूह तथा तथा इय-उव भाव की कल्पना का विधान करते हैं । परन्तु इनके द्वारा अक्षरसंख्या की पूर्ति करके जिस छन्द की उपपत्ति की जाती है, वह छन्द वस्तुतः गौण होता है, मुख्य नहीं माना जाता । अतएव व्यूह आदि की कल्पना सर्वत्र नहीं की जाती । केवल वहीं की जाती है, जहां अक्षरसंख्या न्यून हो । यदि व्यूह आदि से बढ़ाई गई अक्षरसंख्या वास्तविक मानी जाये, तो उसका सर्वत्र प्रयोग होना चाहिए ।

व्याकरणशास्त्र में भी कई नियम हैं, जो केवल इष्टसिद्धिमात्र के लिए कल्पित कर लिए गये हैं । यथा—

योगविभागादिष्टसिद्धिः ।
ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ।

अर्थात्—पाणिनीय सूत्रों के योगविभाग अथवा ज्ञापक से केवल इष्ट प्रयोगों की सिद्धि कर लेनी चाहिये । उनका सर्वत्र आश्रयण नहीं करना चाहिए । अर्थात् योगविभाग और ज्ञापक आदि गौण नियम हैं ।

इसी प्रकार छन्दःशास्त्र में व्यूह आदि की स्थिति है । इनके द्वारा तो ब्राह्मण आदि में उक्त छन्दोनाम की सिद्धिमात्र की जाती है । इनके द्वारा परिवर्धित अक्षर न सर्वत्र अक्षरगणना में गिने जाते हैं, न इनका उच्चारण ही होता है । । अतः व्यूह आदि द्वारा उपपादित छन्द वस्तुतः गौण छन्द ही हैं ।

मुख्य छन्द तो वही कहा जा सकता है, जिसके नाम-श्रवण से मन्त्र वा श्लोक की वास्तविक अक्षरसंख्या का बोध हो।

श्रौतसूत्र और सर्वानुक्रमणी में विरोध—यद्यपि सर्वानुक्रमसूत्रकारों ने यज्ञकार्य की सिद्धि के लिए ही वेद के ऋषि देवता और छन्दों का विधान किया है, और इसी कारण उन्होंने ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों का प्रायः अनुसरण किया है, परन्तु कई स्थल ऐसे भी हैं, जिनमें परस्पर विरोध भी उपलब्ध होता है। यथा—

आश्वलायन के पूर्व उद्धृत वचन के अनुसार ऋग्वेद ७।१२,७३ सूक्त जगती छन्दवाले हैं। परन्तु कात्यायन सर्वानुक्रमणी में इनका त्रिष्टुप् छन्द माना है[1]। यहां दोनों का विरोध प्रत्यक्ष है। वस्तुतः कात्यायन का इन सूक्तों का त्रिष्टुप् छन्द मानना सत्य के अधिक निकट है।

न जागती, न त्रैष्टुभी—ऋग्वेद ७।१२ का छन्द आश्वलायन के मत में जगती है, और कात्यायन के मत में त्रिष्टुप्, यह पूर्व कह चुके। परन्तु इसी सूक्त की तीसरी ऋचा ऐसी है, जिसका त्रिष्टुप् छन्द ही उपपन्न नहीं हो सकता, जगती की कथा तो बहुत दूर की बात है। ऋक् इस प्रकार है—

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने (१) त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः (२)।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु (३) यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (४)॥

इन चारों पादों में दस-दस अक्षर हैं। अतः यह ४० अक्षरों के कारण पङ्क्ति छन्दवाली है। इसमें क्षैप्र आदि सन्धि का सर्वथा अभाव होने से व्यूह द्वारा अक्षरवृद्धि का भी संभव नहीं। अतः इसका त्रिष्टुप् छन्द ही उपपन्न नहीं होता। तब इसका जगती छन्द मानना सर्वथा चिन्त्य है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट अनेक छन्द वास्तविकता से बहुत दूर हैं।[2]

---

१. देखिए—इन्हीं सूक्तों के सूत्र, तथा 'अनादेशे इन्द्रो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः' परिभाषासूत्र।

२. सायण ने ऋ० १।५७ के आरम्भ में आश्वलायन का 'सर्वाः ककुभः प्र मंहिष्ठायोदघृतः (६।१) वचन उद्धृत किया है। तदनुसार ऋ० १।५७ तथा १०।६८ का ककुप् छन्द है। हमारे पास सम्प्रति श्रौत ग्रन्थ नहीं है। अतः इसकी विशेष विवेचना करने में असमर्थ हैं। छन्दःशास्त्रों के अनुसार 'ककुप्' उष्णिक् का भेद है। कात्यायन ने इनके क्रमशः जगती और त्रिष्टुप् छन्द माने हैं।

सर्वानुक्रमणीनिर्दिष्ट छन्दों का असामञ्जस्य—कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी शतशः मन्त्रों के ऐसे छन्द निर्दिष्ट हैं, जो उनके वास्तविक छन्द नहीं हैं। यथा—

क—ऋग्वेद १।१२० का दूसरा मन्त्र है—

विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेद्(१) अविद्वान् इत्थापरो अचेताः (२)।
नु चिन्नु मर्ते अक्रौ (३)॥

इस मन्त्र में ८+१०+७=२५ अक्षर हैं। कात्यायन ने इसका ककुप् छन्द लिखा है।[1] कात्यायन के मतानुसार ककुप् उष्णिक् का भेद है।[2] उष्णिक् २८ अक्षरों का होता है। यदि इसमें २६ अक्षर होते, तो यह विराट् उष्णिक् माना जा सकता था। छन्दःशास्त्र के नियमानुसार २५ अक्षर होने से इसका छन्द भुरिग्गायत्री होगा, उष्णिक् नहीं। ध्यान रहे कि इसमें कोई व्यूहनीय सन्धि भी नहीं है। इसलिए यह भुरिग्गायत्री हो है, उष्णिक् नहीं।[3] शौनक ने तो इसी मन्त्र को लक्ष्य में रखकर एक विशिष्ट प्रकार की भुरिग्-गायत्री का लक्षण लिखा है—

अष्टको दशकः सप्ती विद्वांसाविति सा भुरिक ॥ १६।२०॥

अर्थात् क्रमशः ८+१०+७ (=२५) अक्षरों से युक्त 'विद्वांसाविद्' ऋचा का भुरिग्गायत्री छन्द है।

ऐसा ही वेङ्कट माधव ने भी माना है। वह लिखता है—

'विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेद्'गायत्री सा भुरिक् स्मता।

छन्दोऽनु० पृष्ठ ३०।

ख—ऋग्वेद ८।४८ का दसवां मन्त्र है—

ऋदूदरेण सख्या सचेय (१) यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः (२)।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे (३) तस्मा इन्द्रं प्रति रमेम्यायुः (४)॥

इस ऋचा में क्रमशः १०+१०+९+१०=३९ अक्षर हैं। कात्यायन ने इसका त्रिष्टप् छन्द लिखा है।[4] त्रिष्टुप् में ४४ अक्षर होते हैं। न्यूनातिन्यून

---

१. का राधद् ·····द्वितीया ककुप्··· । सर्वा० १।१२०॥

२. द्वितीयमुष्णिक्, त्रिपदान्त्यो द्वादशकः। ········ मध्यश्चेत् ककुप्। सर्वा० ५।१—३॥

३. इस मन्त्र के विषय में सर्वानुक्रमणी के व्याख्याता षड्गुरुशिष्य ने जो कुछ लिखा है, उस पर विशेष विचार आगे किया जाएगा।

४. देखो—इसी सूक्त का सूत्र, तथा 'अनादेश इन्द्रो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः' परिभाषा सूत्र।

४२ अक्षर तो अवश्य होने चाहिएँ, परन्तु मन्त्र में हैं केवल ३९ अक्षर। भला पांच अक्षर न्यून मन्त्र का त्रिष्टुप् छन्द कैसे हो सकता है?

कात्यायन का स्ववचन-विरोध—आचार्य कात्यायन ने एक नियम लिखा है—

पञ्चमं पंक्तिः पञ्चपदा। अथ चतुष्पदा। विराड् दशकैः। ऋक्सर्वा० परि० ९।१—३॥

अर्थात्—पञ्चम पंक्ति छन्द पांच पाद का होता है। अब चतुष्पदा पंक्ति का वर्णन करते हैं—दस-दस अक्षरों के पादवाली 'विराट् पंक्ति' कहाती है।

इस लक्षण के अनुसार १०+१०+९+१०+(=३९) पादाक्षरवाले उक्त मन्त्र का निचृद् विराट् पङ्क्ति छन्द होना चाहिये, न कि त्रिष्टुप्।

प्रकरण का अनुरोध अनैकान्तिक—यदि यह कहा जाए कि त्रिष्टुप् का प्रकरण होने से इस ३९ अक्षरों के मन्त्र में व्यूह द्वारा शेष अक्षरों की पूर्ति कर ली जाएगी, सो यह कथन भी अनैकान्तिक है। छन्दःशास्त्रकारों का सर्वसम्मत नियम इतना ही है कि जिस मन्त्र में दो अक्षर न्यून हों, उसमें प्रकरणानुसारी विराट् अथवा स्वराट् माना जाता है।[1] तदनुसार यदि इस मन्त्र में ४२ अक्षर होते, तो यह प्रकरण के अनुरोध से विराट् त्रिष्टुप् माना जा सकता था। चार-चार पांच-पांच अक्षरों की न्यूनता में भी प्रकरण के अनुरोध से प्राकरणिक छन्द की कल्पना करना नियमविरुद्ध है।

इतना ही नहीं, कात्यायनीय छन्द किन्हीं निश्चित नियमों पर भी आधृत नहीं हैं। यदि वे वस्तुतः किन्हीं नियत सिद्धान्तों पर आधृत होते, तो इसी सूक्त की ५वीं ऋचा में ४६ अक्षर होने से उसका प्रकरणानुसारी 'स्वराट् त्रिष्टुप्' छन्द लिखना चाहिए था, परन्तु लिखा है जगती। अतः जब कात्यायन स्वयं प्राकरणिक छन्द की सम्यग् उपपत्ति होने पर भी प्रकरण की उपेक्षा करता है, तब उसके छन्दों की सिद्धि के लिए प्रकरण की दुहाई देना सर्वथा चिन्त्य है।

ऋक्प्रातिशाख्य निर्दिष्ट छन्दों का असामञ्जस्य—शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में ऋक्छन्दों के लक्षण और उदाहरण विस्तार से दर्शाए हैं। उनमें शौनक ने भी अनेक स्थानों पर ऐसे छन्दों का उल्लेख किया है, जो उनके वास्तविक छन्दों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रखते। यथा—

---

१. विराजस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विषये स्थिताः। स्वराज एवं पूर्वस्य याः काश्चैवं गता ऋचः॥ ऋक्प्राति० १७।३॥

इस पर उव्वट लिखता है—यथा षड्विंशत्यक्षरा ऋचो गायत्रीप्राये [सूक्ते] स्वराजो गायत्र्यो भवन्ति, उष्णिक्प्राये विराज उष्णिहो भवन्ति।

शौनक ने 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' का लक्षण इस प्रकार दर्शाया है—

त्रयश्चैकादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः परः।
विराड्रूपा ह नामैषा त्रिष्टुम्नाक्षरसम्पदा ॥१६।६६॥

अर्थात्—जिसके तीन पादों में ग्यारह-ग्यारह अक्षर हों, और एक पाद में आठ अक्षर (११+११+११+८=४१) हों, वह 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' कहाती है।

इस लक्षण का शौनक ने स्वयं कोई उदाहरण नहीं दिया। उव्वट ने उक्त सूत्र की व्याख्या में क्रीडन्नो रश्म आभुवः (ऋ० ५।१९।५) का मन्त्र उद्धृत किया है। तदनुसार इस मन्त्र में ४१ अक्षर होने चाहिएं, पर हैं ३९ ही।

प्रथम तो ४१ अक्षरवाले भुरिक् पङ्क्ति का विराड्रूपा त्रिष्टुप् नाम रखना ही चिन्त्य है। दूसरा उव्वट द्वारा उद्धृत उदाहरण तो सर्वथा ही असंगत है। क्योंकि उक्त मन्त्र में केवल ३९ अक्षर ही हैं।[1]

कात्यायन ने भी क्रीडन्नो मन्त्र का 'विराड्रूपा त्रिष्टुप्' छन्द ही लिखा है। परन्तु कात्यायन ने भी यह नहीं देखा कि इस मन्त्र में कोई भी ऐसी सन्धि आदि नहीं है, जिसके व्यूह आदि द्वारा न्यूनातिन्यून विराड्रूपा के लक्षणोक्त ४१ अक्षरों की पूर्ति सम्भव हो।

वेङ्कट माधव असहमत—सम्भवतः इसी कारण वेङ्कट माधव ने क्रीडन्नो मन्त्र के विराड्रूपा त्रिष्टुप् छन्द से असन्तुष्ट होकर उक्त छन्द का उदाहरण तुभ्यं श्च्योतन्त्यध्रिगो (ऋ० ३।२१।४) दिया है।

शौनक और कात्यायन का विरोध - आचार्य शौनक और कात्यायन दोनों ने ऋग्वेद के छन्दोनिर्देश का प्रयास किया है। दोनों में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी है। परन्तु इन दोनों के छन्दोनिर्देश में बहुत स्थानों पर परस्पर भिन्नता उपलब्ध होती है। यथा—

शौनक ने ३२ अक्षरवाले उपेदमुपपर्चनम् (ऋ० ६।२८।८); तथा आहार्षं त्वा विदम् (ऋ० १०।१६१।१५) का बृहती छन्द लिखा है, और इनके प्रत्येक पाद में व्यूह करके नवाक्षर की सम्पत्ति करने का विधान किया है—

द्वयोश्चोपेदमाहार्षं सर्वे व्यूहे नवाक्षराः। १६।५१॥

---

१. इस मन्त्र के विषय में हम पूर्व भी लिख चुके हैं। उसका भी यहां ध्यान रखना लाभदायक होगा।

इसकी व्याख्या में उव्वट ने बृहत्येव लिखकर, इनका बृहती छन्द ही है, यह निश्चयात्मक घोषणा कर दी।[1] परन्तु कात्यायन अपनी सर्वानुक्रमणी में इन दोनों का छन्द अनुष्टुप् मानता है।[2] सम्भवतः इसी आपत्ति को देखकर वेङ्कटमाधव ने उक्त छन्द के उदाहरण में तन्त्वा वयं पितो (ऋ० १। १८७।११) मन्त्र उद्धृत किया है।[3] इस मन्त्र में ३४ अक्षर हैं। इसमें व्यूह द्वारा दो अक्षरों की पूर्ति हो सकती है। अतः वेङ्कट का उदाहरण कुछ ठीक हो सकता है। कात्यायन ने तन्त्वा मन्त्र में ३४ अक्षर होने से इसके अनुष्टुप् और बृहती दोनों छन्द लिखे हैं।[4]

छन्दोनिर्देशों में स्वर-दोष

ब्राह्मण श्रौत और सर्वानुक्रम आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट छन्दों का छन्दः-शास्त्रानुसार असामञ्जस्य भली प्रकार दर्शा चुके हैं। अब हम उक्त ग्रन्थों में निर्दिष्ट अनेक छन्दों की अयुक्तता में एक ऐसा हेतु उपस्थित करते हैं, जिसका कोई समाधान नहीं हो सकता। वह है—स्वर-दोष।

उदात्त आदि स्वर मन्त्रों के अविभाज्य अङ्ग हैं। उनके विना मन्त्र का मन्त्रत्व ही नष्ट हो जाता है। इसलिये स्वरशास्त्र की कथंचित् भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

स्वरशास्त्र[5] का एक निरपवाद नियम— स्वर-शास्त्र-सम्बन्धी जो नियम पाणिनि ने दर्शाए हैं, उनमें अनेक नियम निरपवाद हैं। उनमें एक नियम यह भी है कि पाद के आरम्भ में युष्मद्-अस्मद् को ते मे आदि अनुदात्त

---

१. निदानसूत्रकार ने भी 'उपेदमुपपर्चनम्' का 'बृहती' छन्द माना है। वह लिखता है—'अथापि चत्वारो नवाक्षराः इति उदाहरन्ति—उपेदमुपपर्चनम् इति (पृष्ठ ४)। लाट्या० श्रौत ३।३।४ भी द्रष्टव्य है।

२. अन्त्याऽनुष्टुप्...(ऋक्सर्वा० ६।२८) राजयक्ष्मघ्न्यमन्त्यानुष्टुप्। ऋक्सर्वा० (१०।१६१)।

३. द्र०—छन्दोऽनुक्रमणी, पृष्ठ ३६।

४. ... पञ्चमाद्याश्च तिस्रोऽनुष्टुभोऽन्त्या च बृहती वा। ऋक्सर्वा० १।१८७॥

५. स्वरशास्त्र की गम्भीर विवेचना, उदात्त आदि स्वर का प्रयोजन, स्वरशास्त्र की उपेक्षा से होनेवाले दुष्परिणामों के परिज्ञान के लिए हमारा 'वैदिक-स्वरमीमांसा' नामक अभिनव ग्रन्थ देखना चाहिए।

आदेश, तथा क्रिया और सम्बोधन का सर्व-अनुदात्तत्व कभी नहीं होता।[1] अब हम कतिपय ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाएगा कि अनेक छन्दःशास्त्र-प्रवक्ताओं और मन्त्रों के छन्दो-निर्देशक आचार्यों ने स्वर-शास्त्र के उक्त-निरपवाद नियम का भी पूर्ण परिपालन नहीं किया। इसलिए उनके द्वारा निर्दिष्ट अनेक छन्दों के अनुसार पाद के आरम्भ में ते मे आदेश, क्रिया और सम्बोधन का सर्वानुदात्तत्व उपलब्ध होता है।

पाद-विच्छेद में वैषम्य—शौनक और कात्यायन आदि आचार्यों के छन्दोनिर्देशों में केवल स्वरदोष ही नहीं, पादविच्छेद का वैषम्य भी बहुत्र उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो यह वैषम्य एक आचार्य द्वारा निर्दिष्ट समानश्रुतिवाली ऋक् अथवा अर्धर्क् के पाद-विच्छेद में भी देखा जाता है। यदि छन्दोनिर्देशक आचार्य पाद-विच्छेद में स्वरशास्त्र के उक्त निरपवाद नियम का ध्यान रखते, तो पाद-विच्छेदसम्बन्धी वैषम्य बहुत सीमा तक दूर हो सकता था।

अब हम शौनक तथा कात्यायन आदि आचार्यों द्वारा पादविच्छेद में बरती गई स्वरशास्त्र की उपेक्षा और उनके पादविच्छेदों की विषमता के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

शौनक द्वारा स्वरशास्त्र की उपेक्षा—निस्सन्देह आचार्य शौनक ने कात्यायन की अपेक्षा स्वरशास्त्र का अधिक ध्यान रखा है। इसलिये उसने सम्पूर्ण ऋग्वेद में ९ पदों में ही स्वरशास्त्र, तथा स्वघोषित सामान्य नियम का अतिक्रमण दर्शाया है। शौनक स्वरशास्त्र के उक्त नियम का आदर करते हुए लिखता है—

अनुदात्तं तु पादादौ नो वर्जं विद्यते पदम् ।१७।२७।।

अर्थात्—ऋग्वेद में 'उ' को छोड़कर अन्य कोई पद पाद के आरम्भ में अनुदात्त नहीं है।

इस सूत्र की व्याख्या करता हुआ उव्वट लिखता है—अयमपि पादान्त-ज्ञाने हेतुः। अर्थात्—पाद के आरम्भ में सर्वानुदात्त पद के निषेध करने से भी पूर्व पाद की समाप्ति कहां पर करनी चाहिए, इस विषय में सहायता उपलब्ध होती है।

---

१. देखिए—अनुदात्तं सर्वमपादादौ (अष्टा० ८।१।१८) नियम। इस सूत्र के सब पदों की अनुवृत्ति अगले सूत्रों में जाती हैं। अतएव पाद के आरम्भ में ते-मे आदि आदेश, तथा क्रिया और सम्बोधनपदों को सर्वानुदात्तत्व नहीं होता।

शौनक द्वारा स्वीकृत पादादि सर्वानुदात्त पद—शौनक ने उपर्युक्त नियम स्वीकार करके ६ स्थान ऐसे गिनाए हैं, जिन में पाद के आरम्भ में उसने क्रिया और आमन्त्रित (सम्बोधन) पद का अनुदात्तत्व माना है। यथा—

१—ऋग्वेद ८।४६।१७ में इयक्षसि क्रियापद[1]—

यज्ञेभिर्गीर्भिर्विश्वमनुषां मरुताम् इयक्षसि गाये त्वा नमसा गिरा।

शौनक ने इस ऋचा का 'चतुष्पाद् जगती' (१२×४=४८) छन्द मानकर सर्वानुदात्त इयक्षसि को पाद के आरम्भ में स्वीकार किया है।

२ ऋग्वेद ४।१०।४-६ में 'न' पूर्ववाले क्रियापद[2]—

प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके।
तत् ते रुक्मो न रोचत स्वधावः।

इन मन्त्रों में प्रथम और तृतीय में पदपङ्क्ति[3] (५×५=२५), और द्वितीय में महापदपङ्क्ति[4] (५+५+५+५+५+६=३१) छन्द मानकर स्तनयन्ति रोचते रोचते इन तीन सर्वानुदात्त पदों को पाद के आरम्भ में माना है।

३—ऋग्वेद १।२।८ में ऋतावृधौ सम्बोधन पद[5]—

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।

इसमें त्रिपाद् गायत्री (८×३=२४) छन्द मानकर ऋतावृधौ सर्वानुदात्त आमन्त्रित को पाद के अन्त में स्वीकार किया है।

४—ऋग्वेद ७।३४।१४ में अधायि क्रियापद[6]—

अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभिः प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमः।

---

१. वशोऽस्तीयक्षसीत्येकम्। ऋक्प्राति० १७।२९॥

२. तुचे चाभीष्ट इत्यपि, नेति पूर्वाणि सर्वाणि। ऋक्प्राति० १७।३०॥

३. देखिए—गायत्रीप्रकरण। शौनक और कात्यायन इसे गायत्री का भेद मानते हैं, परन्तु पिङ्गल के मत में यह पङ्क्ति का अवान्तरभेद है।

४. देखिए—अनुष्टुप् प्रकरण।

५. मधुच्छन्दस्यृतावृधौ। ऋक्प्राति० १७।३१॥

६. स्तोमशब्दे परेऽधायि। ऋक्प्राति० १७।३२॥

५—ऋग्वेद ७।३४।१७ में स्रिधत् क्रियापद[1]—

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः ।

इन दोनों में पांच-पांच अक्षर के चार पाद मानकर क्रमशः सर्वानुदात्त अत्रायि और स्रिधत् को चतुर्थ पाद के आरम्भ में माना है ।

६—ऋग्वेद ७।५६।१० में हुवे क्रियापद[2]—

७—इसी मन्त्र में मरुतः सम्बोधनपद[3]—

प्रिया वो नाम हुवे तुराणाम् आ यत् तृपन् मरुतो वावशानाः ।

इस मन्त्र में भी पांच-पांच अक्षरों के चार पाद मानकर क्रमशः सर्वानुदात्त हुवे क्रियापद, और मरुतः आमन्त्रित पद को पाद के आरम्भ में माना है ।

८—ऋग्वेद ८।३७।१-६ के उत्तरार्धों में वृत्रहन् सम्बोधन पद[4]—

माध्यंन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ।

यह उत्तरार्ध छह मन्त्रों में समान है । इनमें षट्पदा महापंक्ति नामक जगती[5] छन्द (८×६=४८) मानकर सर्वानुदात्त वृत्रहन् पद को पाद के आरम्भ में स्वीकार किया है ।

९—ऋग्वेद ८।३७।३ में राजसि क्रियापद[6]—

एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।

इस मन्त्र में भी षट्पदा महापङ्क्ति जगती छन्द मानकर राजसि सर्वानुदात्त क्रियापद को पाद के आदि में माना है ।

शौनक-निर्दिष्ट पादादि-अनुदात्त-पद-विवेचना—शौनक ने वैदिक स्वरशास्त्र के निरपवाद नियम की अवहेलना करके जितने स्थानों में पाद के आरम्भ में सर्वानुदात्त क्रिया तथा आमन्त्रित पद दर्शाए हैं, उन सब की सूक्ष्म विवेचना करने पर ज्ञात हुआ कि शौनक ने उक्त मन्त्रों में जो छन्द माने हैं,

---

१. ऋतशब्दे परे स्रिधत् । ऋक्प्राति० १७।३३॥
२. हुवे तुराणां यत्पूर्वम् । ऋक्प्राति० १७।३४॥
३. तृपन्मरुत उत्तरम् । ऋक्प्राति० १७।३५॥
४. प्रेदं ब्रह्मेति चैतस्मिन् सूक्ते पादोऽस्ति पञ्चमः ।
सर्वानुदात्तः षट्स्वृक्षु । ऋक्प्राति० १७।३६॥
५. देखिए—जगतीछन्द-प्रकरण ।
६. आदितश्चतुर्दशः (पादः) । ऋक्प्राति० १७।३६।

यदि छन्दःशास्त्र के अनुसार उनके स्थान में अन्य छन्द माने जाएँ, तो उक्त दोष उपस्थित ही नहीं होता। अब हम वैदिक छन्दःशास्त्र के अनुसार ही यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि शौनक ने पाद के आरम्भ में श्रुत जो सर्वानुदात्त क्रिया तथा संबोधन पद गिनाए हैं, वे वस्तुतः पाद के आरम्भ में हैं ही नहीं।

१—ऋग्वेद ८।४६।१७ के—

युञ्जेभि॑र्गी॒र्भिर्वि॒श्वम॑नुषा म॒रुता॑मियक्षसि॒ गाये॑ त्वा॒ नम॑सा गि॒रा।

मन्त्र में बारह-बारह अक्षर पर पादसमाप्ति मानने पर सर्वानुदात्त इयक्षसि पद पाद के आरम्भ में उपस्थित होता है। इस पाद-विच्छेद में न केवल स्वरशास्त्र के निरपवाद नियम का विरोध होता है, अपितु यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् इस निरपवाद लक्षण[1] का भी विरोध प्रत्यक्ष है। पूर्व पाद में क्रिया का अभाव होने से पादार्थ अपरिसमाप्त रहता है, और उत्तर पाद में दो क्रियाएँ इकट्ठी हो जाती हैं। इसलिए स्वरानुरोध तथा अर्थानुरोध से इस मन्त्र में सामान्य छन्दोलक्षण का अपवाद मान कर पूर्व पाद की परिसमाप्ति इयक्षसि पर करनी होगी।

स्वरशास्त्र और छन्दःशास्त्र का समन्वय—यदि कहा जाए कि छन्दःशास्त्र के अनुसार नियत पादाक्षरों की वृद्धि और ह्रास कैसे स्वीकार किया जाए? स्वरशास्त्र और छन्दःशास्त्र दोनों में से किसी न किसी के नियम का तो उल्लङ्घन करना ही पड़ेगा। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। न यहां स्वरशास्त्र के नियम के उल्लङ्घन की आवश्यकता है, और न छन्दःशास्त्र के नियम की। दोनों ही परस्पर अविरुद्ध ही नहीं, प्रत्युत एक-दूसरे के सहायक हैं। आवश्यकता केवल छन्दःशास्त्र के सूक्ष्म अवगाहन की है।

पादाक्षरों की वृद्धि और ह्रास का नियम—जहां पर स्वरशास्त्र के और छन्दःशास्त्र के नियम परस्पर टकराते हैं, वहां निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने दोनों की उचित व्यवस्था लगाने की पद्धति का निर्देश स्व छन्दोविचिति में दर्शाया है। पतञ्जलि ने निदानसूत्र के आरम्भ में सोदाहरण दर्शाया है कि किस छन्द का कितने अक्षरों का पाद कहां तक बढ़ सकता है, और कहां तक घट सकता है? वह लिखता है—

---

१. मीमांसा २।१।३५॥ इस लक्षण की निरपवादता पर हम पूर्व पृष्ठ ७४-७७ तक विस्तार से लिख चुके हैं। जिन मीमांसकों ने इस लक्षण को प्रायिक माना है, और इस में जो दोष दर्शाया है, उसकी मीमांसा भी वहीं कर चुके हैं।

अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति—विश्वेषां हित (ऋ० ६।१६।१) इति । आचतुरक्षरताया इत्येके । आदशाक्षरताया अभिक्रामति—वयं तदस्य संभृतं वसु (ऋ० ८।४०।६) इति ।

एकादशाक्षर आनवाक्षरतायाः प्रतिक्रामति–यदि वा दधे यदि वा न (ऋ० १०।१२९।७)इति । अष्टाक्षरताया इत्येके । आ पञ्चदशाक्षरताया अभिक्रामति-सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि(साम१।४६०)इति ।

द्वादशाक्षर आनवाक्षरतायाः प्रतिक्रामति—अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः (ऋ० ९।१०७।९) इति । अष्टाक्षरताया इत्येके । आषोडशाक्षरताया अभिक्रामति विकर्षणेन—त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुरु (साम १।२४८) इति । अष्टादक्षाक्षरताया इत्येके—अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभिः प्रियं मतिं कविम् (साम १।४६४) इति । पृष्ठ १—२।।

इन उद्धरणों का भाव यह है कि अष्टाक्षर पाद पांच अक्षर तक घट जाता है । किन्हीं के मत में यह ह्रास चार अक्षर तक होता है । इस पाद की वृद्धि दश अक्षर तक होती है । एकादश अक्षर का पाद नौ अक्षर तक घटता है । किन्हीं के मत में यह ह्रास आठ अक्षर तक हो सकता है । इस पाद की वृद्धि पन्द्रह अक्षर तक हो सकती है । द्वादश अक्षर का पाद नौ अक्षर तक घटता है । किन्हीं के मत में आठ अक्षर तक घट सकता है । इस की वृद्धि सोलह अक्षरों तक होती है । कहीं-कहीं १८ अक्षरों तक भी द्वादशाक्षर पाद की वृद्धि देखी जाती है ।

पतञ्जलि ने पादाक्षरों के ह्रास और वृद्धि का नियम ऋचाओं में अर्थवश पादव्यवस्था को ध्यान में रखकर लिखा है ।[1] उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों का भी अर्थ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । किस वाक्य में क्रिया की प्रधानता है, और किस में उसकी अप्रधानता, यह क्रिया के उदात्तत्व अथवा अनुदात्तत्व से ही जाना जाता है ।[2] इसलिये पतञ्जलिप्रतिपादित नियम के अनुसार पूर्वनिदिष्ट ऋगर्धं में द्वादशाक्षर पाद की १८ अक्षर तक वृद्धि मानकर इयक्षसि पद तक १७ अक्षर पर परिसमाप्ति माननी चाहिए । तदनुसार उत्तर पाद आठ अक्षरों तक घट जाएगा । इस प्रकार न निरपवाद स्वर-नियम की उपेक्षा होगी, न ऋग्लक्षण का विरोध होगा, और न छन्दःशास्त्र की व्यवस्था

---

१. इसके लिये निदानसूत्र की तातप्रसाद की टीका (वै० छ० मी० पृष्ठ ७७) का अवलोकन करना चाहिए ।

२. इस नियम के परिज्ञान के लिए हमारे 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रन्थ का पाचवां अध्याय देखना चाहिए ।

का ही उल्लङ्घन होगा। सब नियमों को परस्पर अविरोध से उचित संगति लग जाएगी।

२—ऋग्वेद ४।१०।४-६ के मन्त्रों का पाठ इस प्रकार है—

अभि॑ष्टे अ॒द्य गी॒र्भिर्गृ॒णन्तोऽग्ने॒ दाशे॑म। प्र ते॑ दि॒वो स्त॒नय॑न्ति॒ शुष्माः॑ ॥४॥
तव॒ स्वादि॑ष्ठाऽग्ने॒ संदृ॑ष्टिरि॒दा चि॒दह्न॑ इ॒दा चि॑द॒क्तोः।
श्रि॒ये रु॒क्मो न रो॑चत उपा॒के ॥५॥
घृ॒तं न पू॒तं त॒नूर॑रे॒पाः शुचि॒ हिर॑ण्यम्। तत् ते॑ रु॒क्मो न रो॑चते स्वधावः ॥६॥

इनमें प्रथम और तृतीय मन्त्र में पञ्चाक्षर पांच पादवाला पदपंक्ति छन्द मानने पर सर्वानुदात्त स्तनयन्ति और रोचते पाद के आरम्भ में उपस्थित होते हैं। इनमें प्रथम मन्त्र में निदानसूत्र के पूर्वनिर्दिष्ट नियम के अनुसार अष्टाक्षर पादों का ह्रास और वृद्धि (८+४+११) मानने पर सीधा भुरिग्गायत्री छन्द बन जाता है। और स्तनयन्ति पद पाद के आरम्भ में नहीं आता। तृतीय मन्त्र में भी पादों के ह्रास और विकर्ष से स्वराड् गायत्री छन्द स्पष्ट है। इस प्रकार इस में भी रोचते पद पाद के आरम्भ में नहीं आता।

यह भी ध्यान रहे कि कात्यायन ने प्रथम मन्त्र में व्यूह करके २७ अक्षर, और द्वितीय में २६ अक्षर होने से इन दोनों मन्त्रों का पक्षान्तर में उष्णिक् छन्द भी लिखा है।[1] उष्णिक् छन्द मानने पर दोनों का उत्तरार्ध में एक ही पाद होगा। अतः कात्यायन द्वारा प्रस्तुत वैकल्पिक उष्णिक् छन्द में भी सर्वानुदात्त स्तनयन्ति और रोचते पद पाद के आरम्भ में उपस्थित नहीं होते। अतः शौनक की अपेक्षा कात्यायन द्वारा निर्दिष्ट उष्णिक् छन्द स्वरशास्त्र से अविरुद्ध है। वस्तुतः प्रकरणानुरोध से इन मन्त्रों का क्रमशः भुरिक् और स्वराड् गायत्री छन्द मानना चाहिए।

द्वितीय मन्त्र में शौनक ने व्यूह मानकर ५+५+५+५+५+६=३१ पादाक्षरों का महापदपङ्क्ति (अनुष्टुप् का भेद) छन्द माना है। इसी छन्द के अनुसार अनुदात्त रोचते पद पाद के आरम्भ में आता है। यदि इस मन्त्र का १०+१०+११ अक्षरों का भुरिक् त्रिपाद् विराट् अनुष्टुप्[2] छन्द (शौन-

---

१. अग्ने तमद्य पदपाङ्क्तम्, ...उष्णिक् चतुर्थी षष्ठ्यु पान्त्या वा ..। ऋक्सर्वा० ४।१०॥

२. पिङ्गल ने ११+११+११ अक्षरों के त्रिपाद् विराट् छन्द को गायत्री का उपभेद माना है। देखिए—गायत्री-प्रकरण। शौनक और कात्यायन ने

कोक्त) माना जाए[1], तो सर्वानुदात्त रोचते पद पाद के आरम्भ में उपस्थित ही नहीं होता।

इस प्रकार शौनकनिर्दिष्ट इन तीनों मन्त्रों में स्वरशास्त्र के निरपवाद नियम में कोई दोष उपस्थित नहीं होता। इतना ही नहीं, इन ऋचाओं में पाद-पाद में परिसमाप्त होनेवाला अवान्तर अर्थ[2] भी हमारे द्वारा दर्शाए पाद-विच्छेद में ही उपपन्न होता है, न कि शौनक और कात्यायन निर्दिष्ट पादविच्छेदों में इसलिए स्वर और अर्थ दोनों के अनुरोध से शौनकनिर्दिष्ट छन्द चिन्त्य हैं।

३—ऋग्वेद १।२।८ में शौनक ने सर्वानुदात्त ऋतावृधौ पद को पाद के आरम्भ में दर्शाया है। स्वरशास्त्र के नियम और अर्थ के अनुरोध से यहां ऋतेन मित्रावरुणौ पर पाद-विच्छेद नहीं किया जा सकता, यह स्पष्ट है। यहां पर किस नियम से १६ अक्षरों का एक पाद माना जा सकता है, यह हम स्पष्टतया कहने में अभी असमर्थ हैं। परन्तु पिङ्गल ने १२+८ पादाक्षरों का जो द्विपाद् गायत्री छन्द[3] माना है, उसके द्वादशाक्षर पाद का षोडशाक्षर-पर्यन्त विकर्ष मान लिया जाए, तो यह बड़ी सरलता से द्विपदा गायत्री मानी जा सकती है। और इस छन्द में स्वर तथा अर्थ दोनों का पूर्ण आनुकूल्य भी है।

व्याकरणशास्त्र के नियमानुसार अपादादित्व और समानवाक्यत्व लक्षण स्वर के विप्रतिषेध होने पर परत्व से समानवाक्यत्व लक्षण स्वर प्रवृत्त होता है अतः एव कथंचित् ऋतावृधौ पद का पादादित्व स्वीकार भी कर लिया जाये, तब भी ऋतावृधौ में पादादिलक्षण आद्युदात्तत्व को बाधकर समानवाक्य लक्षण निघातत्व प्रवृत्त होगा। इसी प्रकार इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय (ऋ० ३।३५।१) में अपादादित्वलक्षण अनुदात्तत्व की प्राप्ति होने पर भी वाक्यादि होने से ररिम में निघातत्व नहीं होता है।

१०+१०+१० तथा ११+११+११ पादाक्षरों के त्रिपाद् विराट् छन्द को अनुष्टुप् का भेद लिखा है। देखिए—अनुष्टुप् प्रकरण।

१. मन्त्र में ६+१०+११ अक्षरों के पाद हैं। इनमें ह्रास और विकर्ष के नियम से विराट् छन्द उपपन्न हो जाता है।

२ ऋचा के प्रत्येक पाद का पृथक् अवान्तर अर्थ होता है, इसकी मीमांसा के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का पांचवां अध्याय।

३. निदान उपनिदान सूत्र के अनुसार यह पंक्ति का भेद है।

वस्तुतः ऋतावृधा० से पूर्व अर्थानुरोध से पादविच्छेद नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय में स्वाहा पद पर पादविच्छेद करना चाहिए।

४,५,६,७—संख्या में निर्दिष्ट ऋग्वेद ७।३४।१४,१७ तथा ७।५६।१० के मन्त्र इस प्रकार हैं—

अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभिः प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमः।

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः।

प्रिया वो नाम हुवे तुराणामा यत् तृपन्मरुतो वावशानाः।

इन मन्त्रों में शौनक ने पांच-पांच अक्षरों के चार-चार पाद मानकर प्रथम में अधायि, द्वितीय में स्रिधत्, तृतीय में हुवे तथा मरुतः इन चार सर्वानुदात्त पदों को पाद के आरम्भ में माना है।

आश्चर्य इस बात का है कि शौनक ने अपने सम्पूर्ण छन्दःप्रकरण में ५+५++५+५ पादाक्षरवाले किसी छन्दोविशेष का साक्षाद् उल्लेख नहीं किया।[१] पुनः उसने उपर्युक्त मन्त्रों में पांच-पांच अक्षरों के पादविभाग की कल्पना करके अधायि आदि सर्वानुदात्त पदों को पाद के आरम्भ में कैसे मान लिया? कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में इन मन्त्रों का द्विपदा विराट् छन्द माना है। १०+१० पादाक्षरों का द्विपदा विराट् छन्द मानने पर अधायि, स्रिधत, हुवे और मरुतः इनमें से कोई भी सर्वानुदात्त पद पाद के आरम्भ में उपस्थित नहीं होता, यह स्पष्ट है। यद्यपि कात्यायन का द्विपदा विराट् छन्दोनिर्देश याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरोध से है, तथापि उसके द्वारा निर्दिष्ट छन्द में स्वरशास्त्र का विरोध नहीं है।

वस्तुतः ये द्विपदा विराट् छन्दस्क ऋचाएं नहीं हैं।[२] कात्यायन आदि ने

---

१. शौनक ने गायत्री से प्राग्वर्ती मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, समा नाम के पांच छन्दों का निर्देश किया है। परन्तु उसने मा आदि छन्दों के लक्षणों का समन्वय दर्शाने के लिए अन्य छन्दों के समान मा आदि छन्दों के कोई उदाहरण नहीं दिये। इससे प्रतीत होता है कि शौनक ऋग्वेद में इन छन्दों का प्रयोग नहीं मानता (जिनका प्रयोग मानता है, उनके वह उदाहरण देता है, अन्यों के नहीं देता)। अतः ५+५+५+५(=२०) पादाक्षरवाले 'समा' छन्द की कल्पना करना सम्भव नहीं।

२. द्विपदाओं की पूर्ण विवेचना के लिए 'वैदिक सिद्धान्त-मीमांसा' में 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' निबन्ध देखना चाहिए।

ऋग्वेद की ७० विशिष्ट चतुष्पाद ऋचाओं को याज्ञिक प्रक्रिया की सिद्धि के लिए १४० नैमित्तिक द्विपदारूप में स्वीकार किया है। अतः ऋ० ७।३४ की १४ वीं द्विपदा १३ वीं द्विपदा के साथ मिलकर चतुष्पाद्पङ्क्तिछन्दस्क एक ऋचा है। और इसी सूक्त की १७ वीं द्विपदा अगली १८ वीं द्विपदा के साथ मिलकर एक चतुष्पदा है। इसी प्रकार ७।५६ की १० वीं द्विपदा ९ वीं द्विपदा के साथ मिलकर एक चतुष्पदा ऋक् है। इसलिए इन चतुष्पाद् ऋचाओं में श्रुत अधायि, स्त्रिधत्, हुवे और मरुतः कोई भी पद पाद के आरम्भ में नहीं है। अतः शौनक का इन्हें पाद के आरम्भ में मानना सर्वथा चिन्त्य है।

८—ऋग्वेद ८।३७।१-६ तक श्रुत उत्तरार्ध इस प्रकार है—

माध्यंन्दिनस्य सवंनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमंस्य वज्रिवः।

इसमें शौनक ने आठ-आठ अक्षरों के ६ पादवाले षट्पदा महापङ्क्ति (जगती) छन्द मानकर सर्वानुदात्त वृत्रहन् पद को पाद के आरम्भ में माना है।

ऋ० ८।३७।१–६ मन्त्रों का उत्तरार्ध तो समान है ही, पूर्वार्ध में भी

······शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।

अंश भी सर्वथा समान है। इन मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान देने से तथा स्वरनिर्देश का विचार करने से प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों में चार-चार पाद हैं। प्रथम पाद शचीपते पर समाप्त होता है, दूसरा पाद इन्द्र···रूतिभिः है, तीसरा वृत्रहन् पर समाप्त होता है, और उससे आगे चौथा पाद है। इन मन्त्रों में प्रथम मन्त्र में ५० अक्षर होने से स्वराड् जगती है, और शेषों में ४७ अक्षरों के कारण निचृद् जगती। १२+१२+१२+१२ अक्षरों की सामान्य जगती के प्रथम पाद का सब मन्त्रों में स्वर और अर्थ के अनुरोध से विकर्ष (वृद्धि) होता है, और द्वितीय पाद का ह्रास। इस प्रकार प्रथम मन्त्र में शचीपते पर्यन्त प्रथम पाद १९ अक्षरों का, और शेष में १६ अक्षरों का होता है, द्वितीय पाद ह्रास से ८ अक्षर तक ह्रसित होता है। तृतीय पाद वृत्रहन् पर्यन्त १२ अक्षरों का और चतुर्थ ११ अक्षरों का है।

इस पाद-विभाग में कहीं पर भी स्वर-दोष उपस्थित नहीं होता। अर्थ भी इसी के अनुकूल है। पतञ्जलि ने द्वादशाक्षर पाद की वृद्धि १८ अक्षर तक मानी है। परन्तु इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में उसकी वृद्धि १९ अक्षरों तक दिखाई पड़ती है।

कात्यायन का परस्पर विरोध—कात्यायन ने इस सूक्त के प्रथम मन्त्र का अति जगती छन्द माना है, और शेष मन्त्रों का महापंक्ति (जगती)। अतिजगती में चारों पादों में से कोई से पाद में चार अक्षर की वृद्धि होती है। तदनुसार प्रथम मन्त्र के पूर्वार्ध में १६ और १२ अक्षरों के दो पाद होगें, तथा उत्तरार्ध में बारह-बारह अक्षरों के दो पाद। इस प्रकार प्रथम मन्त्र का तृतीय पाद माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन् इतना होगा। इस पादविभाग में सर्वानुदात्त वृत्रहन् पद पाद के आरम्भ में नहीं आता, किन्तु अन्त में उपलब्ध होता है। अगले पाँच मन्त्रों में महापङ्क्ति छन्द माना है। इसलिए उसमें आठ-आठ अक्षरों के छह पाद मानने होंगे। उत्तरार्ध में सर्वत्र समान पाठ होने पर भी मन्त्र २–६ तक आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद स्वीकार करने पर वृत्रहन्ननेद्य यह स्वतन्त्र पाद माना जायेगा। इस विच्छेद में सर्वानुदात्त वृत्रहन पाद के आरम्भ में होगा, जो कि स्वरशास्त्र के विपरीत है।

शौनक और कात्यायन का विरोध—शौनक ने १-६ तक छहों मन्त्रों में महापंक्ति छन्द मानकर वृत्रहन् को पञ्चम पाद के आरम्भ में माना है, परन्तु कात्यायन के मतानुसार प्रथम मन्त्र में वृत्रहन् तृतीय पाद के अन्त में है, और २–६ तक पाँच मन्त्रों में पञ्चम पाद के आरम्भ में।

शौनक और कात्यायन के उक्त छन्दोनिर्देशों में जहाँ पारस्परिक तथा स्ववचन विरोध है, वहाँ स्वरशास्त्र के निरपवाद नियम का भी विरोध स्पष्ट है। उनमें पादों के अवान्तर अर्थ की उपपत्ति भी यथोचित नहीं होती। इसलिए इस सूक्त के १–६ मन्त्रों का हमने जो पाद-विच्छेद दर्शाया है, वह छन्दः शास्त्र द्वारा अनुमोदित होते हुए स्वरशास्त्र और अवान्तर अर्थ प्रकल्पना के भी अनुकूल है।

९ —ऋग्वेद ८।३७।३ का पूर्वार्ध इस प्रकार है—

ए॒क॒रा॒ळ॒स्य भुव॑नस्य राजसि शचीपत॒ इन्द्र॒ विश्वा॑भिरू॒तिभिः॑।

इसमें शौनक ने महापङ्क्त छन्द माना है। तदनुसार राजसि, शचीपते यह द्वितीय पाद है। इसके आरम्भ में राजसि पद सर्वानुदात्त है।

इस सम्पूर्ण सूक्त के छन्द और पाद-विच्छेद के विषय में हम संख्या ८ में लिख चुके। तदनुसार राजसि, शचीपते पूर्वपाद का अवयव है। अतः यहाँ सर्वानुदात्त राजसि पाद के आरम्भ में है ही नहीं। इसलिए स्वरशास्त्र का यहाँ कोई विरोध नहीं।

इस प्रकार शौनक ने ऋग्वेद में पाद के आरम्भ में जितने सर्वानुदात्त क्रिया तथा संबोधन पद माने हैं उन सब के विषय में हमने वैदिक छन्दःशास्त्र के अनुसार ही सिद्ध कर दिया कि उक्त सर्वानुदात्त पदों में कोई भी पाद के आरम्भ में नहीं है। अतः स्वरशास्त्र के निरपवाद नियम का विरोध करके शौनक ने जिन छन्दों के आधार पर उक्त सर्वानुदात्त पदों को पाद के आरम्भ में माना हैं, वे छन्द वस्तुतः चिन्त्य हैं। हां, अभी हम ऋतावृधौ पद के विषय में पूर्ण निश्चय पर नहीं पहुँचे परन्तु हमारा विचार हैं कि वहां भी स्वरविरोध स्वीकार की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसमें स्वर-विरोध को दूर करने का एक उपाय हमने सुझाया भी है।

उपसंहार—उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों और सर्वानुक्रमणी आदि लक्षणग्रन्थों में तत्तत् मन्त्रों के निर्दिष्ट अनेक छन्द वास्तविक नहीं हैं। अब हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्राक्षरसंख्या से असंबद्ध अवावस्तविक छन्दों का निर्देश क्यों किया गया?

ब्राह्मण आदि में अवास्तविक छन्दों के निर्देश का कारण

जहां तक हमने वैदिक छन्दःशास्त्रों का अध्ययन और वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन किया है, उससे हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि न्यूनातिन्यून ८-९ सहस्र वर्षों से समस्त वैदिक वाङ्मय का केन्द्र एकमात्र यज्ञ रहा है। इसलिए इस काल के समस्त ग्रन्थों का प्रवचन यज्ञ को ही केन्द्र-बिन्दु बनाकर किया गया है। इसलिए जैसे कुम्हार का चक्र गतिशील होता हुआ भी अप' धुरे पर ही चारों ओर घूमता है, उसी प्रकार समस्त उपलब्ध वैदिक वाङ्मय यज्ञरूपी कील के चारों ओर ही घूम रहा है।

उत्तर काल में यज्ञ की प्रमुखता के कारण जैसे वेदार्थ की विशुद्ध वैज्ञानिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दिशा परिवर्तित हो गई[1], उसी प्रकार समस्त शास्त्र भी अपनी-अपनी विशुद्ध शास्त्रीयता को तिलाञ्जलि देकर यज्ञोपयोगिता की ओर झुक गये। इस कार्य में ब्राह्मणग्रन्थों ने समस्त वाङ्मय का नेतृत्व किया। अवर काल में यज्ञवाद में इतनी वृद्धि हुई कि यज्ञ से कथंचित् संबन्ध न रखनेवाला वाङ्मय अनर्थक समझा जाने लगा।[2]

---

१. इस की संक्षिप्त मीमांसा हमने 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक निबन्ध में की है। विशद मीमांसा 'वेदार्थ-मीमांसा' में करेंगे।

२ आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्। पूर्वमीमांसा १।२।१॥

इन यज्ञों की स्थिति भी सदा एकसी न रही। इनमें न केवल दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई, अपितु महान् परिवर्तन भी हुए।[1] इस कारण उत्तर काल में यज्ञ अपने मूल उद्देश्य[2] से बहुत दूर चले गए। यज्ञों की इस अनियन्त्रित वृद्धि का यह फल हुआ कि उनके क्रियाकलाप की सिद्धि के लिए तदनुरूप देवता और छन्दोंवाले मन्त्रों की न्यूनता हो गई। ऐसी अवस्था में आरम्भ में अनेक श्रौतमन्त्रों[3] की कल्पना हुई। अवर काल में नये श्रौतमन्त्रों की रचना पर भी प्रतिबन्ध लग जाने से यज्ञप्रक्रियासिद्ध्यर्थं गौण विनियोगों का आरम्भ हुआ। अर्थात् जिस यज्ञ में जिस देवतावाले और जिस छन्दवाले जितने मन्त्रों की आवश्यकता हुई, उतने मन्त्र उपलब्ध न होने पर न केवल गौण देवता और गौण छन्दों की ही कल्पना की गई, अपितु मन्त्रार्थ से सर्वथा असम्बद्ध विनियोगों का भी उदय हुआ[4]।

देवता-विषयक गौण विनियोग

यज्ञकर्म-संबद्ध देवतावाले मन्त्रों की न्यूनता होने पर यज्ञों में किस प्रकार गौण विनियोगों से कार्य चलाया जाता है, इसके दो संकेत यास्कीय निरुक्त में उपलब्ध होते है।

क—निरुक्त ७।१० में लिखा है—

'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते'।

अर्थात्—वह एक ही 'जातवेदा' देवतावाला और गायत्री छन्दवाला तृच

---

१. द्रष्टव्य—हमारा पूर्व पृष्ठ २६४ टि० १ में निर्दिष्ट निबन्ध।

२. यज्ञों का मूल उद्देश्य अतीन्द्रिय आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का प्रत्यक्षीकरण था। द्रष्टव्य—हमारा पूर्व पृष्ठ २६४ टि० १ में निर्दिष्ट निबन्ध।

३. श्रौतमन्त्रों से अभिप्राय उन मन्त्रों से है, जो संहिताओं में नहीं पढ़े गये, केवल श्रौत-सूत्रों में उपलब्ध होते हैं, तथा जिनकी रचना भी वैदिक मन्त्रों से भिन्न है।

४. विनियोग का लक्षण है—यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदतीति अर्थात् यज्ञ में जो कर्म किया जाए, उसमें विनियुक्त मन्त्र भी उसी क्रिया का कथन करे, वह विनियोग उचित होता है। जो मन्त्र स्वसम्बद्ध कर्म का कथन न करे, वह विनियोग काल्पनिक होता है, उसे प्रमाण नहीं माना जाता।

(तीन ऋचाओं का सूक्त) ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में है। [यज्ञ में जातवेदा: देवता और गायत्री छन्दवाले अधिक मन्त्रों की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में] जो भी अग्निदेवता वाला [गायत्रीछन्दस्क] मन्त्र हैं, वह जातवेदाः देवतावाले मन्त्रों के विषय में विनियुक्त होता है।

ख—पुन: निरुक्त १२।४० में लिखा है—

'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते, यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः'।

अर्थात्—वह एक ही 'विश्वदेव' देवतावाला गायत्र तृच ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में है [यज्ञ में विश्वेदेव देवता और गायत्री छन्दवाले अधिक मन्त्रों की आवश्यकता होने पर] जो भी बहुत देवतावाला [गायत्रीछन्दस्क] मन्त्र है, वह विश्वेदेव देवतावाले मन्त्रों के विषय में विनियुक्त होता है। जो भी विश्व लिङ्गवाला (=जिसमें विश्व शब्द पठित हो) मन्त्र है, वह प्रयुक्त होता है, यह शाकपूणि का मत है।

यह ध्यान रहे कि शब्द को देवता माननेवाले मीमांसकों और याज्ञिकों के मत में जब पर्याय समझे जानेवाले इन्द्र, महेन्द्र, वृत्रहा और पुरन्दर भी पृथक्-पृथक् देवता माने जाते हैं, तब जातवेदा: और अग्नि के पृथक्-पृथक् देवता मानने में कोई सन्देह ही नहीं। इसलिए उनके मत में 'जातवेदा:' देवतावाले मन्त्रों के विषय में अग्नि देवतावाले मन्त्रों का प्रयोग कदापि नहीं हो सकता। यही अवस्था 'विश्वेदेव' देवता के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। परन्तु यज्ञकर्म में जातवेदा:देवतावाले गायत्रछन्दस्क मन्त्रों की अल्पता होने से जातवेदा: देवतावाले मन्त्रों के स्थान में अग्निदेवतावाले मन्त्रों का प्रयोग उचित मान लिया गया। इसी प्रकार विश्वेदेवदेवतावाले मन्त्रों के स्थान में बहुदेवतावाले मन्त्रों का विनियोग आरम्भ हुआ। शाकपूणि ने तो विश्वपदघटित मन्त्र के प्रयोग को ही स्वीकार कर लिया।

निरुक्त के उपर्युक्त वचनों में जिन दो विनियोगों का उल्लेख है, वे निश्चय ही गौण विनियोग हैं। उन्हें वास्तविक विनियोग किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार का एक काल्पनिक विनियोग है—ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते अर्थात् इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे। ऐन्द्री ऋचा गार्हपत्याग्नि का कथन नहीं कर सकती है। अतएव मीमांसा

३।२।३ में कहा है—वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् । अर्थात् वचनसामर्थ्य से अयथार्थ ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य का उपस्थान होगा । अगले सूत्र (३।२।४) में गौणार्थ की कल्पना का निर्देश मीमांसाकार ने किया है ।

काल्पनिक विनियोग

यदि विनियोगों की स्थिति यहीं तक रहती, तब भी विशेष हानि नहीं थी । जातवेदा: और अग्नि में कथंचित् सादृश्य की उपपत्ति के आधार पर सहा जा सकता था । परन्तु यज्ञों की अनियन्त्रित वृद्धि के कारण श्रौतसूत्रकारों को अनेक स्थानों पर ऐसे विनियोग भी करने पड़े, जिनका मन्त्रार्थ के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं । यथा—

दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संबुभूषन् दधिभक्षम् ।

शांखा० श्रौत ४।१३।२॥

दधिक्राव्णो अकारिषम् इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य ।

आश्व० श्रौत ६।१३॥

अर्थात्—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' मन्त्र से दही का भक्षण करे ।

दधिक्रावा पद का अर्थ—निघण्टु १।४ में 'दधिक्रावा' पद अश्वनामों में पठित है । इसलिए दधिक्रावा के अन्तर्गत 'दधि' अंश का दहीवाचक 'दधि' शब्द के साथ दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है ।[1] परन्तु श्रौतसूत्रकारों ने न केवल दधिक्रावा पद के अर्थ की अपितु सम्पूर्ण मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके दही वाचक दधि शब्द के साथ समान वर्णानुपूर्वी मात्र के आधार पर इस मन्त्र को दधिभक्षण में विनियुक्त कर दिया[2] । ऐतरेय ब्राह्मण ६।३६ में इसका 'दधिक्रा' देवता माना गया है ।[3] श्रौतसूत्रकार ने ब्राह्मण की भी उपेक्षा की, यह भी इस से स्पष्ट है ।

---

१. दधिक्रावा अथवा दधिक्रा में श्रूयमाण 'दधि' शब्द "आदृगमहन०" (अष्टा० ३।१।१७१) सूत्र से निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—गतिविशेष को धारण करनेवाला । यास्क ने अश्ववाचक दधिक्रा का निर्वचन इस प्रकार लिखा है—'दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधत् आकारी भवतीति वा' । २।२७॥

२. गृह्यसूत्रों में इस प्रकार के काल्पनिक विनियोगों का बाहुल्य है ।

३. दधिक्राव्णो अकारिषमिति दाधिक्री शंसति ।

शांखायन और आश्वलायन के उपर्युक्त वचनों की मीमांसा से स्पष्ट है कि न केवल मन्त्रार्थ अपितु पदार्थ से भी असम्बद्ध पद अथवा पदैकदेश अथवा वर्णमात्र[1] की समानता के आधार पर दर्शाया गया मन्त्र-विनियोग सर्वथा काल्पनिक ही है। उसे विनियोग कहना भी विनियोग पद का दुरुपयोग करना है।

गौण तथा काल्पनिक छन्द

ब्राह्मण-प्रवक्ताओं और श्रौतसूत्रकारों ने स्वकाल-प्रसिद्ध याज्ञिकप्रक्रिया के निर्वाह के लिए जिस प्रकार देवताविषयक गौण और काल्पनिक विनियोग अपनाए, उसी प्रकार उन्होंने यज्ञप्रक्रिया के निर्वाहार्थ छन्दों के विषय में भी गौण तथा काल्पनिक छन्दों का आश्रय लिया। इस विषय के अनेक उदाहरण हम पूर्व दर्शा चुके हैं। अब हम ब्राह्मणग्रन्थों के दो एक ऐसे वचन उद्धृत करते हैं, जिनसे सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट हो जायेगा कि ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट अनेक छन्द काल्पनिक हैं। यथा—

क—ऐतरेय ब्राह्मण ४।४ में लिखा है—

प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्, अर्चत प्रार्चत, यो व्यतीँरफाणयद् इति प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति।[2]

अर्थात्—'प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्' (ऋ० ८।६९।१); 'अर्चत प्रार्चत' (ऋ० ८।६९।८) 'यो व्यतीँरफाणयत्' (ऋ० ८।६९।१३) प्रतीकवाले प्रसिद्ध अनुष्टुप्-छन्दस्क तृचों का शंसन करे।

इनमें से प्रथम तृच की द्वितीय ऋक् इस प्रकार है—

नदं वो ओदतीनां (१) नदं योयुवतीनाम् (२)।
पतिं वो अघ्न्यानां (३) धेनूनामिषुध्यसि (४)॥

इस ऋचा के चारों पादों में क्रमशः ७+७+६+७(=२७) अक्षर हैं। ब्राह्मण के उक्त उद्धरण में इसे अनुष्टुप् कहा है। अनुष्टुप् में ३२ अक्षर होते

---

१. 'शन्नो देवी' मन्त्र का शनैश्चर ग्रह की पूजा में विनियोग इसी प्रकार का है। अग्निवेश्यगृह्य तथा बोधायनगृह्य परिशिष्ट में इस प्रकार की काल्पनिक नवग्रहपूजा का विधान है।

२ आश्व० श्रौत ६।२।९ में भी अक्षरशः यही पाठ है।

हैं। यहाँ केवल २७ अक्षर हैं। इसलिए इसका अनुष्टुप् छन्द मानना सर्वथा काल्पनिक है।

ऐतरेय आरण्यक में इसकी अनुष्टुप्ता की उपपत्ति इस प्रकार दर्शाई है–

नदं व ओदतीनामिती३ उष्णिग् अक्षरैर्भवति, अनुष्टुप् पादैः ॥१।३।८॥

अर्थात्—'नदं व ओदतीनाम्' ऋक् अक्षरसंख्या से उष्णिक् है, पादसंख्या से अनुष्टुप्।

शौनक द्वारा ब्राह्मण और आरण्यक का अनुसरण—शौनक ने इस ऋचा के विषय में ब्राह्मण और आरण्यक का अन्धानुकरण किया है। वह लिखता है—

सप्ताक्षरैश्चतुर्भिर्द्वे नदं मंसीमहीति च।
पादैरनुष्टुभौ विद्याद् अक्षरैरुष्णिहाविमे ॥१६।३२॥

अर्थात्—'नदं व' (ऋ० ८।६९।२); 'मंसीमहि' (ऋ० १०।२६।४) ये दोनों ऋचाएँ पादसंख्या से अनुष्टुप् हैं, और अक्षरसंख्या से उष्णिक्।

ब्राह्मण-प्रवक्ता का स्वयं असंतोष—ब्राह्मणप्रवक्ता ऐतरेय ने 'नदं व' ऋक् को अनुष्टुप् लिखते हुए स्वयं अपना असंतोष इस प्रकार व्यक्त किया है—

तद्यथेह चेह चापथेन चरित्वा पन्थानं पर्यवेयात् तादृक् तद् यत् प्रज्ञाता अनुष्टुभः शंसति।

अर्थात्—जैसे लोक में ऊबड़-खाबड़ मार्ग से चलकर कोई मार्ग पर पहुंच जावे, उसी प्रकार यह है जो [अन्त में] प्रज्ञात अनुष्टुभों का शंसन करता है।

इससे स्पष्ट है कि 'नदं व' आदि प्रज्ञात [शास्त्रानुकूल] अनुष्टुप् नहीं हैं, वे तो अपथ के समान कृत्रिम अनुष्टुप् हैं।

सायण की स्पष्टोक्ति—सायण उक्त आशय को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है—

यथा लोके कश्चिन्मार्गानभिज्ञस्तत्र तत्र केनचिदपथेन चरित्वा पन्थानं परिगच्छेदेवमत्रापि पूर्वोक्तरीत्या कृत्रिमा अनुष्टुभः शस्त्वा पश्चात् स्वतः सिद्धानामनुष्टभां शंसनं द्रष्टव्यम्॥ ऐ० ब्रा० भाष्य।

अर्थात्—जैसे लोक में कोई मार्ग से अनभिज्ञ व्यक्ति अपथ (ऊबड़-खाबड़ पगदण्डी) से मार्ग पर पहुंच जावे। उसी प्रकार यहां भी कृत्रिम अनुष्टुप् ऋचाओं का शंसन करके स्वतःसिद्ध [अकृत्रिम] अनुष्टुभों का शंसन समझना चाहिए।

इस व्याख्या में सायण ने 'नदं व' आदि के लिए स्पष्ट कृत्रिम अनुष्टुप् शब्द का प्रयोग किया है। इससे 'नदं व' ऋचा के अनुष्टुप् छन्द का काल्पनिकत्व सर्वथा स्पष्ट है।

ख—ऋक्प्रातिशाख्य १६।१६ की व्याख्या करता हुआ षड्गुरुशिष्य किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत करता है—

उक्तं हि—

त्रिष्टुभो या विराट्स्थाना विराड्रूपास्तथापराः।
बहूना अपि ता ज्ञेयास्त्रिष्टुभो ब्राह्मणं तथा॥ इति॥
क्रीडन्नो रश्म आभुवः (ऋ० ५।१९।५) इति।

अर्थात्—कहा है, विराट्स्थाना तथा विराड्रूपा त्रिष्टुप् बहुत अक्षरों से न्यून होने पर भी त्रिष्टुप् ही है, [क्योंकि] ब्राह्मण वैसा [निर्देश करता है]। यथा—क्रीडन्नो (ऋ० ५।१९।५) मन्त्र।

शौनक ने ११+११+११+८ (=४१) पादाक्षरों के छन्द का नाम विराड्रूपा त्रिष्टुप् माना है। यहां त्रिष्टुप् की सम्पत्ति में तीन अक्षरों की न्यूनता है। परन्तु उव्वट द्वारा उद्धृत वचन से विदित होता है कि किसी ब्राह्मण में ५ अक्षर न्यून होने पर भी क्रीडन्नो (३९ अक्षरों के) मन्त्र का त्रिष्टुप् छन्द माना गया था। 'क्रीडन्नो' ऋक् का वह त्रिष्टुप् छन्द भी 'नदं व' के समान कृत्रिम ही है, यह 'ब्राह्मणं तथा' वचन से ही ध्वनित हो रहा है।

शौनक का असंतोष—शौनक ने ११+११+११+८=४१ अक्षरों का नाम विराड्रूपा लिखते हुए स्पष्ट लिखा है—

विराड्रूपा नामैषा त्रिष्टुम्नाक्षरसम्पदा। १६।१६॥

अर्थात् यह विराड्रूपा त्रिष्टुप् अक्षरसम्पत्ति से त्रिष्टुप् नहीं है।

इससे यह स्पष्ट है कि शौनक उसी छन्दोनाम को युक्त मानता है, जो अक्षरसंख्या के अनुरूप हो।

इन दो उद्धरणों से स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थों में जिन छन्दों का निर्देश

है,वे उस-उस मन्त्र के वास्तविक छन्द हों, यह आवश्यक नहीं। ब्राह्मणप्रवक्ता अनेक स्थानों पर काल्पनिक=कृत्रिम छन्दों का भी व्यवहार करते हैं।

जब वैदिक वाङ्मय में प्रमाणीभूत ब्राह्मणनिर्दिष्ट छन्दों की ही यह अवस्था है, तब उनका अनुसरण करनेवाले छन्दःप्रवक्ताओं और छन्दोनिर्देशक सूत्रकारों का तो कहना ही क्या ? उन्हें तो ब्राह्मणग्रन्थ के विधिविधानों का अनुसरण करना ही पड़ेगा। अतः सर्वानुक्रमणी के सभी छन्दोनिर्देश यथार्थ हों, यह सर्वथा असम्भव है। उसमें निर्दिष्ट छन्द अधिकतर काल्पनिक हैं।

यज्ञ-प्रक्रिया से ऊपर उठा छन्दःप्रवक्ता

वैदिक छन्द.शास्त्र के जितने ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनमें एकमात्र निदानसूत्र ही ऐसा है,जिसका प्रवक्ता आचार्य पतञ्जलि यज्ञप्रक्रिया की दासता से ऊपर उठा हुआ है। पतञ्जलि ने छन्दःप्रवचन करते हुए मन्त्रगत अक्षरसंख्या के साथ-साथ पादगत अवान्तर अर्थ पर विशेष ध्यान रखा है। अतएव केवल पतञ्जलि के छन्दःप्रवचन में अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले नियताक्षर पादों के ह्रास और विकर्ष (वृद्धि) के पूर्वनिर्दिष्ट नियमों का विधान मिलता है। इसी प्रकार हम दैव आदि छन्दों के प्रकरण (अ० ८) में पतञ्जलि के एक असाधारण छन्दोनियम की अभिव्यक्ति दर्शा चुके हैं। उसमें भी पतञ्जलि ने ब्राह्मणवचनों की उपेक्षा करके वास्तविकता का निर्देश किया है।[1]

सर्वसाधारण छन्दःप्रवक्ता पिङ्गल—संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्धि है कि पाणिनीय अष्टाध्यायी और काणादीय वैशेषिक दर्शन के समान पिङ्गल की छन्दोविचिति भी सर्वसाधारण है। अर्थात् उसके छन्दोलक्षण किसी शाखाविशेष अथवा याज्ञिक आदि प्रक्रियाविशेष पर ही आश्रित नहीं हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के व्याख्याता हृषीकेश अपरनाम पेत्ता शास्त्री ने लिखा है—

याष्षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः ।
तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत् ॥[2]

अर्थात्—पिङ्गल नाग आदि ने जो छः छन्दोविचितियाँ रची हैं। उनमें पिङ्गल की छन्दोविचिति सर्वसाधारण है।

---

१. द्र०—इस ग्रन्थ का अ० ८।

२. निदानसूत्र की भूमिका, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

इस दृष्टि से पिङ्गल और पतञ्जलि के छन्दःशास्त्रों का सूक्ष्म अनुशीलन आवश्यक है ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपूर्व साहस—अज्ञात वेदभाष्यकारों में एकमात्र स्वामी दयानन्द सरस्वती ही ऐसा आचार्य है, जिसने अपने वेद-भाष्य में छन्दोनिर्देश करते हुए सर्वानुक्रमणियों का अनुसरण नहीं किया । उन्होंने जिस प्रकार सहस्रों वर्षों से याज्ञिक प्रक्रिया के भार के नीचे दबे हुए लुप्तप्राय वास्तविक (आधिदैविक-आध्यात्मिक) वेदार्थ को पुनरुज्जीवित किया,[1] उसी प्रकार यज्ञप्रक्रियानुगामी सर्वानुक्रमणियों के काल्पनिक छन्दो-निर्देश के भार से दबे मन्त्रों के वास्तविक छन्दों को भी उन्मुक्त किया । सायण आदि भाष्यकार ब्राह्मण आदि में निर्दिष्ट छन्दों की काल्पनिकता को जानते[2] हुए भी उनके भार से मुक्त न हो सके । अर्थात् उन्होंने आंख मीचकर सर्वानुक्रमणी के छन्दोनिर्देशों को दोहराने में ही अपना कल्याण समझा । इस दृष्टि से वैदिक छन्द शास्त्र के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के साहस की जितनी प्रशंसा की जाए, अल्प है ।[3]

सायण आदि की आलोचना—अशेषशेमुषीसम्पन्न स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्रतिभासित हो गया था कि सर्वानुक्रमणियों में निर्दिष्ट छन्द केवल याज्ञिक प्रक्रिया के लिए उपयोगी हो सकते हैं । वेदार्थ करते समय उन-का निर्देश न केवल अनावश्यक है, अपितु स्वरशास्त्र के निरपवाद नियमों से विपरीत होने के कारण अनुपयुक्त भी है । अतएव उन्होंने वेदभाष्य करते हुए ऋक्सर्वानुक्रमणी के छन्दोनिर्देश का आंख मीचकर अनुसरण करनेवाले

---

१. देखिए—'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक हमारा निबन्ध ।

२. इसी लेख में ऐत० ब्रा० भाष्य से उद्धृत 'कृत्रिमा अनुष्टुभः शस्त्वा...' पाठ ।

३. लगभग सन् १९३९ में श्री पं० सातवलेकर जी ने कात्यायन के छन्दो-निर्देश की वास्तविक स्थिति न जानकर ऋक्सर्वानुक्रमणी के आधार पर ही स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य में निर्दिष्ट छन्दों में सहस्रों अशुद्धियां दर्शाने का दुस्साहस किया था । हमारे लेख से उनके लेख का न केवल समा-धान ही होता है, अपितु स्वामी दयानन्द सरस्वती की अद्भुत विद्या, प्रतिभा और साहस का भी परिज्ञान हो जाता है । वस्तुतः वेदार्थ के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती की देन अभूतपूर्व हैं । आवश्यकता है, उनके ऊपर कार्य करने की ।

सायण आदि की तीव्र आलोचना की। वे ऋग्भाष्य १।३६ की उपक्रमणिका में लिखते हैं—

अत्र सायणाचार्यादिभिर्विलसनमोक्षमूलरादिभिश्चैतत्सूक्तस्था [युजो] मन्त्राः सतोबृहतीछन्दस्काः, अयुजो बृहतीछन्दस्काश्च, छन्दःशास्त्राभिप्रायमविदित्वाऽन्यथा व्याख्याता इति मन्तव्यम्।

अर्थात् यहां सायणाचार्य आदि [भारतीयों] और विलसन मैक्समूलर आदि [योरोपियनों] ने इस सूक्त के समसंख्यावाले मन्त्र सतोबृहती छन्दवाले हैं, और विषम संख्यावाले बृहती छन्दवाले, ऐसा छन्दःशास्त्र के अभिप्राय को न जानकर अन्यथा [अयुक्त] व्याख्यान किया है—

इसी प्रकार वे पुनः ऋ० १।४४ के आरम्भ में लिखते हैं—

अत्र सायणाचार्यादिभिर्विलसनमोक्षमूलरादिभिश्च युजः सतोबृहत्योऽयुजो बृहत्य इत्युक्तम्, तदलीकतरम्। इत्थमेतेषां छन्दोविषयकं विज्ञानं सर्वत्रैवास्तीति वेद्यम्।

अर्थात्—सायण, विलसन और मैक्समूलर आदि ने इस सूक्त के समसंख्यावाले मन्त्र सतोबृहती छन्दवाले, और विषम संख्यावाले बृहती छन्दवाले हैं, ऐसा कहा है। वह मिथ्या है। इन लोगों का छन्दोविषयक ज्ञान सर्वत्र इसी प्रकार का [अर्थात् मिथ्या] है।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य मं० १ सूक्त ५३ तथा ६३ में भी सायणादि के छन्दोज्ञान की आलोचना की है।

प्रश्न हो सकता है कि इन सूक्तों के मन्त्रों का जो छन्द सायण आदि ने लिखा, वही कात्यायन आदि ने भी ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि में लिखा है। तब स्वामी दयानन्द सरस्वती कात्यायन आदि के विषय में कुछ न लिखकर उनके अनुगामी सायण आदि पर क्यों बरसे?

इसका उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्व उद्धरण में पठित छन्दःशास्त्राभिप्रायमविदित्वा पदों के अन्तर्गत छिपा हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद की याज्ञिक प्रक्रिया का विरोध कहीं नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों के करने का विधान अपने ग्रन्थों में बहुत्र किया है। उन यज्ञों में कात्यायन आदि द्वारा निर्दिष्ट छन्दों की उपयोगिता है। इसलिये स्वामी दयानन्द ने कात्यायन आदि

के छन्दोनिर्देश को मिथ्या न कहकर उनका अस्थान में उपयोग करनेवाले सायण आदि की अयोग्यता दर्शाई है। इसी अभिप्राय को मन में रखकर छन्दःशास्त्राभिप्रायमविदित्वा (छन्दःशास्त्र का अभिप्राय न जानकर) पदों का प्रयोग किया है। कात्यायन का छन्दःशास्त्र और उसके छन्दोनिर्देश यज्ञप्रक्रिया में उपयुक्त हैं। वेद के अर्थज्ञान में न केवल उनकी उपयोगिता ही है, अपितु बहुत्र उनके आधार पर अर्थ का अनर्थ होना भी सम्भव है। इसलिये वेदार्थ करते समय वेद के सामान्य छन्दोविधायक आचार्य पिङ्गल के छन्द शास्त्र का आश्रय लेना ही उचित है। यतः सायण आदि ने इस पर विचार न करके कात्यायनीय छन्दोनिर्देश का अन्ध अनुकरण किया है, इसलिए उनकी गर्हा युक्त है।

इस प्रकार हमने इस प्रकरण में ब्राह्मण श्रौत और सर्वानुक्रमणियों में निर्दिष्ट छन्दों का असामञ्जस्य भले प्रकार स्पष्ट कर दिया। और हमने यह भी अभिव्यक्त कर दिया कि इन ग्रन्थों में जो छन्दोनिर्देश उपलब्ध होता है, वह केवल तात्कालिक याज्ञिक प्रक्रिया की उपपत्ति के लिए है। इसीलिए अधिकतर वे वास्तविकता से बहुत दूर चले गए हैं, अर्थात् कृत्रिम हैं। अनेक स्थानों पर उक्त छन्दों को स्वीकार करने में स्वरशास्त्र के निरपवाद नियमों को भी तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। ऋचाओं के प्रतिपाद के अवान्तर अर्थ करने में भी बहुत गड़बड़ी होती है। इसलिए वेदार्थ की दृष्टि से ब्राह्मण आदि में निर्दिष्ट छन्द सर्वथा हेय हैं। मन्त्र का वास्तविक छन्द तो वही हो सकता है, जिससे श्रवणमात्र से मन्त्रगत वास्तविक अक्षरसंख्या का बोध हो जाए। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का छन्दोनिर्देश ही युक्त कहा जा सकता है। यदि अक्षरगणना में हुई भूल के कारण उसमें कहीं अशुद्धि हो, तो वह क्षम्य है, परिशोधनीय है।

उपसंहार

वैदिक छन्दःसम्बन्धी जो सामग्री विविध वैदिक ग्रन्थों में बिखरी हुई थी, उसे हमने इस ग्रन्थ में यथाशक्ति एकत्रित करने का प्रयत्न किया है। अनेक विषयों पर हमने सर्वथा नया प्रकाश भी डाला है। आरम्भ के ५ अध्यायों में सर्वथा नए विषयों का समावेश है। अध्याय ५ और १८ इस ग्रन्थ के मौलिक अध्याय हैं। इन अध्यायों में हमने जो कुछ लिखा है, उससे मतभेद हो सकता है, परन्तु हमने इन अध्यायों में इतनी ठोस सामग्री भर दी है कि हर एक

व्यक्ति को इन विषयों पर विचार अवश्य करना पड़ेगा। चाहे वे हमारे परिणाम को स्वीकार करें, अथवा नहीं॥

—:०:—

इति अजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गतविरकच्यावासाभिजनेन
श्रीयमुनादेवीगौरीलालाचार्ययोरात्मजेन
मीमांसकशिरोमणि-महामहोपाध्याय-
श्रीचिन्नस्वामिनोऽन्तेवासिना
भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेय-चरणेन
माध्यन्दिनिना
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचिता
वैदिक-छन्दोमीमांसा
पूर्त्तिमगात्॥

शुभं भूयात्

प्रथम-परिशिष्ट

परिवर्धन परिवर्तन संशोधन

पृष्ठ ३२, पं० १७—कनीना—तै० आ० १।२७।६ में कनीन का स्त्रीलिङ्ग कनीनी भी पठित है—कुमारीषु कनीनीषु। कनीनी भी कनीना के समान मध्योदात्त है। सायण ने 'कानीनी' के अर्थ में प्रयुक्त माना है—कनीनीषु कुमार्याः पुत्रीषु। हमारे विचार में यह ठीक नहीं है।

पृष्ठ ६४, कालम २, संख्या २७ के आगे—शांखायन आचार्य का नाम भी जोड़ें। शांखायन श्रौतसूत्र के सप्तमाध्याय में कुछ छन्दोलक्षण निर्दिष्ट हैं।

पृष्ठ ६४, कालम २, संख्या २८ के आगे—२९ कात्यायन, ३० गरुड़ और ३१ गार्ग्य तीन नाम मुद्रणदोष से छूट गये हैं।

पृष्ठ ६४, पं० १८ में ३१ संख्या को ३२ बनावें।

,, ,, ,, २० में ३२ संख्या को ३३ बनावें।

,, ,, ,, २५ में 'वर्तमान' शब्द के स्थान में 'विद्यमान' शोधें।

,, ,, ,, २७ में 'पृष्ठ ५०३' के आगे जोड़ें—अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी के अन्त के पटल के अनुसार आश्वलायन की भी कोई ऋक्सर्वानुक्रमणी थी।

पृष्ठ ६६, पं० ५ में निर्दिष्ट 'रत्नमञ्जूषा' ग्रन्थ के लेखक का नाम अज्ञात है। यह जैनग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 'भारतीय ज्ञानपीठ' काशी से प्रकाशित हुआ है।

पृष्ठ ७०, पं० २६ में 'अष्टक ८ से' के स्थान में 'अष्टक ६ से' शोधें।

पृष्ठ ९५, पं० २४—शक्वरी—तै०सं० १।७।११ के 'सप्तपदां शक्वरिमुदजयत्' पाठ में 'शक्वरि' ह्रस्व इकारान्त भी श्रुत है। तै०सं० २।६।२ में दीर्घ ईकारान्त का भी निर्देश है।

अ० ९, १०, ११, १२ में वर्णित छन्दों में से कतिपय छन्दों का निर्देश शांखायन श्रौतसूत्र के अ० ७ कं० २५-२६-२७ में भी उपलब्ध होता है। पाठक उन्हें भी यथास्थान जोड़ें।

पृष्ठ १९१, पं० २९–याजुष सर्वानुक्रमणी के टीकाकार०—याजुष सर्वानुक्रमणी की एक अज्ञातकर्तृक टीका का हस्तलेख 'रसायनशाला गोण्डल' के हस्तलेख संग्रह में है। उस के आरम्भ में भी १०६ अक्षरों से अधिक अक्षरोंवाले मन्त्रों का छन्द नहीं माना है। इस विषय में महीधरभाष्य (बम्बई सं०) पृष्ठ २, कालम २ भी द्रष्टव्य है।

एक अज्ञात छन्दोविचिति—आपस्तम्ब श्रौत ६।१७।८ के भाष्य में धूर्त स्वामी लिखता है—

उपचरणीयासु द्विपदत्वं नेष्यत इति छन्दोविचितिवचनात्।

इस पर वृत्तिकार रामाण्डार लिखता है—

उपचरणीयासु प्रयुज्यमानासु।

अर्थात्—[यज्ञ में] प्रयुज्यमान द्विपदाओं का द्विपदत्व [अर्थात् दो पदों के अन्त में अवसान करना] इष्ट नहीं है, छन्दोविचिति के वचनानुसार।

धूर्त स्वामी के मैसूर पाठ में द्विपदात्वं पाठ है, वह चिन्त्य है। बड़ौदा का द्विपदत्वं पाठ युक्त है।

छन्दोविचिति का उक्त मत उपलब्ध छन्दोविचितियों में प्राप्त नहीं होता।

मन्त्र का समान पाठ होने पर भी छन्दोभेद—छान्दोग्य मन्त्रब्राह्मण पर कलकत्ता से सायणाचार्य और गुणविष्णु का भाष्य छपा है। उस में मन्त्र वा मन्त्रों का समान पाठ होने पर भी लगभग २५-३० स्थानों पर दोनों व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न छन्दों का निर्देश किया है। समान मन्त्रपाठ होने पर भी व्याख्याकार भिन्न-भिन्न छन्दों का निर्देश करते हैं, इसको जानने के लिये इन दोनों की व्याख्याएं देखने योग्य हैं।

ऐसा ही एक स्थल श्री पं० रामशङ्कर भट्टाचार्य ने अपने २०-९-६१ ई० के पत्र में दर्शाया है—

'ललित सहस्रनाम के भाष्य में भास्कर ने लिखा है—अत एव अप्स्वन्तरमितिमन्त्रस्य याजुषाथर्वणबह्वृचैर्भिन्नछन्दस्कत्वेन पाठेऽपि भेदानङ्गीकारस्तान्त्रिकाणां संगच्छते। तदुक्तम्—"अप्स्वन्तर इति मन्त्रेण शोधयेदम्बुमण्डलम्। आर्च्योष्णिहा पुरस्ताच्च बृहत्या पुर उष्णिहा" इति। एवं युञ्जति हरी इषिरस्येति मन्त्रो बह्वृचछन्दोगाभ्यां छन्दोभेदेन पठ्यमानोऽपि न भिद्यते।' ललित सहस्रनाम भास्करभाष्य पृष्ठ ७॥

—:०:—

द्वितीय-परिशिष्ट

मन्त्राणाम् आधिदैविकार्थ-विज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्[1]

माननीया वैदिकवाङ्मयपरिशीलने बद्धपरिकरा विद्वद्वरेण्याः ! विदितमेव खलु तत्रभवद्भ्यो यद् वैदिकच्छन्दसां मन्त्राक्षरसंख्यापरिज्ञानमेव प्रयोजनमिति वैदिका मन्यन्ते। तत्फलं तु यज्ञकर्मणि आनुष्टुभं शंसति, त्रैष्टुभं शंसति इति विधिवाक्येषु तत्तच्छन्दोयुक्तानामृचां सुकरो विनियोगः। सत्यप्येवम्, वैदिकछन्दःशास्त्रस्याध्ययनकाल एव मम मनसि द्वे शङ्के उदपद्येताम्। तत्र प्रथमा—शिक्षादिषु षट्सु वेदाङ्गेषु छन्दःशास्त्रं विहायान्येषां वेदाङ्गानां साक्षात् परम्परया वा वेदार्थज्ञाने साहाय्यं वेदविद्याविचक्षणाः प्रायेण स्वीकुर्वते। तथा सति वेदाङ्गमध्यपतितत्वात् छन्दःशास्त्रेणापि अवश्यं छन्दोज्ञानद्वारा मन्त्रार्थपरिज्ञाने कथंचित् साहाय्यं विधातव्यमेव। अन्यथा वेदार्थोपयोगिषु वेदाङ्गेषु तस्य परिगणनमसम्बद्धं स्याद् इति। द्वितीया—प्रतिछन्दो नियताऽक्षरसंख्या बहुषु मन्त्रेषु एकद्व्यक्षरन्यूनाधिक्येनातिक्रान्ता समुपलभ्यते। एतादृगक्षरन्यूनाधिक्ये किं कारणम्? किमेतद् अक्षरन्यूनाधिक्यं मन्त्रकाराणां छन्दोरचनाया अकौशलं सूचयति, यद्वाऽस्ति तादृशो विशिष्टोऽर्थो वाच्यः, ? यम् अक्षरन्यूनाधिक्येन बोधयितुमभिलषति।

सुदीर्घेऽस्मिन् काले उभयोरपि शङ्कयोः समाधानार्थं मयाऽनेके कृतभूरिपरिश्रमा वैदिका विद्वांसः समपृच्छ्यन्त। परन्तु नैव मया किंचिद् हृदयग्राहि समाधानमेकस्या अपि शङ्कायाः समुपलब्धम्। विषयमिमं सततमनुशीलयता मया द्वित्रिवर्षेभ्यः प्राक् समाधानसूचिका काचिद् आशाकणिका समुपलब्धा। तामेवाहमस्मिन् निबन्धे संक्षेपेण समुपस्थापयामि।

यद्यपि वैदिकेषु छन्दःसु त्रयः सप्तकाः गायत्र्यादयश्च प्राञ्चि छन्दांसि निरू-

---

[1] यह निबन्ध 'ओरियण्टल रिसर्च कान्फ्रेंस' के सन् १९७८ के पूना के अधिवेशन में वेदविभाग में मैंने पढ़ा था। समयाभाव तथा अस्वस्थता के कारण इसका भाषार्थ नहीं दिया जा रहा है।

प्यन्ते । तथाप्यद्ययावन्मया प्रथमसप्तकस्थानां छन्दसां विषय एव किञ्चिदध्ययनं कृतम् । तत्रापि न सर्वे ऋग्वेदीयाः तत्तच्छन्दोऽन्विता सर्वे मन्त्रा परिशीलिताः । अत एवास्मिन् विषये यत्किञ्चिन्मया लिख्यते, तस्य प्रयोजनं छन्दांसि मन्त्रार्थविज्ञाने साहाय्यं विधातुं शक्नुवन्ति न वेति विचारपरम्परायाः प्रवर्तनमेव ।

छन्दांसि वेदार्थविज्ञाने सहायकान्युतानुपयोगीनि, इत्यस्मिन् विषये-द्विविधान्यपि वचनानि वैदिकवाङ्मये समुपलभ्यन्ते । तत्र तावद् यैर्वचनैश्छन्दसां वेदार्थज्ञाने सहायीभावः सूच्यते, तान्युपस्थाप्यन्ते—

१. जैमिनिराचार्यः पूर्वमीमांसाशास्त्र ऋग्लक्षणमित्थमाचष्टे—यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् (मी० २।१।३५)। एतेन लक्षणेन ऋक्षु अर्थवशेन पादव्यवस्थां प्रतिपादयन् सूत्रकारो मन्त्रार्थविज्ञाने छन्दसां सहायकत्वं प्रज्ञापयति । अत्र भाष्यकृता शबरस्वामिना अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) इत्यस्यामृचि प्रथमचरणे अवान्तरस्याप्यर्थस्यापरिसमाप्तिमवलोकयता सूत्रकारोक्तस्य ऋग्लक्षणस्य प्रायिकत्वमुक्त्वा क्वचिच्छन्दोऽनुरोधेनापि पादव्यवस्था समादृता । अस्मन्मते त्वत्रापि निदानसूत्रस्थस्याश्छन्दोविचित्याः अष्टाक्षर आपञ्चाक्षतायाः प्रतिक्रामति, आदशाक्षरताया अभिक्रामति लक्षणाभ्याम् अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः इत्येवं प्रथमं पादं नूतनैरुत इत्येवं द्वितीयं पादं स्वीकृत्यार्थवशेन पादव्यवस्थाऽञ्जसा व्यवस्थापयितुं शक्यते । अतः सूत्रकारस्य जैमिनेर्लक्षणं सर्वथा निर्दोषम् ।

२. ऋग्भाष्यकारो वेङ्कटमाधवोऽपि जैमिनीयं लक्षणमनुरुध्य द्विरुक्तवान् । पादे-पादे परिसमाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः इतिषष्ठाष्टकस्याष्टमाध्यायस्यादौ चतुर्दशे श्लोक उक्तम् ।

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः इत्याख्यातानुक्रमण्या आदौ छन्दोऽनुक्रमणिविवरणेऽलेखि ।

छन्दोविज्ञानं मन्त्रार्थविज्ञाने कथं साहाय्यं विदधातीत्यत्रोक्तम्—

पादावसानविज्ञानं छन्दोज्ञानेन सिद्ध्यति इत्यृग्भाष्यादौ ।

एवं छन्दोज्ञानेन पादावसानं विज्ञायते, तज्ज्ञाने चावान्तराः पादार्था विज्ञायन्त इति वेङ्कटमाधवस्याभिप्रायः ।

३. आर्षेयब्राह्मणे पठ्यते—यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते ।

अत्र ब्राह्मणपदेन विनियोजकं ब्राह्मणम् इति लक्षणेन विनियोग उच्यते। दैवतविनियोगयोर्मन्त्रार्थज्ञाने सहायकत्वं सर्वैरपि स्वीक्रियते। आर्षज्ञानमपि मन्त्रार्थज्ञाने सहायकारीति स्कन्दवेङ्कटमाधवौ स्वग्भाष्यस्यादौ स्वीकुर्वाते। एवं तन्मध्यपतितन्यायेन छन्दांस्यपि मन्त्रार्थविज्ञाने सहायकानि इत्यार्षेयब्राह्मणवचनाद् विज्ञायते।

४ ऋक्सर्वानुक्रमण्यां कात्यायन आह—अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरुपधावन्। अस्यायमाशयः—मन्त्राणामर्थं ज्ञातुकामा ऋषयश्छन्दसां साहाय्येन मन्त्राणां या देवता ये मन्त्रार्थास्तान् प्राप्तवन्तो ज्ञातवन्तः।

५. सायणाचार्य ऋग्भाष्यस्योपोद्घाते षडङ्गप्रकरणे उपक्रमोपसंहारयोः सर्वेषामपि वेदाङ्गानां वेदार्थोपयोगित्वं मुक्तकण्ठेनोक्तवान्। तथापि छन्दोज्ञानं वेदार्थविज्ञाने कथं सहायकारीति न विस्पष्टमुक्तम्।

द्वितीयं छन्दांसि वेदार्थज्ञानेऽनुपयोगीनीति पक्षं केवलमृग्भाष्यकारः स्कन्दस्वाम्येव कण्ठतो ब्रवीति। तदुक्तम्—तत्रार्षदैवतयोः अर्थाविबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात् इति (ऋग्भाष्यारम्भे)।

यद्यपि मध्वाचार्यविरचितस्यग्भाष्यस्य टीकाकृता जयतीर्थेन स्कन्दस्वाम्युक्तस्य छन्दोज्ञानस्यानुपयुज्यमानत्वप्रतिपादकवचनस्य 'एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति' इत्येवं खण्डनं कृतम्। तथापि न तेन न च तद्विवृत्तिकारेण नरसिंहेन छन्दोज्ञानं कथं वेदार्थज्ञाने साहाय्यं विदधातीति न व्यक्तीकृतम्।

एवं च भारतीयवाङ्मये छन्दोविषये द्विविधान्यपि वचांस्युपलभ्यन्ते। अतश्छन्दोज्ञानं मन्त्रार्थज्ञाने साहाय्यं विधत्ते न वेति जायते विचारणा। सहायकारित्वेऽपि च किं पादावसानविज्ञानेनावान्तरपादार्थविज्ञाने साहाय्यमाचरति, उतान्याऽपि काचन विधा वर्तते, यया छन्दोज्ञानं वेदार्थविज्ञाने साहाय्यमादधाति इत्यपि विचारणीयं भवति।

यथा च जैमिनीयं वेङ्कटमाधवीयं च मतम्, तथा सति एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकताया न किमपि प्रयोजनं व्याख्यातं भवति। अतो मयाऽन्यो यो निरुक्तकारेण यास्केन देवतानां भक्तिसाहचर्यं व्याचक्षता मार्गः संसूचितः,तमनुरुध्य कश्चिद् विचार इह प्रस्तूयते। अत एवास्य लेखनास्मिन् 'आधिदैविकार्थविज्ञाने' इति विशेषणं प्रत्तम्।

द्युलोक ...५०

...४९

जगती ४८ .४८

...४७

...४६

...४५

त्रिष्टुप् ४४ ...४४

...४३

...४२

...४१

पङ्क्ति ४० ...४०

...३९

...३८

...३७

बृहती ३६ ...३६

...३५

...३४

...३३

अनुष्टुप् ३२ ...३२

...३१

...३०

...२९

उष्णिक् २८ ...२८

...२७

...२६

...२५

गायत्री २४ — ...२४

...२३

पृथिवि ...२२

भगवता यास्केन दैवतप्रकरणे (अ० ७।८–११) अग्न्यादीनां भक्ति-साहचर्यं प्रतिपादयता एवमुच्यते—

अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तः गायत्री ......। अथैतानीन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्........। अथैतान्यादित्यभक्तीनि—असौ लोकस्तृतीयं सवनं वर्षा जगती...। एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषं कल्पयीत। अनुष्टुप् पृथिव्यायतनम्......। पङ्क्तिरन्त-रिक्षायतनम्......। अतिच्छन्दांसि द्युभक्तीनि इति।

एतेन भक्तिसाहचर्यव्याख्यानेन प्रथम-सप्तकस्थानां गायत्र्यादिजगत्यन्तानां छन्दसां क्रमेण पृथिव्या आरभ्य द्युलोकपर्यन्तं स्थिताभिस्तत्तद्देवताभिः सह सम्बन्धः प्रतिपादितो भवति।

पृथिवीमारभ्याऽऽद्युलोकं ये मरुतो विचरन्ति ते स्थानभेदात् सप्तविधाः। तेऽपि पुनः सप्तसप्तभिर्भेदैर्विभज्यमानाः 'सप्त सप्त हि मारुता गणाः' (श० ब्रा० ९।३।१।२५) इति वैदिकाः समामनन्ति। इमे एव सप्तविधा मरुतः पुराणेषु परिवहशब्देनोच्यन्ते। एवं च पृथिवीतलादारभ्य द्युलोकपर्यन्तं यदन्तरिक्षं तत्सप्तभागैर्विभज्य प्रतिभागं गायत्र्यादिक्रमेण छन्दसां विनियोगो द्रष्टव्यः। यथा—

]विविधच्छन्दोभिः स्तुतानाम् आधिदैविकदेवतानां स्थिति-निदर्शकं चित्रं सम्मुखे पृष्ठे द्रष्टव्यम्।]

एवं सप्तविधच्छन्दोऽन्वितैर्मन्त्रैस्तत्तत्स्थानस्था अग्निवाय्विन्द्रवैश्वानर-सवित्रादयो देवताः स्तूयन्ते वर्ण्यन्ते च इति निष्कृष्टोऽर्थः समासेन।

यद्यपि निरुक्तकृता यास्केन वैदिका देवताः पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानभेदेन विभज्योपदिष्टाः, तथापि तासां देवतानां सर्वस्थानसंयोगो न शङ्कनीयः। यतो हि सर्वा अपि देवताः त्रिता त्रिवृता वोच्यन्ते। त्रितत्रिवृच्छब्दाभ्यां च देवतानां त्रिस्थानभागित्वं सूच्यते। इह निदर्शनार्थं कतिपयानां देवतानां त्रिवृत्त्वमर्थात् त्रिस्थानभागित्वमुच्यते—

पृथिवीस्थाने पठितस्याग्नेस्त्रिवृत्त्वं=त्रिस्थानभागित्वं 'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्' (ऋ० १०।८८।१०) इत्यृक् प्रत्यक्षं वक्ति। व्याख्याता चेयमृक् तथैव यास्केन—तमकुर्वंस्त्रेधा भावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः (निरु० ७।२८) इति।

वायोस्त्रिवृत्त्वं 'वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते' इति स्पष्टं शतपथे (८।४।१।९) श्रूयते।

इन्द्रस्य त्रिवृत्त्वम् 'इन्द्रो यद् वज्री धृषमाणोऽन्धसा भिनद् वलस्य परिधीँरिव त्रितः' इत्यृङ्मन्त्रे(ऋ० १।५२।५)व्यक्तमुच्यते। यास्काचार्योऽपि 'यस्य त्रितो व्योजसा' इत्यृङ्मन्त्रं (ऋ० १।१८७।१) व्याचक्षाण आह— 'यस्य त्रित ओजसा बलेन। त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति' (निरु० ९।२५) इति।

वैश्वानरस्य त्रिवृत्त्वं तत्तत्स्थानित्वनिदर्शकैर्वचनैर्विज्ञायते। तथा ह्यस्य द्युस्थानित्वम् 'एष वाऽग्निर्वैश्वानरो यदादित्यः' इति मैत्रायणीयानामाम्नाये (मै०सं० १।६।६) श्रूयते। अन्तरिक्षस्थानित्वं 'तत्को वैश्वानरः? मध्यम इत्याचार्याः। वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति···वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत् काष्ठा अव शाम्बरं भेत्' इत्यृङ्मन्त्रम् (ऋ० १।५९।६) उदाहरन् यास्कः प्रतिपादयाञ्चकार (निरु० ७।२२-२३)। पृथिवीस्थानित्वं चास्य 'वैश्वानरं बिभ्रति भूमिरग्निम्' (अथर्व १२।१।६) इत्याथर्वणी श्रुतिः श्रुत्यैव प्रतिपादयति।

एवमाद्यः सप्तभिर्गायत्र्यादिछन्दोभिस्स्तुता देवता तत्तत्सम्बन्धिनि मरुन्मण्डले परिवहे वा विद्यमाना एव स्तूयन्ते न सामान्यरूपेण। एतस्य विषयस्य किञ्चिन्निदर्शनाय उषोदेवताया मन्त्रा उपस्थाप्यन्ते।

उषोदेवता द्युस्थाना वर्तते। तस्याः कालो रात्र्याः पश्चिमो यामो ब्राह्ममुहूर्ताख्यः। अस्मिन् काले उषसः प्रकाशो सुदूरम् आकाशस्योर्ध्वभागे प्रथममुपलभ्यते। तदनु अयमेवोससः प्रकाशो यथा-यथा सूर्योदयस्य कालः समीपमेति तथातथाऽधस्ताद् अवतरति। एवमुषोदेवता द्युस्थाना सती आपृथिवीं सर्वाणि स्थानानि व्याप्नोति। अत एवास्याः स्तुतिः प्रथमसप्तकस्थैः सर्वैरपि छन्दोभिऋग्वेद उपलभ्यते। प्रतिच्छन्दो मन्त्रा ऋग्वेद इत्थमुपलभ्यन्ते— जागताः ४ चत्वारः, त्रैष्टुभाः १२१ एकविंशत्यधिकं शतसंख्याकाः, पाङ्क्ताः २८ अष्टाविंशतिः, बार्हताः १२ द्वादश, आनुष्टुभाः ४ चत्वारः, औष्णिहाः ३ त्रयः, गायत्र्याश्च ३ त्रयः।

यथायथा प्रकाशस्य मात्रा वर्धते तथातथोषस उषस्त्वं ह्रासतामेति। तत्तत्स्थानीयाया उषसः स्तुतौ छन्दांस्यपि यथाक्रमं परिवर्तन्ते। तथैव उषसो वर्णनेऽपि परिवर्तनं समुपलभ्यते। यथाछन्दो वर्णन-परिवर्तनं त्वित्थं द्रष्टुं शक्यते—

उषस आद्योपलब्धिराकाशस्य पुरोभागे अत्यूर्ध्वे स्वल्पे स्थाने रक्ताभेन प्रकाशेन संयुक्ता गृह्यते। अतो द्युस्थानाया उषसो जागतेषु मन्त्रेष्वित्थं स्तुतिः श्रूयते—एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वेऽर्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥ (ऋ० १।९२।१)।

अस्मिन्मन्त्रे रजसः पूर्वेऽर्धे इत्येतैः पदैराकाशस्य पूर्वभागे स्वल्पे स्थाने उषसः स्थितिरुक्ता। केतुर्यथा दूराद् दृश्यते, परन्तु तस्य दण्डो नोपलभ्यते, तथैवोषसः स्थितिः केतुमक्रत पदाभ्यामुच्यते। यथा कोशान्निष्काश्यमानान्यायुधान्यकस्मात् प्रकाशन्ते, तथैव तमसि प्रकाशमाना उषो देवता निष्कृण्वाना आयुधानीव पदाभ्यां वर्ण्यते। उषस आद्यप्रकाशस्य रक्ताभत्वमपि गावोऽरुषीर्यन्ति पदैः स्पष्टीक्रियते। एवमेकस्मिन्नेव मन्त्रे द्युस्थानाया उषसो वर्णनमत्यन्तंश्चमत्कारिभिश्शब्दैः समुपलभ्यते।

यदोषा पूर्वस्थानात् किञ्चिदवतरति तदोर्ध्वभागे प्रकाशस्य विस्पष्टा स्थितिर्गृह्यते। एतत्स्थानस्थाया उषसो यथा मनोहारि वर्णनं त्रैष्टुभमन्त्रेष्वेभिः पदैरुपलभ्यते—इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतोऽजनिष्ट विभ्वा (ऋ० १।११३।१) इति।

उषसः प्राक्तनो रक्ताभः प्रकाशः शनकैः श्वेतीभावं याति। एतदवस्थाया उषसो वर्णनम् अरुणेभिरश्वैरोषा याति(ऋ० १।११३।१४); अश्वेद् युवतिः पुरस्ताद् (ऋ० १।१२४।११); युवतिः शुक्रवासाः (ऋ० १।११३।७); रुषद् वासो बिभ्रती (ऋ० ७।७७।२); इत्यादिपदैरुपलभ्यते। अस्यामवस्थायामपि प्रकाशस्योपरिभाग एव व्यक्तोपलब्धिर्भवति। एतस्य निदर्शनम् ऊर्ध्वेव स्नाती(ऋ० ५।८०।५); आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमाना (ऋ० ६।६४।२) इत्याद्युपमाभिः क्रियते। उषसः पर्वतसानोरिव स्थितिः उपो अद्रिसानो (ऋ० ६।६५।५) इति संबुद्धया; ऊर्ध्वा अस्या अञ्जयो विश्रयन्ते (ऋ० ७।७८।१) पदैश्च व्यज्यते। एतत्कालिकस्य प्रकाशस्याल्पता न दिशो मिनाति (ऋ० ५।८०।४); दभ्रं पश्यद्भ्यः (ऋ० १।११३।५); जार इवाचरन्ती (ऋ० ७।७६।३) इत्यादिपदैः संसूच्यते।

तत्पश्चाद् यदोषाः पूर्वस्थानात् किञ्चिदवतरति, तदा तस्याः प्रकाश आधिक्यं भजते। एतस्याः स्थितेर्वर्णनं पाङ्क्तेषु मन्त्रेष्वित्थं दृश्यते—द्युम्नं बृहद् यश उषो मघोन्या वह (ऋ० ५।७९।७); गोमतीरिष आवह······।

साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः (ऋ० ५।७९।८); नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति (ऋ० ५।७९।९) इति ।

तदुत्तरकालं यदोषसः प्रकाशः पूर्वस्मात् स्थानान्नीचैरवतरति, वृद्धिं च गच्छन् भूमिं स्पृशति दशसु दिक्षु च व्याप्नोति, एतादृश्या अवस्थाया निरूपणं बार्हतमन्त्रेषूपलभ्यते । तथाहि—जरयन्ती वृजनं पद्वद् ईयते (ऋ० १।४८।५); चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्यन्तर्दशसु बाहुषु (ऋ० ८।१०१।१३) इति ।

ततः पश्चाद् यदोषसः प्रकाशस्ततोऽधस्तादावर्तते, तदा सोषाः रश्मिभिस्तमो विवासयन्ती विश्वं जगद् अवभासयति । तदुक्तम्—व्युच्छन्ति हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम् (ऋ० १।४९।४) ।

ततोऽवरकालं यदोषसः प्रकाशो नीचैः प्रसरति, तदा सा भूमभिरश्वैर्गोभिः (द्विविधरश्मिभिः) सम्पृक्ता सती विशेषेण प्रकाशते । एतादृशी उषो अद्येह गोमत्यश्ववति विभावरि (ऋ० १।९२।१४) इत्यादिभिः विशिष्टैः सम्बोधनैः सम्बुध्यते ।

अन्ते यदोषा पृथिवीतलमवतरति, तदा तस्याः शुक्रेण प्रकाशेन आद्युलोकं सर्वं जगत् प्रकाशितो भवति । तथा चाह—आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम् (ऋ० ४।५२।७) ।

एवं यथोषोदेवताकमन्त्राणां तत्तच्छन्दोऽनुरोधेन तत्तत्स्थानविशिष्टाया उषोदेवताया वर्णनं निदर्शनार्थं संक्षेपेणोपन्यस्तम्, तथैव अन्यासामपि देवतानां तत्तच्छन्दोऽनुरोधेन तत्तत्स्थानविशिष्टानामर्थोऽभ्यूहितव्यः ।

सम्प्रति प्रतिच्छन्दः समुपलभ्यमानाया एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकतायाः किञ्चित् प्रयोजनं प्रस्तूयते । एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकतया मन्त्रार्थविज्ञाने कथं वैशिष्ट्यं जायते, इत्यपि पूर्वेणैव मार्गेण विज्ञातुं सुशकम् । पूर्वं पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं ये सप्त विभागा निर्दिशिताः, यथास्थानं च गायत्र्यादिछन्दसां निर्देशो व्यधायि, स छन्दसां निर्देशः प्रतिछन्दः पूर्णाक्षरसंख्यकानां विज्ञेयः। अधुना पूर्णाक्षरसंख्याकरेखाया अधस्ताद् द्वे रेखे कल्पनीये । तत्र प्रथमा रेखा एकाक्षरन्यूनछन्दसः स्थानं निदर्शयति । ततोऽधस्तात् द्वितीया रेखा द्व्यक्षरन्यूनछन्दसः स्थानं द्योतयति । एवमेव पूर्णाक्षरसंख्याकरेखाया उपरिष्टाद् द्वे रेखे कल्पनीये । तत्रापि प्रथमा रेखा एकाक्षराधिकछन्दसः स्थानम्, अपरा तदुपरिष्ठा द्व्यक्षराधिकछन्दसः स्थानं संकेतयति । एतेषामेकद्व्यक्षरन्यूनाधिकसंख्यकानां छन्दसा-

मपि पूर्वचित्रस्य दक्षिणभागे यथोक्तां रेखां प्रकल्प्य अक्षरसंख्या-निदर्शनेन संकेतः संसूचितः ।

एवं च प्रतिछन्दो विभागे प्रकल्पिते प्रथमस्य द्वयक्षराधिकस्य (२६ अक्षरस्य) गायत्रीछन्दसो यत् स्थानं तदेव तदुत्तरस्य द्वयक्षरन्यूनस्य (२६ अक्षरस्य) उष्णिहोऽपि स्थानमापद्यते । एवं चैतादृक् स्थानं पूर्वोत्तरयोश्छन्दसोः सङ्गमस्थानं भवति । एतादृक् संगमस्थानस्थितं छन्दः कदाचिद् द्वयक्षरन्यून-छन्दसोऽन्तर्गतं भवति, कदाचिच्च द्वयक्षराधिकछन्दसोऽन्तर्गतम् । तत्र 'द्वयक्षराधिकं पूर्वछन्दः उत द्वयक्षरन्यूनम् उत्तरछन्द;' इत्याशङ्कायां छन्दःसूत्रकारः पिङ्गलाचार्यो व्यवस्थां विदधाति—आदितः संदिग्धे (३।६१) इति । अस्यायं भावः—यदि कस्मिंश्चित् षड्विंशत्यक्षरपरिमिते मन्त्रे सन्देहः स्यात्, यदस्य द्वयक्षराधिकगायत्रीछन्द उत द्वयक्षरन्यूनमुष्णिक्छन्द इति, तत्र प्रथमपादाक्षरसंख्यया निर्णयो विधातव्यः । यदि प्रथमः पादोऽष्टाक्षरस्तर्हि तस्य द्वयक्षराधिकं गायत्रीछन्दो ज्ञेयम्, यदि द्वादशाक्षरः प्रथमः पादस्तर्हि तस्य द्वयक्षरन्यूनोष्णिक्छन्दः कल्पनीयम् । एवं सर्वत्र संगमस्थानस्थयोश्छन्दसोर्निर्णयो विधेयः । एवं संगमस्थानस्था देवता कदाचिद् द्वयक्षराधिकेन छन्दसा स्तूयते, कदाचिच्च द्वयक्षरहीनेन छन्दसा । एवं च स्थूलतया विभक्तानि सप्त-सप्त स्थानानि पुनर् एकद्वयक्षरन्यूनाधिकछन्दोऽनुरोधेन चतुर्धा विभज्यन्ते । तथा सति प्रतिदेवतम् अष्टाविंशतिधा भिन्ना स्तुतिरुपपद्यते, इत्यहो वैदिकवर्णनस्य सौक्ष्म्यम् !! सप्त मरुतोऽपि सप्त-सप्तभेदभिन्नाः । एवं च प्रतिदेवतम् एकोनपञ्चाशद् भेदभिन्ना स्तुतिः कल्पनीया । एतादृक् सूक्ष्मवर्णनस्याधारो न मया साक्षादुपलब्धः, तथाप्येतादृक्सूक्ष्मवर्णनस्याऽऽधारोऽधोलिखिते ब्राह्मणवचने निगूढो वर्तत इति विश्वसीमि—

अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरुपधावन (उद्धृत-ऋक्सर्वा २।७)

अस्यायमभिप्रायः—मन्त्राणाम् अर्थान् ज्ञातुकामा ऋषयश्छन्दोभिश्छन्दसां साहाय्येन मन्त्राणां या इन्द्राद्या देवतास्तासां सामीप्यं लब्धवन्तः । अर्थात् छन्दोऽनुरोधेन देवतानां स्थितिपमुलभ्य मन्त्राणां विशिष्टान् अर्थान् ज्ञातवन्तः ।

भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिभिः द्वात्रिंशदुत्तरैकोनविंशतितमे वैक्रमाब्दे (१८७५ खीस्ताब्दे) विधीयमानेषु पञ्चदशविशिष्टेषु प्रवचनेषु पञ्चमे वेदविषयके प्रवचनेऽभिहितम्—पदार्थज्ञानविषये वेदेषु महती दक्षता विद्यते । तेषां तथाविधाभिधाने क आधार इति न वक्तुं समर्थः ? भवतु कश्चिदप्याधारः, तथापि पदार्थविज्ञानस्य सौक्ष्म्यप्रतिपादिका छन्दसामाधारेण या मन्त्रार्थविज्ञानशैली मयेह प्रस्तुता साऽप्यतितरां विचारार्हा वर्तते ।

न्यूनाधिकाक्षरछन्दसा एकस्या एव देवताया वर्णने यद् वैशिष्ट्यं पूर्वमुपपादितत्, तस्य निदर्शनाय सवितृदेवताके गायत्रीछन्दस्के द्वे ऋचावुदाह्रियेते । एतदर्थस्य वैशिष्ट्यबोधनाय पृथिवीस्थानीयस्य प्रथमपरिवहस्य मुख्यं स्थानं कल्पनीयम् । अस्मन्मते तु मानवो यस्मिन् पृथिव्याः प्रदेशे तिष्ठन्ति, तदेव पृथिवीतलं प्रथमपरिवहस्य मुख्यं स्थानम् । तदनुरुद्ध्य पूर्वस्यां दिशि आकाशप्रदेशेऽप्येका रेखाऽङ्कनीया (द्र०—पूर्वचित्रे वामभागे) । इदमेव च चतुर्विंशत्यक्षराया गायत्र्याः तद्वर्णितदेवतायाश्च मुख्यं स्थानम् । एवं च सति यदा उद्यन् सविता तद्रेखास्थानमाप्नोति, अर्थात् पृथिवीतलस्थस्य प्राणिनो दर्शनयोग्यो भवति, तादृशस्सवितुश्चतुर्विंशत्यक्षरनिबद्धया गायत्र्या वर्णनं भवति । तथा चेयं पूर्णाक्षरगायत्री छन्दस्का ऋक्—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तं न आ सुव ॥

अस्यामृचि 'देव, सवितः' इति द्वे सम्बोधनपदे, 'परासुव, आसुव' इति मध्यमपुरुषस्थे क्रियापदे । सम्बोधनमध्यमपुरुषयोः प्रयोगो तदैव भवति, यदा सम्बोध्यमाना प्रार्थ्यमाना च देवता प्रत्यक्षा स्यात् । अत एव दर्शनयोग्यसवितृदेवताके चतुर्विंशत्यक्षरछन्दस्के मन्त्रे सम्बोधनपदयोर्मध्यमपुरुषस्थक्रियापदयोश्च निबन्धनं युक्तं भवति । अपि चास्मिन् मन्त्रे प्रयुक्तं सवितृपदं 'षूप्रेरणे' इत्यस्माद् धातोरेव व्युत्पन्नम्, इत्यासुव-परासुव-पदाभ्यां विस्पष्टम् । अस्मिन् मन्त्रे स्तुतः सविता अनुद्भूतरश्मिः केवलं प्रेरक एव भवति ।

अधुनाऽन्या ऋगुदाह्रियते । इयमृग् वैदिकेषु गायत्रीति वा सावित्रीति वा गुरुमन्त्र इति वा रूपेण प्रसिद्धा वर्तते । तस्या अयं पाठः—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

अस्या ऋचः प्रथमे पादे सप्ताक्षराणि, द्वितीयतृतीयपादयोश्चाष्टावष्टौ । एवमियमेकाक्षरहीना त्रयोविंशत्यक्षरा गायत्रीछन्दस्का ऋक् । अस्यामृचि सवितैव वर्ण्यते स्तूयते प्रार्थ्यते च । परन्तु किमवस्थः सविताऽत्र स्तूयत इत्येकाक्षरहीनेन छन्दसा विव्रियते । एकाक्षरहीनाया गायत्र्याः स्थानं चतुर्विंशत्यक्षरगायत्र्या अधस्ताद् वर्तते, इत्युक्तं पुरस्तात् । एवं चानयैकाक्षरहीनया गायत्र्या तादृक् सविता वर्ण्यते, यः सम्प्रत्युदयभावमप्राप्तः । अत एव च सोऽस्मदादीनामप्रत्यक्षः । अस्यामृचि यानि पदानि प्रयुक्तानि तान्यपि सवितुः परोक्षभावमेव व्यञ्जयन्ति । यथा—प्रथमं 'तत्' पदं सवितुः परोक्षभावमेव

प्रकटयति । 'वरेण्यम्' पदमपि तस्य भर्गस्य वरणीयतामेव द्योतयति । प्रत्यक्षीभूतस्य सवितुर्भर्गस्तेजो न सर्वदा वरणीयो भवति। तेनास्य मन्त्रस्यायं भावः—वयं परोक्षभूतस्य सवितुर्यद् वरणीयं तेजो वर्तते, तद् धीमहि । एतादृशो ध्यानेन प्रत्यक्षीभूतः सविता अस्मदीया बुद्धीः शुभकर्मसु प्रेरयेत् ।

शास्त्रकाराः 'तत्सवितुः' इत्यस्या ऋचो जपकाल आसूर्योदयाद् इत्येव मन्यन्ते । एतस्य विशिष्टकालस्योपपत्तिरपि एतस्या एकाक्षरहीनतयैवोपपद्यते ।

एवम् अस्मिन् निबन्धे मन्त्राणामाधिदैविकार्थविज्ञाने छन्दसां यत् साहाय्यम्, यथा च तल्लभ्यते इति यथामति विवेचितम् । मन्त्रार्थोपयोगिषु वेदाङ्गेषु परिगणितेन छन्दःशास्त्रेणापि कथंचिद् मन्त्रार्थोपयोगिना भाव्यम् इति चिन्तायां मया या काचिद् दृष्टिरुपलब्धा सा तत्रभवतां विदुषां पुरस्ताद् उपन्यस्ता । उत्तरसप्तकैश्छन्दोभिः कथं मन्त्रार्थविज्ञाने साहाय्यं शक्यते लब्धुम्, इत्यत्र मया नाद्ययावत् कश्चिन्मार्गो लब्धः । वस्तुतः छन्दांसि मन्त्रार्थविज्ञाने उपकारीणि सन्ति नवेति चिन्तनप्रवर्तमानायैवाहं दुःसाहसं कृतवान् । प्रवृत्ते च चिन्तने 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इति न्यायेन कदाचित् तत्त्वनिर्णयोऽप्येतस्मिन् विषये भवितेत्येवाहमाशासे ॥

—:०:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित
कतिपय वैदिक ग्रन्थ

१. ऋग्वेदभाष्य—(संस्कृत हिन्दी व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ३०-००, द्वितीयभाग २५-००, तृतीयभाग ३०-००।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत विवरण। प्रथम भाग अप्राप्य है। (द्वितीय भाग) मूल्य २०-००

३. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथ वेदोपाध्यायकृत। बीसवां काण्ड—अजिल्द १२-००, सजिल्द १५-००। १८-१९वां काण्ड—१६-००।

४. गोपथ ब्राह्मण (मूल) शुद्ध संस्करण। यन्त्रस्थ

५. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण २०-००

६. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। विशिष्ट संस्करण मूल्य ३०-००।

७. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कटमाधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि ८ विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री पं० विजयपाल जी। मूल्य २०-००; राज सं० ३०-००।

८. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) ४-००

९. संस्कारविधि—शताब्दी-संस्करण, ४६० पृष्ठ सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र—१०-००, राज-संस्करण १२-००। सस्ता संस्करण मू० ४-००, सजिल्द ५-००।

१०. मीमांसा-शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या सहित। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग मूल्य ३०-००, राजसंस्करण ४०-०० अप्राप्य; द्वितीय भाग २४-००, राजसंस्करण ३२-००। तृतीय भाग यन्त्रस्थ

११. सत्यार्थप्रकाश (आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)—राज-संस्करण, १३ परिशिष्ट ३५०० टिप्पणियां, तथा सन् १८७५ संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित। मूल्य ३०-००, सस्ता संस्करण २४-००, लघु आकार में ११ परिशिष्टों सहित १२-००।

१२. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह—ऋषि दयानन्द कृत १४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। लागतमात्र २०-००।

—पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)